हिन्दी कथा-साहित्य में इतिहास

डॉ० लक्ष्मीनारायण गर्ग

अभिनव भारती प्रकाशन
२ सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद—२११००३

आशा को,

जिसके त्याग स्नेह एवं सहयोग

से यह कार्य सम्पन्न हुआ

और

अनुभूति को भी,

जिसके आगमन के साथ ही

एक सुखद अनुभूति हुई

पीठिका

यद्यपि साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा उपन्यास-नामक विधा बहुत बाद में जन्मी, आज सब विधाओं को पीछे छोड़कर बहुत आगे निकल गई है। यह प्रमुख रूप से तो उपन्यास के स्वरूप का ही परिणाम है किन्तु बदलते हुए समय और परिस्थितियों का भी उसमें प्रमुख हाथ रहा है। हिन्दी साहित्य में हुए शोध कार्य का सिंहावलोकन करने से पता चलता है कि जहाँ एक ओर कविता, नाटक, आलोचना आदि विषयों पर पर्याप्त रूप से शोध कार्य हुआ वहाँ दूसरी ओर उपन्यास का क्षेत्र इस दृष्टि से पिछड़ा हुआ रहा जिसमें ऐतिहासिक उपन्यासों की दृष्टि से तो यह क्षेत्र अभाव ग्रस्त रहा। ऐसी स्थिति में प्रारम्भ में उपन्यास का अन्य विधाओं से पर्याप्त पिछड़े हुए रहना स्वाभाविक था। किन्तु आज स्थिति सर्वथा विपरीत हो गई है, हिन्दी में उपन्यास दूसरी विधाओं से कहीं अधिक प्रगति कर गया है जिसका श्रेय, जैसा कि ऊपर कहा गया है, स्वयं 'उपन्यास' को है, उसके स्वरूप को है। अपने बहुरूपिया स्वभाव के कारण सभी विधाओं से समझौता कर लेने के कारण, इतिहास, धर्म, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति, विज्ञान और दर्शन तक को अपने आप में समाहित करने की क्षमता से युक्त होने के कारण तथा जन जीवन और जगत के यथार्थ चित्र उपस्थित करने में समर्थ होने के कारण ही उपन्यास आज इतना लोकप्रिय हो गया है। सम्भवतः इसीलिए आज न तो इतने रूपक और न महाकाव्य लिखे जाते है और न पढ़े ही जाते हैं। फ्रांन नोरिस का कथन है 'आज का युग उपन्यास का युग है। आज के पूर्व ऐसा कोई साधन नहीं था समसामयिक जीवन को अभिव्यक्ति प्रदान करने का जितना कि आज उपन्यास है। हमारी सभ्यता को पुनर्जीवित करने के लिए तथा हमारे मानसिक गठन को समझने के लिए बाईसवीं सदी का आलोचक चित्रकार, शिल्पकार या नाटककार का नहीं उपन्यासकार का मुख जोहेगा। उपन्यास की सामर्थ्य का अनुमान उपर्युक्त पंक्तियों से लगता है। यही कारण है कि

आज के युग में अन्य सभी विधाओं की तुलना में उपन्यास सर्वाधिक लोकप्रिय हो चला है बावजूद इसके कि उसकी धारा भी समय-समय पर स्थूल से सूक्ष्म की ओर समाज से व्यक्ति की ओर आदर्श से यथार्थ और दर्शन एवं चिन्तन की ओर प्रभावित हुई है। उपन्यास की लोकप्रियता को सीमित तौर पर ही सही प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में आँकड़ों के माध्यम से प्रमाणित किया गया है।

प्रायः देखने में आया है कि कथा साहित्य सम्बन्धी अब तक प्रकाश में आए शोध प्रबन्धों में इतिहास को आधार बनाया गया है अवश्य किन्तु स्वतन्त्र रूप से इतिहास की व्याख्या, उसके सम्बन्ध मे विभिन्न मत, इतिहास की बदलती हुई मान्यताओं और उसके सच्चे स्वरूप पर प्रकाश डालने की चेष्टा नही की गई है। यद्यपि इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता तथापि मेरा अनुमान है कि कथा साहित्य या उपन्यासों का विवेचन करते समय इतिहास की उपेक्षा के कारण ही ऐसा हुआ है जब कि कथा साहित्य या उपन्यासों का विवेचन इतिहास के संदर्भ में करते समय यह आवश्यक है कि इतिहास को भी आवश्यकतानुसार उतना ही स्थान दिया जाए। इस बात को ध्यान में रखते हुए हमने प्रथम अध्याय 'विषय प्रवेश' के अन्तर्गत इतिहास के उपर्युक्त उल्लिखित सभी पहलुओं पर किंचित विस्तार से विचार किया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में उपन्यास और इतिहास के आनुपातिक महत्व का विवेचन ऐतिहासिक उपन्यास को उपन्यास और इतिहास के बीच की कड़ी के रूप में प्रस्तुत करते हुए 'उपन्यास इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास' शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है तथा अध्याय के अन्त में उपन्यास और इतिहास के 'व्यावहारिक महत्व' को सिद्ध करने का प्रयास हुआ है। उपन्यास और इतिहास दोनों ही 'लोक मंगल' के प्रतिष्ठापन में योगदान देते हैं, इस बात को उपन्यास और इतिहास से उदाहरण देकर सिद्ध किया गया है। यदि मैं यह कहूँ कि यह मेरा अपना नवीन और मौलिक दृष्टिकोण है तो कदाचित् गलत नही होगा।

अधिकारिक विषय के विवेचन के साथ ज्ञान की कोई अन्य शाखा सम्बद्ध न हो तब तो ठीक ही है किन्तु यदि मूल विषय के साथ कोई अन्य ज्ञान की शाखा जैसे अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र, समाज शास्त्र, इतिहास आदि सम्बद्ध हो तो यह उचित ही नही अनिवार्य हो जाता है कि तथा कथित सम्बद्ध ज्ञान की शाखा की उस काल की विकास कथा का विवेचन

भी किया जाए जो अधिकारिक विषय के विवेचन के लिए निर्धारित किया गया हो। किन्तु अब तक उपलब्ध होने वाले ग्रन्थ शोध पूर्ण है अथवा गैर शोध पूर्ण किसी मे भी ऐसा प्रयास देखने को नही मिलता। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध 'हिन्दी कथा-साहित्य में इतिहास' के अन्तर्गत चूँकि कथा-साहित्य के साथ ज्ञान की एक अन्य शाखा 'इतिहास' भी सम्बद्ध है अतः दूसरे अध्याय में निर्धारित काल को दृष्टिगत करते हुए हमने भारतवर्ष की सन् 1857 से सन् 1960 तक की ऐतिहासिक गतिविधियों का विवेचन भी किञ्चित विस्तार से किया है। ऐसा करने का एक कारण यह भी है कि कथा साहित्य मे उपलब्ध होने वाले इतिहास की सत्यता की जाँच हो सके तथा इतिहास की कौन-सी घटनाओं को कथा साहित्य ने अधिक ग्रहण किया है आदि बातो पर विवेचन के समय ध्यान दिया जा सके। उपर्युक्त उल्लिखित काल की ऐतिहासिक घटनाओं का विवेचन, ऐतिहासिक गतिविधियो को चार भागों में विभाजित करके प्रस्तुत किया गया है। क्रान्तिकारियों और आतकवादियों का साध्य एक होते हुए भी चूँकि उनके साधन अलग-अलग थे अतः भारतीय क्रान्तिकारियों के इतिहास का भी पृथक् से विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध सात अध्यायों मे विभक्त है जिनमें से प्रथम दो अध्यायों के सम्बन्ध में ऊपर कहा गया है। कथा साहित्य में इतिहास के विवेचन की दृष्टि से उपन्यासों का अपने ढग से वर्गीकरण भी हमने किया है। तृतीय अध्याय में 'ऐतिहासिक उपन्यास' शीर्षक के अन्तर्गत प्रसाद, राहुल, यशपाल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रांगेय राघव, चतुरसेन शास्त्री, प्रतापनारायण श्रीवास्तव और वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासो का विवेचन इतिहास की दृष्टि से किया गया है।

ऐतिहासिक उपन्यासों मे इतिहास का उपलब्ध होना स्वाभाविक ही है किन्तु हमारा ध्येय विशेष रूप से, ऐसे उपन्यासों और कहानियों में इतिहास को खोज निकालना रहा है जो ऐतिहासिक नही हैं ऐतिहासिक उपन्यासों पर एक अध्याय रखना आवश्यक समझा गया है। ऐतिहासिक उपन्यासों का विवेचन सीमित होते हुए भी मौलिक है, गहन है ऐसा मेरा विश्वास है। प्रायः देखने में आया है कि ऐतिहासिक उपन्यासों पर जो सामग्री (फिर चाहे वह 'शोधपूर्ण' शीर्षक के अन्तर्गत ही क्यों न हो) उपलब्ध होती है उसमें उपन्यासों का एकांगी विवेचन ही हुआ है, उपन्यास के आधार पर जो इतिहास उपलब्ध होता है मात्र उसकी चर्चा कर

दी गई है वह भी कहानी कहने के बहाने। यह हमें किंचित खटकने वाली बात लगी और इसी को ध्यान में रखते हुए हमने प्रस्तुत अध्याय में, उपन्यास में उपलब्ध होने वाले इतिहास का तो पूर्ण विवेचन किया ही है साथ ही यदि उसमें परोक्षरूप में आधुनिक इतिहास भी अभिव्यक्त हुआ हैं तो उस पर भी प्रकाश डालने की चेष्टा की है। इतना ही नही, इतिहास से मिलान करके तथा कथित उपन्यासों में उपलब्ध होने वाले इतिहास की सत्यता की भी जाँच की गई है; उपन्यासों में घटनाएँ इतिहासानुमोदित हैं अथवा नही; यदि है तो किस सीमा तक और नहीं है तो उसमें दृष्टिगोचर होने वाली विरोध भी दर्शाया गया है। मुझे जहाँ तक स्मरण है, नाटकों के क्षेत्र में तो इस प्रकार के कुछ प्रयास 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' (डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा) जैसी कृतियो के माध्यम से हुए है किन्तु उपन्यासों के क्षेत्र में ऐसे प्रयास मुझे देखने को नही मिले। तृतीय अध्याय ऐसा ही एक लघु प्रयास है।

चतुर्थ अध्याय में 'इतिहास प्रभावित उपन्यास' शीर्षक के अन्तर्गत भी ठीक वैसा ही प्रयास किया गया है जैसा कि तृतीय अध्याय मे। अन्तर केवल यह है कि उपन्यासो की दूसरी श्रेणी 'इतिहास प्रभावित उपन्यास' के अन्तर्गत प्रसिद्ध उपन्यासकारो के कुछ ऐसे चुने हुए उपन्यासो का अध्ययन किया गया है जो उपन्यास 'ऐतिहासिक' नही है किन्तु फिर भी उनमे भारतीय इतिहास प्रत्यक्ष या परोक्ष अथवा दोनो ही रूपों मे अभिव्यक्त हुआ है। इन उपन्यासों में उपलब्ध होने वाले इतिहास के विवेचन की या उसे खोजने की पद्धति वही रही है जो 'ऐतिहासिक उपन्यास' शीर्षक के अन्तर्गत तृतीय अध्याय में रही है। चतुर्थ अध्याय में प्रेमचन्द, भगवती चरण वर्मा, अज्ञेय, रांगेय राघव, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', अमृतलाल नागर, गुरुदत्त, प्रताप नारायण श्रीवास्तव, सेठ गोविन्ददास, अमृतराय, नागार्जुन, फणीश्वर नाथ रेणु, अनन्त गोपाल शेवड़े, और यशपाल जैसे उपन्यासकारों के चुने हुए उपन्यासों को अध्ययन का आधार बनाया गया है।

पाँचवे अध्याय में 'इतिहास मुक्त उपन्यास' शीर्षक के अन्तर्गत जैनेन्द्र, नरेश मेहता, अश्क, उदयशंकर भट्ट, राजेन्द्र यादव और बलभद्र ठाकुर के उपन्यासों का अध्ययन की तथाकथित पद्धति के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। साहित्यकार कितना ही तटस्थ और उदासीन रहने की चेष्टा करे किन्तु वह अपने युग से प्रभावित अवश्य होता है।

यहाँ तक कि अपने बीते युग के प्रति अपने मोह को भी वह दबा नही पाता। प्रस्तुत अध्याय में कुछ ऐसे ही उपन्यासों के अध्ययन के माध्यम से यह दिखलाने का प्रयास किया है कि इन उपन्यासों की धारा जैसे इतिहास की धारा से बहुत नीचे प्रवाहित हो रही है किन्तु कभी-कभी बीच-बीच में उसमें ज्वार उत्पन्न होता है और उपन्यास की धारा इतिहास का स्पर्श कर ही जाती है। इस प्रकार कुछ उपन्यास इतिहास से मुक्त है तो कुछ मुक्त होते हुए भी इतिहास की छुट-पुट चर्चा करते हैं।

'कथा साहित्य' की सीमा में उपन्यासों के साथ-साथ कहानियाँ भी आ जाती हैं। अत: छठे अध्याय में हिन्दी कहानी के विकास क्रम को दिखलाते हुए कुछ ऐसी ही प्रसिद्ध कहानियों का अध्ययन उसी पद्धति से किया गया है जिस पद्धति से उपन्यासों का विवेचन किया गया है। कहानियों की लघु और सीमित परिधि में इतिहास के प्रवेश का अधिक अवसर नहीं रहता फिर भी कुछ कहानियाँ ऐसी हैं जिन पर इतिहास के चरण चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसी ही कुछ कहानियों का अध्ययन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है। कौशिक, चतुर सेन शास्त्री, भगवती चरण वर्मा, गुलेरी, प्रेमचन्द, अमृतराय, 'उग्र', अज्ञेय, चन्द्र-गुप्त विद्यालंकार, 'अश्क', मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, और मार्कण्डेय की कुछ कहानियों को इस अध्याय में स्थान दिया गया है।

अंतिम अध्याय (उपसंहार) में हमने शोध कार्य की उपलब्धियों पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से यथार्थ और कल्पना (Fact and Fiction) पर विचार करते हुए उपन्यास के कल्पना से यथार्थ की ओर अग्रसर होने की बात कही है, उपन्यास में इतिहास की अभिव्यक्ति के स्वरूप को दर्शाते हुए विभिन्न युगों मे हिन्दी उपन्यास की स्थिति इतिहास के संदर्भ में दर्शायी है। उपन्यास कला और इतिहास पर विचार करते समय यह दिखलाने की चेष्टा भी की है कि उपन्यास कला ने इतिहास के साथ समझौता भले ही किया है किन्तु उसके सम्मुख आत्मसमर्पण कभी नही किया। जहाँ आत्मसमर्पण उपन्यासकार ने किया है वही कला का ह्रास हो गया है। इस प्रकार कलात्मकता को आधार बनाकर उसके प्रकाश में ऐतिहासिक, इतिहास प्रभावित और इतिहास मुक्त उपन्यासों तथा कहानियों को परखा गया है साथ ही कथा साहित्य पर इतिहास के सामान्य प्रभाव को भी दिखलाने की चेष्टा की गई है। 'हिन्दी कथा-साहित्य मे इतिहास' के विवेचन से जो एक अन्य महत्वपूर्ण

निष्कर्ष निकलता है वह यह है कि भले ही इतिहास से सामग्री ग्रहण करने के कारण कथा साहित्य उसका ऋणी है तथापि इतिहास कथा साहित्य का इससे कही अधिक ऋणी है, जिसने अपने प्रयोजन की सार्थकता सिद्ध करते हुए भी 'इतिहास' को अपने आँचल मे सुरक्षित रखा है। आज यदि परिस्थितियों वश भारतीय इतिहास विनष्ट हो जाए तो हिन्दी कथा साहित्य के माध्यम से उनको पुनः रचा जा सकता है।

अंत में, मैं यह विनम्र निवेदन कर दूँ कि मैने इस बात को ध्यान में रखकर कि भारत के आधुनिक इतिहास की अभिव्यक्ति का प्रारम्भ व्यवस्थित रूप में प्रेमचन्द के कथा साहित्य से ही हुआ है (यों भी सही अर्थो में हिन्दी कथा साहित्य का प्रारम्भ हमने प्रेमचन्द से ही माना है) हमने प्रेमचन्द काल से लेकर आधुनिक काल (1960) तक की अवधि को शोध प्रबन्ध की सीमा मे बाँधा है। इस पर्याप्त दीर्घ अवधि मे सैकड़ो उपन्यासों और कहानियों की रचना हुई है और व्यावहारिक दृष्टि से यह सम्भव नही कि सभी कथाकारों या उनके सम्पूर्ण कथा-साहित्य को विवेचन के लिए चुन लिया जाता और फिर अब तक का भारतीय इतिहास तो जितना है वही है उसमें घट-बढ़ का प्रश्न ही नही; ।अतः) जो इतिहास विवेच्य उपन्यासों में अभिव्यक्त हुआ है उसी की चर्चा ले देकर सम्पूर्ण कथा-साहित्य में होती और परिणाम यही निकलता कि विवेचन के समय उस ऐतिहासिक विवरण की अनेक बार आवृत्ति होती। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में कई स्थलों पर ऐसा हुआ भी है। उदाहरण के लिए असहयोग-आन्दोलन की चर्चा 'टेढ़े-मेढे रास्ते' 'इन्दुमती' 'बाबा बटेसर नाथ' में हुई है तो सन् 1942 की अगस्त क्रान्ति का विशद चित्रण नई इमारत (अंचल), इन्दुमती (सेठ गोविन्द दास), बयालिस (प्रतापनारायण श्रीवास्तव), बीज (अमृतराय) और मैला आँचल में हुआ है। किन्तु चूँकि ये अलग-अलग कथाकारों की अलग-अलग रचनाएँ हैं इसलिए यह खटकने वाली बात नही लगती। अतः इस बात को ध्यान में रख कर हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकारों के प्रमुख उपन्यासों और कुछ कहानियों को आधार बनाकर ही उनका इतिहास की दृष्टि से विवेचन किया गया है। जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया प्रायः यह देखने में आया है कि कथा साहित्य के विवेचन के साथ सम्बन्धित उपन्यास की संक्षिप्त कथा कह दी जाती है और विषय को मात्र स्पर्श कर के लेखक या आलोचक

आगे बढ़ जाता है और जहाँ तक ऐतिहासिक उपन्यासों का सम्बन्ध है वहाँ तो केवल उपन्यास के साथ मिला-जुलाकर कुछ संक्षिप्त चर्चा उसके ऐतिहासिक पहलू की कर दी जाती है। अतः ऐतिहासिक आधार निर्बल पड़ जाता है। इस बात को भी ध्यान में रख कर हमने प्रस्तुत प्रबन्ध में उपन्यास या कहानी की कथा वस्तु के विवेचन के समय उसके ऐतिहासिक पहलू को भली प्रकार से उभार कर प्रस्तुत किया है। विवेच्य उपन्यासो मे यदि इतिहास प्राचीन है तो वह कहाँ तक यथार्थ रूप मे अभिव्यक्त हुआ है और कहाँ उसमें कल्पना का समावेश हो गया है तथा साथ मे आधुनिक इतिहास कितना अभिव्यक्त हुआ है आदि का सविस्तार, गहराई के साथ विवेचन किया है तथा इतिहास से उसकी सत्यता को जाँचने का भी प्रयास किया है। वस्तुतः प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को विस्तृत (Extensive) अध्ययन की अपेक्षा गहन (Intensive) अध्ययन मनन चिन्तन और शोध का विनम्र प्रयास ही कहना अधिक संगत होगा।

अन्त में, मैं अपने निर्देशक परम श्रद्धेय, डाक्टर देवराज उपाध्याय, भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय के प्रति कृतज्ञता एव आभार प्रकट करता हूँ जिन्होने न केवल अपना बहुमूल्य समय देकर बल्कि साथ ही असीम स्नेह प्रदान करते हुए अपनी विलक्षण प्रतिभा से मेरा विवेक सम्मत एवं कुशल निर्देशन किया और इसे प्रकाशित करने में भी बड़ी सहायता की।

यह प्रबन्ध जल्दी-जल्दी में प्रकाशित होने के कारण यत्र तत्र त्रुटियाँ सम्भव हो सकती हैं, फिर भी पुराने पत्रकार और अभिनव भारती के संचालक श्री रामेश्वर प्रसाद मेहरोत्रा ने जिस तत्परता से कम समय में सारा काम निपटाया है उसके लिए वह धन्यवाद के पात्र हैं।

लक्ष्मीनारायण गर्ग

अनुक्रम

पहला अध्याय

विषय प्रवेश

(क) शोध का अर्थ

हिन्दी में 'शोध' के कई पर्याय-वाची शब्द मिलते हैं जैसे अन्वेषण, अनुसन्धान, खोज, आदि। किसी भी विषय के गहन अध्ययन के उपरान्त जो तर्कपूर्ण कार्य कारण पर आधारित तथ्यों की उपलब्धि होती है वह शोध (रिसर्च) की संज्ञा की अधिकारिणी है। शोध के लिए अंग्रेजी शब्द 'रिसर्च (Research) उपलब्ध होता है। 'रिसर्च' दो शब्दों के मेल से बना है। Re+search हिन्दी में इसका सामान्य अर्थ हुआ पुनः खोज। आक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार रिसर्च का अर्थ है—'To discover fact by study or investigation" अर्थात विषय के गहन अध्ययन एव पठन के द्वारा तथ्य की उपलब्धि 'शोध' कही जायगी। जैसा कि अभी कहा गया कि अनुसंधान, अन्वेषण एव खोज आदि शब्द 'शोध' के पर्यायवाची हैं किन्तु रिसर्च नामक प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व जितना 'शोध' शब्द करता है उतना उसका एक भी पर्याय नही करता—वस्तुतः 'शोध' शब्द में जहाँ एक ओर खोज, अनुसंधान अर्थ निहित है वहाँ 'शोधन' 'शुद्धीकरण' सम्बन्धी एक अन्य अर्थ भी ध्वनित होता है, कहने का तात्पर्य यह है कि जो भी विषय है उसके अध्ययन, मनन और चिन्तन के उपरान्त जो कार्यकारण पर आधारित अर्थात् वैज्ञानिक (Scientific) उपलब्धियाँ लेखक के मनोमस्तिष्क में प्रतिक्रिया स्वरूप हुईं साहित्यिक रूप में हमारे सन्मुख आयीं उनको कसौटी पर कसना, उनकी सत्यता की परख, उन्हें फिर से निरखना ही वस्तुतः शोधन, अर्थात् विषय का पुनः अन्वेपण (रिसर्च) कहलाएगा।

विभिन्न विषयों में शोधकार्य करने की परम्परा का बीजारोपण किसके द्वारा हुआ कब हुआ इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से कहना असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। और तो और हिन्दी साहित्य में इसका प्रारम्भ सच्चे अर्थों में कब हुआ यह निश्चित कर सकना भी एकाएक कठिन है। फिर भी चूंकि हमें अपने विषय को दृष्टिगत करते हुए एक निष्कर्ष पर पहुँचना है, इसलिए जो कुछ उपलब्ध हो सका उसी के आधार

हिन्दी में शोध की परम्परा

पर 'शोध' के उद्गम की कहानी कहनी सुननी होगी। यो विद्वज्जन समय-समय पर अपने अध्ययन मनन एव चिन्तन के आधार पर उच्चकोटि की ग्रन्थ रचना करते चले आये हैं, एक से एक अनुपम कृति माँ सरस्वती के चरणों में अर्पित करते चले आए हैं, किन्तु ये किसी स्वार्थ मे प्रेरित नही हैं विशुद्ध रूप से 'स्वान्तः सुखाय' भाव से रचित ही कहे जा सकते है। यह तो रही बात उन ग्रन्थों के सम्बन्ध मे जो स्वभाव से विशुद्ध शोध है—अब बारी आती है एक दूसरे प्रकार के शोध ग्रन्थों की, जिन्हे पूर्व नियोजित (Pre-Planned) कहना चाहिए अर्थात् जो इस भावना और विचार से लिखे गये कि ग्रन्थ या प्रबन्ध लिखना है और ऐसा लिखना है जो शोध पूर्ण हो, जिसमे कुछ मौलिक विचारधारा हो। इन्ही को डॉ० उदयभानुसिंह ने 'उपाधिपरक' शोध प्रबन्धों की सज्ञा दी है। ऊपर जो पूर्वनियोजित वाली बात हमने कही है उसका आशय इन्हीं उपाधिपरक शोध प्रबन्धो से है। वस्तुतः शोधकर्त्ता का उद्देश्य पूर्व निर्धारित रहता है कि उसे एक ऐसा प्रबन्ध लिखना है जो शोधपूर्ण हो और उसके सफल लेखन पर शोधकर्त्ता उपाधि ग्रहण कर सके। आधुनिक समय में अधिकांशत. इसी प्रकार के ग्रन्थो की रचना हो रही है।

शोध ग्रन्थों का प्रारम्भ 1918 के आसपास हुआ और उसके सूत्रपात का श्रेय एल० पी० टेसीटरी एवं जे० एन० कार्पेन्टर को है जिन्होने हिन्दी विषयक शोध ग्रन्थ प्रस्तुत किये।[1] हिन्दी मे सर्वप्रथम शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करने का श्रेय श्री बाबूराम सक्सेना को है जिन्होंने 1931 में 'अवधी का विकास' शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया।

इस प्रकार हिन्दी में शोध ग्रन्थों का प्रारम्भ सच्चे अर्थों में 1931 के आसपास हुआ। लगभग पन्द्रह-सोलह वर्ष तक शोध ग्रन्थों की रचना मन्थर गति से होती रही, देश की स्वतन्त्रता के साथ ही मानो शोधकार्य के क्षेत्र में भी नव-जीवन संचार हुआ और शोध कार्य की गति तीव्र हो चली। हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं को आधार बनाकर शोध ग्रन्थों की रचना होने लगी, यहाँ तक कि इन विधाओ की शाखा-प्रशाखा भी 'स्वतन्त्र-शोध' का आधार बनने लगी। उदाहरणार्थ, कविता में भी छायावाद पर अलग तो प्रगतिवाद पर अलग, प्रकृति चित्रण पर अलग तो सांस्कृतिक चेतना आदि पर स्वतन्त्र रूप से कविता का मन्थन किया गया। कथा साहित्य के क्षेत्र में भी प्रेमचन्द के उपन्यासों पर स्वतन्त्र रूप से शोध कार्य किया गया, समूचे कथा साहित्य को मनोविज्ञान की कसौटी पर कसा गया।

---

1. अनुसन्धान का विवेचन : पृष्ठ 96-97 तथा हिन्दी के स्वीकृत शोध प्रबन्ध (प्रथम संस्करण 1959-पृष्ठ 4) डॉ० उदयभानुसिंह।

कहने का तात्पर्य यह है कि इसी प्रकार की प्रतिक्रिया हिन्दी उपन्यासो के क्षेत्र में भी हुई। उपन्यास के क्षेत्र में भी यथार्थवाद, मनोविज्ञान, राष्ट्रीय चेतना आदि को आधार वनाकर शोधकार्य किया गया किन्तु यहाँ हमे कहना यही है कि अपेक्षा कृत अन्य विधाओ के, उपन्यास विधा पर और उपन्यास विधा में भी ऐतिहासिक उपन्यास पर तो शोध कार्य बहुत ही अल्पमात्रा में हुआ है। कारण इसका यही है कि हिन्दी मे अब तक ऐतिहासिक उपन्यासो का अभाव-सा रहा है। (हालाँकि यह बात अब नही है अब 'ऐतिहासिक उपन्यास' उपलब्ध होने लगे हैं।) यहाँ वस्तुत: हमारा विषय ऐतिहासिक उपन्यासों से साम्य रखते हुए भी उससे कुछ भिन्न है, किस प्रकार भिन्न है यह हम आगे स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे—यहाँ सिर्फ कहना यही है कि आज उपन्यास ने अपने अभाव की पूर्ति कर दी है बल्कि यदि यह कहा जाय कि आज उपन्यास नामक विधा, साहित्य सृजन के क्षेत्र में हो रही प्रतिस्पर्द्धा मे अन्य सब विधाओ से अग्रिम है तो अत्युक्ति न होगी। किन्तु जव हम उपन्यास साहित्य के आलोचना क्षेत्र पर (जिसमे ऐतिहासिक उपन्यास भी सम्मिलित है) दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि उपन्यास साहित्य पर विशेष रूप से इतिहास मण्डित उपन्यासो पर तो बिल्कुल नगण्य कार्य हुआ है। मेरे विचार में उपन्यास असन्तुलित रूप से विकसित हुआ है। 'असन्तुलित' से मेरा अभिप्राय यही है कि जहाँ प्रारम्भ मे उपन्यास रचना मन्थरगति से हो रही थी वहाँ विगत कुछ दशको मे उपन्यास ने साहित्य की अन्य सभी विधाओं को पीछे छोड़ दिया है और स्वयं साहित्य की सर्वोत्तम सर्वाधिक लोकप्रिय, सर्वाधिक सशक्त एँव सर्वागीण विधा बन गया है। किन्तु खेद इस बात का है कि आज भी आलोचकों का दृष्टिकोण उपन्यास के प्रति कुछ उदासीन ही रहा है। यों इसके मूल मे कारण कई हो सकते है किन्तु प्रधान कारण यह है कि प्राचीन काल में उपन्यास तथा उपन्यासकार के प्रति जो तिरस्कार की भावना लोगों मे थी, हमारे आलोचको के हृदय में आज भी कही न कही अज्ञात रूप से घर किये है। कुछ तो मियाँ वावले, कुछ खाई भाँग वाली गति उपन्यास की हुई है। कुछ तो उपन्यासो, विशेषकर ऐतिहासिक उपन्यासों का अभाव रहा और कुछ इन आलोचकों की उदासीनता की प्रवृत्ति के कारण आज भी ऐतिहासिक उपन्यासो पर पर्याप्त कार्य का अभाव रहा है।

उपन्यास और शोध कार्य

जो हो, वर्तमान मे, हिन्दी में नाटक, निबन्ध, कविता, कहानी की अपेक्षा उपन्यासो की संख्या ही अधिक है और पढ़े भी सबसे अधिक उपन्यास ही जाते है। (इस सम्बन्ध में प्रमाण अन्यत्र दिए जाएंगे) किन्तु शोध की दृष्टि से उपन्यास का क्षेत्र ही सबसे अधिक निर्धन है। इस सम्बन्ध में यदि हम अब तक किये गये शोध कार्य का सिंहावलोकन करें तो पता चलेगा कि उपन्यास साहित्य के क्षेत्र में विशेष कर ऐति-

हासिक उपन्यासों को लेकर शोध कार्य बहुत ही अल्प मात्रा में हुआ है। डॉ० उदयभानुसिंह ने अपने पुस्तक 'हिन्दी के स्वीकृत शोध प्रबन्ध'[1] में तथा डाक्टर सरनामसिंह शर्मा ने अपनी पुस्तक 'शोध प्रक्रिया एवं विवरणिका'[2] में अब तक किये गये शोध कार्य का जो परिचय दिया है उसके आधार पर हम कुछ आँकड़े प्रस्तुत कर रहे हैं। यद्यपि यह आँकड़े शतप्रतिशत सही नही कहे जा सकते क्योंकि—यह सम्भव नही होता कि सारा विवरण बिना कुछ छूटे प्राप्त हो जाय और सही प्राप्त हो जाय। फिर भी ऐसा करने से मोटे तौर पर एक अनुमान तो लगाया जा सकता है—जिससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि वास्तव में हिन्दी उपन्यास इतना समृद्ध होते हुए भी शोध की दृष्टि से शोचनीय अवस्था में ही है। डा० उदयभानुसिंह की पुस्तक में सन् 1918 से लेकर लगभग सन् 1962-63 तक के शोध कार्य का विवरण उपलब्ध होता है जिसके अनुसार शोध कार्य की स्थिति निम्न प्रकार है :—

विभिन्न साहित्यिक विधाएँ और शोधकार्य : आँकड़े एक दृष्टि में

1.	सम्पादन ...	6
2.	भाषा सम्बन्धी अध्ययन ...	55
3.	विशिष्ट साहित्य और रचना (इसमें 5 शोध प्रबन्ध प्रेमचन्द तथा 1 शोध प्रबन्ध वृन्दावनलाल वर्मा सम्बन्धी शामिल है)	116
4.	कविता सामान्य, प्राचीनकालीन, आधुनिक कालीन सामान्य आधुनिक-कुल मिलाकर ...	93
5.	कथा साहित्य ...	18
6.	नाटक ...	18
7.	निबन्ध आलोचना ...	87
8.	गद्य, गद्य शैली, गद्यकाव्य ...	10
9.	इतिहास विकास ...	10
10.	सम्प्रदाय और पन्थ ...	15
11.	समुदाय विशेष ...	14
12.	सामाजिक सांस्कृतिक अध्ययन ...	13
13.	लोक साहित्य लोक संस्कृति लोक तत्व (इसमें 1 शोध प्रबन्ध उपन्यास सम्बन्धी शामिल है) ...	22

1. हिन्दी के स्वीकृत शोध प्रबन्ध : (द्वितीय संस्करण : 1963) डा० उदयभानुसिंह।
2. शोध प्रक्रिया एवं विवरणिका : (प्र० संस्करण : 1964) डा० सरनामसिंह शर्मा।

उपर्युक्त आँकड़ों से दो बातों का पता चलता है एक तो यह कि सन् 1962-63 तक अनुमानित तौर पर कुल मिलाकर उपन्यासों पर या कथा साहित्य पर 31 शोध प्रबन्ध सामने आए। दूसरे यह कि समूचे शोध कार्य को दृष्टिगत करने से पता चलता है कि अनुपात की दृष्टि से (कथासाहित्य की समृद्धि को ध्यान मे रखते हुए) उपन्यास का क्षेत्र सूना ही रहा है।

यह तो हुई बात सम्पूर्ण शोध कार्य की। अन्य विधाओं को छोड़कर केवल उपन्यास के क्षेत्र में किया गया शोध कार्य अपर्याप्त है। (इसमें भी ऐतिहासिक उपन्यासो की बात ही छोड़िए क्योंकि ऐतिहासिक उपन्यासों को आधार बनाकर लिखे गए शोध प्रबन्धों की गणना तो अगुलियों पर की जा सकती है।)

कथा साहित्य के क्षेत्र में उपन्यासो को आधार बनाकर किए गए शोध कार्यों में-प्रेमचन्द के सामाजिक विचार, जीवन दर्शन उनकी कला, उनकी औपन्यासिक प्रवृतियों तथा उनके नारी चित्रण, को स्थान मिला है तो कथा साहित्य का मनोविज्ञान के सन्दर्भ में विवेचन, नायक-नायिका या नारी परिकल्पना, चरित्र चित्रण तथा शिल्प-विधि का विकास प्रेमचन्द के पूर्व का उपन्यास साहित्य प्रेमचन्द के बाद का उपन्यास साहित्य, हिन्दी उपन्यासो में लोक तन्त्र का भी विवेचन हुआ है। हिन्दी उपन्यासो पर पाश्चात्य प्रभाव, आंग्ल, रूसी, फ्रान्सीसी प्रभाव, मराठी, गुजराती, मलयालम के उपन्यासो के साथ तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से भी शोध कार्य हो चुका है। डॉ० उदयभानु सिंह की पुस्तक से उपलब्ध विवरण के अतिरिक्त डॉ० सरनाम सिह शर्मा की पुस्तक 'शोध प्रक्रिया एवं विवरणिका' में जो, स्वीकृत शोध प्रबन्धो का विवरण दिया है उसके अनुसार कुछ और नये विषयों पर भी काम हो चुका है जैसे हिन्दी उपन्यासों के चरित्रों के प्रकार और उनका विकास, हिन्दी उपन्यासों में नायक की परिकल्पना। चतुरसेन शास्त्री जी के कथा साहित्य को लेकर किए गए शोध कार्यों का भी उल्लेख इस विवरण में किया गया है। अतः इस दृष्टि से इतिहास या ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में कुछ योगदान केवल आचार्य शास्त्री जी पर किए गए कार्य

से हुआ है किन्तु वह भी व्यक्ति विशेष तक ही सीमित होने से स्वय भी सीमित ही है[1]। इन सब आँकड़ों को दर्शाने और शोध कार्य सम्बन्धी स्थिति को बतलाने का उद्देश्य मात्र इतना ही है कि इतिहास की दृष्टि से कथा साहित्य पर शोध कार्य की अभी वहुत आवश्यकता है।

ऐतिहासिक उपन्यास और शोध कार्य

यों तो इन सभी विषयो पर लिखे गए शोध एवं-प्रबन्धों में किसी सीमा तक हिन्दी के सभी प्रकार के उपन्यासो की, फिर चाहे वे ऐतिहासिक हो अथवा सामाजिक, व्यक्तिवादी हो अथवा मनोविश्लेषणवादी, चर्चा मिल जाएगी किन्तु ऐतिहासिक उपन्यासो पर स्वतन्त्र रूप से कार्य तो और भी अल्पमात्र मे हुआ है। वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों पर तथा चतुरसेन शास्त्री अथवा राहुलजी पर कथाकार विशेष को प्रधानता देते हुए शोध कार्य किया गया हो यह तो ठीक है किन्तु सम्पूर्ण रूप से ऐनिहासिक उपन्यासो पर कार्य का अभी अभाव है। ऐतिहासिक उपन्यासों पर स्वतन्त्र रूप से अध्याय भी अनेक शोध प्रबन्धों में मिल ही जाएँगे। यही नहीं हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों के आलोचनात्मक अध्ययन के रूप मे भी शोध कार्य हुआ है किन्तु यह कार्य नगण्य प्राय: ही है। समग्र रूप से इतिहास को महत्व प्रदान अभी नही किया गया है जिसकी मेरे विचार से नितान्त आवश्यकता है। इस दृष्टि से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मौलिक प्रयास है जिसमें उपन्यासों को नवीन ढंग से वर्गीकृत करते हुए यद्यपि हमने महत्व तो उपन्यासों को दिया है तथापि इतिहास की तुलना में यह महत्व गौण बनकर रहा है। सच तो यही है कि हमने महत्व इतिहास को ही दिया है उपन्यास को नही, यह बात अलग है कि इतिहास की अभिव्यक्ति ऐतिहासिक उपन्यासो में ही प्रगाढ़ हुई हो अथवा उन उपन्यासो में जो ऐतिहासिक नही हैं। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में जिस दृष्टि से कथा साहित्य को आधार बनाया गया है वह परम्परा मुक्त एवं सर्वथा भिन्न है। जो उपन्यास और कहानियाँ ऐतिहासिक नही भी हैं उनमें भी इतिहास की प्रगाढ अभिव्यक्ति हुई है। इसी रूप में उपलब्ध होने वाले इतिहास का कथा साहित्य के माध्यम से अध्ययन करना हमारा प्रमुख उद्देश्य है। इस प्रकार प्रस्तुत शोध प्रबन्ध अपने उद्देश्य की पूर्ति करते हुए यह देखने का प्रयास करता है कि भारतीय हिन्दी-कथा साहित्य के लिए किस सीमा तक सामग्री प्रदान कर सका है।

---

1. शोध प्रक्रिया और विवरणिका : डॉ० सरनामसिंह शर्मा (प्रथम संस्करण 1964 पृष्ठ 172, 177।

अस्तु, यह स्पष्ट ही है कि हिन्दी के उपन्यास ही विशेष रूप से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के उपजीव्य रहे है इन उपन्यासों का वर्गीकरण विषयानुरूप अपने ढंग से किया गया है जिसके सम्बन्ध में प्रसंगानुकूल चर्चा होगी पहले यहाँ एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू पर विचार करना आवश्यक है और वह है उपन्यास की विभिन्न परिभाषाओं के साथ उसके स्वरूप एवं विकास की चर्चा—क्योंकि इस चर्चा का हमारे मूल विषय से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(ख) उपन्यास : स्वरूप

उपन्यास अर्थात् Novel को समझने से पूर्व उसके जन्म की कथा कहने वाले दो शब्दों को समझ लेना अनिवार्य प्रतीत होता है। ये शब्द हैं—रोमान्स और फिक्शन। रोमान्स शत-प्रतिशत कल्पना है, ऐसी कल्पना जो न तो आज तक साकार हुई है न आगे कभी होगी। किन्तु फिक्शन (Fiction) कल्पना का वह रूप है जिसके साकार होने की सम्भावना हो सकती है। उसके अन्तर की कल्पना बेजा नही है जिसके साकार होने की सम्भावना को हमारी बुद्धि और मन दोनों का समर्थन प्राप्त होता है। देशकाल और परिस्थिति के अनुसार मान्यताएँ बदलती हैं। यह कथन उपन्यास के सम्बन्ध में भी लागू होता है। आज उपन्यास अर्थात् Novel जीवन के यथार्थ चित्रण से सम्बद्ध हे किन्तु चूँकि कल्पना, स्वाभाविक कल्पना उस यथार्थ के साथ घुली-मिली रहती है अतः उसके इस रूप को कथा साहित्य (Fiction) की संज्ञा मिली है। आधुनिक साहित्य में फिक्शन (Fiction) से तात्पर्य 'उपन्यास' से ही लिया जाता है। अस्तु क्या तो हिन्दी के साहित्यकारों ने और क्या अंग्रेजी साहित्यकारों ने उपन्यास की भिन्न-भिन्न परिभाषाएं प्रस्तुत की है जिनमें साम्य से अधिक वैषम्य दृष्टिगोचर होता है। जहाँ एक ओर प्रेमचन्द उपन्यास को 'मानव चरित्र का चित्र मात्र' मानते है[1] वहाँ डॉ० श्यामसुन्दर दास उपन्यास को 'मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा' मानते हैं।[2] इन दोनो परिभाषाओं पर ध्यान देने से स्पष्ट पता चलता है कि 'मानव' उपन्यास की अनिवार्य एवं महत्वपूर्ण इकाई है। इसी प्रकार मानव चरित्र का चित्र और 'वास्तविक जीवन' भी देखा जाए तो बहुत साम्य रखते है। अन्तर इतना ही है कि श्यामसुन्दर दास ने प्रेमचन्द्र जी की अपेक्षा अधिक स्पष्ट एवं निश्चित व्याख्या प्रस्तुत की है जिसमें सम्भवतः उन्होंने यही कहना चाहा है कि उपन्यास की कथा यथार्थ के आँचल से ही चुनी जानी चाहिए। उस कथा का सम्बन्ध हाड़-मांस के चलते-फिरते

1. प्रेमचन्द : कुछ विचार : (पृष्ठ 38)
2. साहित्यालोचन : श्यामसुन्दरदास : (पृष्ठ 180)

मनुष्य के जीवन से होना अनिवार्य है, हाँ, उसका चित्रण कल्पना की कूंची से हो सकता है। प्रेमचन्द ने यह बात इतने स्पष्ट ढग से नही कही है, वे चरित्र के 'चित्र' द्वारा जहाँ यथार्थ का बन्धन लगा देते है वहाँ उसी क्षण कल्पना के समावेश की रियायत लगा देते हैं कदाचित् उनका मन ज्ञात अज्ञात रूप से यह जानता था कि आखिर चित्र ही तो है और चित्र बिना कल्पना का सहारा लिए प्रस्तुत नही किया जा सकता। यहाँ एक बात ध्यान रखनी चाहिए कि प्रेमचन्द का तात्पर्य चित्र से ही रहा होगा 'प्रतिबिम्ब' से नही। गुलाबराय जी के अनुसार 'उपन्यास वह गद्य कथा है जिसमें विशेष कौशल से कौतूहल उत्पन्न करके कोई ऐसी सत्य या कल्पित कथा कही जाती है जिससे मनोविनोद होता है या किसी विषय या नीति का परिचय और प्रचार किया जाता है'। इस प्रकार गुलाबराय जी ने, जहाँ तक यथार्थ और काल्पनिकता का प्रश्न है प्रेमचन्द और श्यामसुन्दर दास दोनो के ही मत को आत्मसात कर लिया है तथा उसमें कौतूहल की बात कह कर 'शैली' को उपन्यास का महत्व पूर्ण अग स्वीकार किया हैं। जी० जे० शिपले के अनुसार 'उपन्यास एक लम्बे आकार की कथा है जिसमें यथार्थ जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रो एवं उनके क्रियाकलापो का चित्रण होता है'[1] फ्रांसिस बेकन, जहाँ उपन्यास को कल्पित इतिहास (Fergned History) मानते है वहाँ फील्डिग उसे मनोरंजन से पूर्ण गद्यात्मक महाकाव्य (A Comic Apic in prose) मानते है तो ली ओनेल स्टीवैन्सन, उपन्यास को दीर्घकार काल्पनिक गद्य कथा मानते है।[2] जैसा कि हमने ऊपर कहा है, उपन्यास के सम्बन्ध मे भिन्न भिन्न विद्वान। के भिन्न-भिन्न मत है किन्तु इतना तो अवश्य है कि वे सभी उसके आधारभूत तत्वों अथवा आधारभूत लक्षणो के सम्बन्ध में एक मत है और ये आधारभूत तत्व हैं—(1) मानव, (2) मानव जीवन और (3) उसका, चित्रण—हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में मनोविज्ञान के एकमात्र ख्याति प्राप्त आलोचक डॉ० देवराज उपाध्याय भी जिनकी उपन्यास की परिभाषा उपर्युक्त दी गयी परिभाषाओं से कुछ पृथक पड़ती है, मानव, मानव-जीवन और उसकी अभिव्यक्ति को उपन्यास का लक्षण मानते है। हाँ, इतना अवश्य है कि वे मानव के बाह्य जीवन से उसके आन्तरिक जीवन को अधिक प्रधानता देते हैं।[3] इसी अर्थ में डॉ० उपाध्याय द्वारा दी गयी उपन्यास की परिभाषा अन्य परि-

---

1. The Quest of Literature (G. J. Shipley : P. 354)
2. English novel : A Penorama (Lionel stevenson) P. 6.
3. "……अर्थात् एक ऐसी कला की आवश्यकता थी जो सम्पूर्ण मानव को दिखा सके विशेषत: उसके आन्तरिक जीवन को उपन्यास कला सत्य (Reality) के इस पहलू को मानव के आन्तरिक जीवन को स्पष्टतया

भाषाओं से किंचित भिन्न है। यह परिभाषा आधुनिक उपन्यास के स्वरूप पर अधिक प्रकाश डालती है तथा अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक है। इसका कारण यही है कि आज उपन्यास स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होते हुए मानव के अन्तर्मन की गहराइयों को स्पर्श करने का प्रयास कर रहा है। अत: डॉ० उपाध्याय ने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हुए आधुनिक उपन्यास की प्रवृति को दृष्टिगत करते हुए ही उपन्यास की परिभाषा दी है।

अस्तु, उपन्यास की परिभाषाओ अथवा लक्षणों में आधारभूत तत्वों की समानता होने पर भी जो वैविध्य दृष्टिगोचर होता है उसका प्रधान कारण यह है कि उपन्यास का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है और इस क्षेत्र विस्तार के कारण उपन्यास विविधतापूर्ण हो गया है यही कारण है कि उसका स्वरूप भी विविधता से रहित नही है। स्पष्ट है कि उपन्यास के स्वरूप में एकरूपता की झलक न मिल सकने का प्रधान कारण 'उपन्यास' के स्वरूप का 'बहुरूपिया' होना है। उसका कोई निश्चित एव निर्धारित आकार प्रकार नही है। चूँकि मानव-जीवन सागर के समान विस्तृत है अत: उपन्यास भी उस विस्तृत क्षेत्र में स्वच्छन्द होकर विचरण करता है।

व्यवहार में, उपन्यास में हमें मानव जीवन की रग-रगीली, भाँति-भाँति की मोहक एव विषमतापूर्ण तो कभी नीरस झाँकियो का प्रतिविम्व दृष्टिगोचर होता है। ये घटनाएँ कल्पना के झीने आवरण मे अवगुण्ठित होकर तो आती है किन्तु स्वभाव मे यथार्थ से मेल खाती हुई है। उपन्यास मानव के उन क्रिया-कलापों और उसके जीवन मे घटित उन्ही घटनाओं का चित्रण होता है जो आज के समाज में रहने वाले व्यक्ति को वे क्रियाकलाप अपने हीं और ये घटनाऍं भी अपने ही जीवन में घटित होने वाली अथवा हो सकने वाली-सी प्रतीत होती है चाहे वह उपन्यासकार की कल्पना की ही उपज क्यो न हों। कहने का तात्पर्य यह है कि वह वातावरण, क्रियाकलाप या घटनाएँ जिनका चित्रण उपन्यासकार अपने उपन्यास मे करता है अथवा जिन पात्रों की सृष्टि वह अपने उपन्यास के लिए करता है वे देश और समाज के आँचल मे घटित हुए भी हो सकते है और उपन्यासकार की मात्र कल्पना की उपज भी। जब वे कल्पना की उपज होते है तो उपन्यासकार उनका इस सावधानी मे निर्माण करता है कि वे पाठक या श्रोता को अस्वाभाविक प्रतीत न हों, बल्कि वह

मूर्तिमान कर देती है जो अन्य कलाओं के लिए असाध्य है। मानव जीवन के अन्तर्तम रूप को समूर्त उपस्थित कर देने की क्षमता ही एक ऐसी रेखा है जो उपन्यास को अन्य साहित्यिक रूप विधाओ से पृथक कर देती है और उसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित करती है।" आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान : डॉ० देवराज उपाध्याय (प्रथम संस्करण-1956 पृष्ठ 16-17)

उनको स्वाभाविक और यथार्थ समझकर उनके प्रति आकर्षित ही हो और उनमें आत्मीयता स्थापित कर सके। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उपन्यासकार घटना, पात्र अथवा वातावरण का संकेत भर समाज से लेता है और उसमें अपनी कल्पना से घट-बढ़ कर लेता है। कुछ आलोचकों का मत है कि प्रेमचन्द के उपन्यास 'रंगभूमि' का सूरदास जिसे समाज के एक अंधे भिखारी के रूप में प्रस्तुत किया गया है यथार्थ में गाँधी के जीवन और सिद्धान्तों की छाया लिए हुए है। स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने एक पात्र का चुनाव कर उसे अपनी कल्पना से सवारा सजाया और महान नेता गाधी के प्रनिनिधि के रूप मे प्रस्तुत कर दिया है। खैर, छोडिए सूरदास को और विचार करके देखिए आचार्य द्विवेदी जी के उपन्यास बाण भट्ट की आत्मकथा के उस पात्र (द्रविड़ साधु) के रेखाचित्र पर जिसे द्विवेदी ने चण्डीदेवी के मन्दिर के पुजारी के रूप में प्रस्तुत किया है।[1] इससे सहज ही यह अनुमान लगता है कि हो न हो उपन्यासकार का समाज में किसी ऐसे ही व्यक्ति से साक्षात्कार हुआ हो और उसमे उलट फेर करके उसका एक सशक्त रेखाचित्र चण्डी मण्डप के पुजारी रूप मे प्रस्तुत कर दिया हो। ऐसे पात्रो की कल्पना अस्वाभाविक नही कही जा सकती। इतने विशाल भू भाग पर ऐसे एक तो क्या अनेक व्यक्ति मिल सकते है। अत: पाठक को ऐसे पात्र की अवतारणा अरुचिकर एव स्वाभाविक प्रतीत नहीं होती। कहने का तात्पर्य यही है कि उपन्यास मे ऐसे ही पात्रों, वातावरण और घटनाओ, को स्थान मिलना चाहिए जो मानव को अपने ही देश, समाज या परिवार मे घटित हुई अथवा घटित हो सकने वाली प्रतीत हो। इस दृष्टि से क्लारा रीव द्वारा अपनी पुस्तक 'प्रोग्रेस आफ रोमास' मे दिया गया उपन्यास सम्बन्धी मत उल्लेखनीय है। उनका कहना है कि उपन्यास की पूर्णता इसी बात मे है कि वह हमारी परिचित वस्तुओ और दृश्यों का चित्रण इस ढंग से करे कि वह सामान्य हो जाय और कम से कम उपन्यास पढते समय पाठक को यथार्थ का भ्रम होने लगे और वह उनके रग में रंग जाए।[2] अत: कहना यही होगा कि

1. बाण भट्ट की आत्म कथा: हजारीप्रसाद द्विवेदी (चतुर्थ उच्छावास पृष्ठ 35)
2. "The Novel gives a familiar relation of such things, as pass every day before our eyes, Such as may happen to our friends or to our selves, and the perfection of it is to present every Scene in so easy and natural manner and to make them appear so probable as to decieve us into persuasion (at least while we are reading) that all is real until we are affected by joy or distress of person in the story as if they were our own" —(The Progress of Romance)
डॉ० प्रतापनारायण टण्डन की पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास में शिल्प विधिका विकास से उद्धृत) पृष्ठ 55-56.

उपन्यास साहित्य की वही विधा है जिसके माध्यम से उपन्यासकार, यथार्थ से आवश्य-कतानुरूप कल्पना के उचित अनुपात के मिश्रण द्वारा, पात्रो एव वातावरण को तथा घटनाओं को इस प्रकार सजो कर रखता है कि उनसे निर्मित कथा पाठक या श्रोता को अपने तथा अपने जैसे अनेक व्यक्तियो की कथा-सी प्रतीत होती है, उसमे समाविष्ट घटनाएँ उसे अपने परिवार या देश मे घटित हुई-सी प्रतीत होती है, उसे ऐसा भान होता है कि उपन्यास मे जिन पात्रो की आवतारणा हुई है उन्हे तो उसने समाज के मध्य देखा है और वातावरण जो उपन्यास मे छाया हुआ है वह भी उसके परिवार अथवा देश में कभी न कभी व्याप्त था, व्याप्त है अथवा व्याप्त हो सकता है। इसी यथार्थ चित्रण के कारण पाठक पात्रों व घटनाओं से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस तादात्म्य की मात्रा, यथार्थ चित्रण किस सीमा तक सफल हुआ है। इस बात पर तथा कुछ सीमा तक पाठक को स्वयं की संवेदनशीलता पर भी निर्भर करती है।

ऊपर विभिन्न विद्वानो के मतो पर विचार करते हुए उपन्यास के स्वरूप पर विचार किया गया। अब आगे हम हिन्दी उपन्यास का विकास दिखलाते हुए यह स्पष्ट करेंगे कि हमारी बढ़ती हुई सामूहिक एव सामाजिक चेतना आदि की अभिव्यक्ति के लिए उपन्यास ही सबसे सुविधाजनक माध्यम हो सकता है, अन्य विधाएँ इस अभिव्यक्ति के लिए अपने स्वभाव और प्रकृति के कारण असमर्थ है। यह कार्य तो उपन्यास ही सुविधाजनक ढ़ंग से कर सकता है।

हिन्दी उपन्यास : क्रमिक विकास

यद्यपि हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भ लाला श्री निवासदास के उपन्यास परीक्षा-गुरु' (1882) से माना जाता है[1] जिसके आसपास 'चन्द्रकांता सन्तति' और 'श्यामा स्वप्न' जैसे कुछ अन्य उपन्यासो की रचना भी हुई किन्तु इन उपन्यासो का ताना-बाना नैतिकता और आदर्शवाद को लेकर बुना गया है इनमे 'उपन्याम' के सही और स्वाभाविक स्वरूप की झलक नही मिलती। इस समय के उपन्यास हिन्दी उपन्यास की विकास यात्रा मे नही आते ; हाँ, उहें यात्रा प्रारम्भ होने के पूर्व की कुछ सरगर्मी माना जा सकता है। इन उपन्यासों को शृखला: मे न रखने के पीछे कदाचित कारण यह रहा कि उपन्यास का सही अर्थो में उपन्यास की संज्ञा पाने के समय जो स्वरूप स्थिर हुआ उस स्वरूप की परिधि में ये प्रारम्भिक उपन्यास नही आते। सच्चे अर्थो मे तो हिन्दी उपन्यास की अवतावरणा प्रेमचन्द की सशक्त लेखनी के माध्यम से हुई। प्रेमचन्द के प्रतिज्ञा, वरदान (1906) और सेवा सदन(1918) मे ही उपन्यास की जीवन यात्रा का प्रारम्भ उचित और स्वाभायिक होगा। प्रेमचन्द के प्रेमाश्रम (1922) रगभूमि (1928)

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्लः पृष्ठ 417

'कर्मभूमि' (1932) और गोदान (1936) हिन्दी कथा साहित्य के आधार स्तम्भ सिद्ध हुए प्रेमचन्द पूर्व के उपन्यासो मे भारतीय जन-जीवन का चित्रण नही दिखाई देता किन्तु प्रेमचन्द के उपन्यासो मे वही चेतना अपने शत-सहस्र रूपो मे गतिमान होती हुई दिखलाई पड़ती है।[1] प्रेमचन्द की शैली और विषय को लेकर उपन्यास के क्षेत्र मे और भी लेखनियाँ अवतारित हुई। प्रसाद, विशम्भरनाथ कौशिक, प्रतापनारायण श्रीवास्तवा रामशरण गुप्त और भगवतीचरण वर्मा ने हिन्दी उपन्यास को और भी अधिक पुष्ट किया किन्तु प्रेमचन्द की आदर्शवादिता इनमे भी बनी रही। वस्तुतः इन उपन्यासकारो ने प्रेमचन्द के पथ का अनुसरण किया।

प्रेमचन्द और उनकी परम्परा के उपन्यासकारो के बाद आगे चलकर उपन्यास के रूप को सवारा यशपाल, जैनेन्द्र इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय की सशक्त लेखनियों ने। इन उपन्यासकारों की प्रवृत्ति स्थूल से सूक्ष्म, समाज से व्यक्ति और आदर्श से चिन्तन व दर्शन की ओर झुकी हुई परिलक्षित होती है। हाँ, जहाँ तक समाज से व्यक्ति की ओर झुकाव का प्रश्न है, वहाँ हम यशपाल को अपने इस कथन मे पूरी तौर पर सम्मिलित नही कर सकते। जैनेन्द्र के 'परख' और 'त्यागपत्र, इलाचन्द्र जोशी के 'निर्वासित' जहाज का पन्छी' तथा अज्ञेय के 'शेखर: एक जीवनी' उपन्यासों के माध्यम से हिन्दी उपन्यास की बदलती हुई प्रवृति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

हिन्दी मे ऐतिहासिक उपन्यासो की एक पृथक परम्परा है जो वृन्दावनलाल वर्मा, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, चतुरसेन शास्त्री, राहुल सांकृत्यान यशपाल, द्विवेदी जी और रांगेय राघव के हाथो पुष्ट होती रही। ऐतिहासिक उपन्यासों का यह पुष्ट रूप माधवजी सिंधिया, वेकसी का मजार, 'सोमनाथ' जययौधेय, दिव्या, बाण भट्ट की आत्म कथा और चीवर जैसे उपन्यासों में उपलब्ध होती है। ऐतिहासिक उपन्यासों का परम्परा का उद्देश्य कलात्मकता कम अपनी परम्परा को सुदृढ़ करना अधिक होता है। वस्तुतः ,ऐतिहासिक उपन्यास' का अपना स्वरूप ही कुछ इस प्रकार का है कि पाठक ऐतिहासिक उपन्यास पर विचार करते समय सामान्य उपन्यास की तुलना में, ऐतिहासिक उपन्यास को अपनी कल्पना मे कुछ विशिष्ट ढंग से परखता है। यदि यह कहें कि दोनों प्रकार के उपन्यासों के प्रति उसका दृष्टिकोण समान नहीं होता बल्कि किसी सीमा तक सामान्य उपन्यास और ऐतिहासिक उपन्यास के मध्य वह पहले से ही विभाजक रेखा खींचकर अलग-अलग मापदण्ड नियतकर देखता, परखता है तो अनुचित न होगा।

---

1. स्वातन्त्रयोत्तर हिन्दी उपन्यास : डॉ० कान्ति वर्मा : पृष्ठ 10

जो हो, इधर हिन्दी उपन्यास, स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कुछ और भी नबीन रूप धारण कर चला है। उपन्यास का यह रूप कलात्मकता के समावेश के कारण निखरा है। यह बात नही है कि इससे पूर्व के उपन्यासो में कलात्मकता थी ही नही या आज के अभी उपन्यास कलात्मक हैं, किन्तु इतना अवश्य है कि उपन्यास साहित्य का जो क्रमशः विकास हुआ है उसे दृष्टिगत करते हुए यह कहा जा सकता है कि हिन्दी उपन्यास का कलात्मक विकास तभी अधिक हो सका जब हिन्दी उपन्यास अपनी विकास यात्रा को जारी रखते हुए नयी दिशा की ओर मुड़ा और जैनेन्द्र, अज्ञेय, फणीश्वरनाथ रेणु नागार्जुन, उदयशंकर भट्ट, नरेश मेहता, राजेन्द्र यादव, लक्ष्मीनारायण लाल, अमृतलाल नागर जैसे उपन्यासकारों ने विकास मार्ग में 'मील के पत्थर' नुमा कुछ उच्चकोटि के उपन्यासों की रचना की। जयवर्धन, मैला आँचल, बाबा बटेसर नाथ, सागर लहरें और मनुष्य, 'बया का घोंसला और साँप' कतिपय उच्च कोटि के उपन्यास है।

हिन्दी उपन्यास और कलात्मकता

यद्यपि हिन्दी उपन्यास अपनी पुरानी लीक का परित्याग कर, कलात्मकता के प्रति आकृष्ट हो चला है तथापि आज भी अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि के कलात्मक उपन्यासो का हिन्दी में अभाव है, आगे चलकर भविष्य में ऐसे उपन्यासो का सृजन होने की सम्भावना तो प्रतीत होती है किन्तु अभी तक यह गौरव हिन्दी उपन्यास को प्राप्त नही हो सका है। सम्भवतः इसका प्रधान कारण यही है कि हिन्दी का उपन्यासकार भारतीय सस्कृति, समाज, राष्ट्र और इतिहास के मोह को तोड़ नही सका है। उसके स्वभाव मे, उसके रक्त में भारतीय संस्कृति और इतिहास के कण इस प्रकार घुल-मिल गये है कि उनका प्रभाव उसके साहित्य में कही न कहीं किसी न किसी रूप में परिलक्षित अवश्य होता है। चाहे वह स्थूल के सूक्ष्म, और समष्टि से व्यष्टि का और प्रवृत होने की चेष्टा करे तो भी उसकी कृतियो के माध्यम से राष्ट्र का इतिहास बोलता है, संस्कृति बोलती है।

कहने का आशय यह है कि उपन्यास सामाजिक हो या ऐतिहासिक मनोविश्लेषणात्मक या व्यक्तिवादी अथवा आंचलिक उसमें अपने राष्ट्र के इतिहास की अभिव्यक्ति किसी न किसी अश में अवश्य होती है। इतिहास की इस अभिव्यक्ति का माध्यम साहित्य की कोई भी विधा हो सकती है। कविता के माध्यम से भी इतिहास की अभिव्यक्ति हो सकती है तो नाटक और कहानी के माध्यम से भी; किन्तु जैसाकि प्रारम्भ मे उपन्यास के स्वरूप से स्पष्ट है। कविता नाटक और कहानी मे इतिहास के लिए उपन्यास की अपेक्षा बहुत कम अवसर रहता है। इसके अतिरिक्त यह भी दृष्टव्य है कि मात्र अभिव्यक्त हो जाने से तो साहित्य का प्रयोजन पूरा नही हो जाता। जब तक उपन्यास की तुलना में ये अन्य विधाएँ भी पाठक को अपनी ओर आकर्षित

न करती और पाठक इस 'अभिव्यक्ति' को ग्रहण नही कर लेता तब तक उसकी सार्थकता सिद्ध नही हो सकती। व्यवहार मे ये ही दो बाते है—एक तो अन्य विधाओं की अपेक्षा उपन्यास सामाजिक, राष्ट्रीय चेतना और इतिहास आदि को सफलतापूर्वक समग्र रूप मे चित्रित करने मे पूर्णरूप से समर्थ है दूसरे, वह अन्य विधाओ की अपेक्षा अत्यधिक लोकप्रिय है जिसका परिणाम यह होता है कि उपन्यास के माध्यम मे होने वाली 'अभिव्यक्ति' सार्थक सिद्ध होती है ।

उपन्यास : अभिव्यक्ति की क्षमता से मण्डित सर्वशक्तिशाली विधा

अनेक विद्वानों का मत है कि उपन्यास में सामाजिक, राष्ट्रीय चेतना, जगत जीवन और इतिहास की अभिव्यक्ति अन्य विधाओ की तुलना मे कही अधिक सशक्त, प्रत्यक्ष एव स्वाभाविक रूप में हो सकती है। डा० एस० एन० गणेशन के अनुसार 'उपन्यासेतर सभी साहित्यिक विधाएँ जीवन के किसी न किसी निश्चित अंश तक सीमित रहने पर ही अपने वैधानिक ऐक्य को सुरक्षित रख सकती है। उनमें जीवन का चतुर्मुखी रूप प्रस्तुत करना उतना सरल नही है जितना कि उपन्यास मे ।[1] कुछ इसी प्रकार की धारणा अन्यत्र भी व्यक्त हुई है। 'कविता और नाटक की अपेक्षा मानव जीवन के चित्रण के लिए उपन्यास का क्षेत्र कही अधिक विस्तृत है।'[2] डा० त्रिभुवनसिह लिखते है··········'इस प्रकार उपन्यास के अन्दर सम-सामयिक राजनैतिक सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का यथार्थ एव व्यापक चित्र उतारना सम्भव हो सका है।'[3] उपन्यास की सामर्थ्य के सम्बन्ध मे ऐसे एक नही अनेक कथन उद्धृत किए जा सकते है। उपन्यासों को देखने से ज्ञात होता है कि जीवन का जितना व्यापक गहन और पूर्ण चित्रण उपन्यास में हो सकता है उतना साहित्य का किसी दूसरी विधा के माध्यम से सम्भव नही। प्रेमचन्दजी का कहना था, 'अगर आपको इतिहास से प्रेम है तो आप उपन्यास मे गहरे से गहरे ऐतिहासिक तत्वो का निरूपण कर सकते है। अगर आपको दर्शन से रुचि है तो आप उपन्यास में महान दार्शनिक तत्वों का विवेचन कर सकते है। अगर आप में कवित्व शक्ति है तो उपन्यास मे उसके लिए भी काफी गुंजाइश है। समाज, नीति, विज्ञान पुरातत्व आदि सभी विषयो के लिए उपन्यास में स्थान है यहाँ लेखक को अपनी कलम का जौहर दिखाने का जितना अवसर मिल सकता है उतना साहित्य के और किसी अंग में नही मिल सकता।[4] आज रूपक क्यों

1. हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : डा० एस० एन० गणेशन (पृष्ठ 51)
2. आलोचना : उपन्यास अंक (सम्पादकीय पृ० 1)
3. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : डा० त्रिभुवनसिह (पृ० 164)
4. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : डा० कांति वर्मा ('प्राक्कथन' से)

नही लिखे जाते, महाकाव्य क्यों नही लिखे जाते ? 'इसीलिए कि उपन्यास के अतिरिक्त जितने साहित्यिक विधान है उनका निवेदन एक ऐसी जनता के प्रति होता है जो कलाकार की भावनाओं, विचारों मान्यताओं तथा अवस्थाओं से सहानुभूति रखती है। .....[1] एक अन्य स्थान पर डा० उपाध्याय कहते है—".......वही तो हम देखना चाहते है कि कौन-सा कार्य है जो उपन्यास ही कर सकता है, उसकी (Quiddity) क्या है। यह मत हिन्दी के प्रतिष्ठित आलोचक डा० देवराज उपाध्याय का है। चित्रपट था टेलिविजन इत्यादि अल्पजीवी है एक-दो घन्टे तक ही इनका जीवन है, ये इतने पर मुखापेक्षी है कि इनके अन्दर स्वतन्त्रता की दीप्ति जगमगा ही नहीं सकती। क्षणभंगुरता के अभिशाप से ग्रसित ये जीवन उपन्यास के दीर्घ जीवन से प्रतिद्वन्द्व कर ही कैसे सकते है ? उनमें एक तरह का विशिष्ट आकर्षण हो सकता है जो हमें अभिभूत कर ले पर ये पुन पुनः पढ़ने की प्रेरणा नही दे सकते और उपन्यास एक ऐसी विधा है जो हम आगे कहने वाले है कि वह पढ़ने से (Read) करने से अधिक पुनः-पुनः (Re-read) करने की वस्तु होता जा रहा है। '... ..' स्पष्ट है कि उपाध्याय जी चित्रपट और टेलिविजन से भी अधिक समर्थ और उपयोगी उपन्यास को मानते है।[2] डॉ० दिनेश लिखते है—"हम निबन्ध या समालोचना द्वारा किसी के मन मे जो भावना या विचार नही बिठा सकते वे उपन्यास की कथा प्रधान शैली मे 'बडी सरलता से बिठा सकते हैं। संसार में विचार क्रान्ति लाने का जितना काम आज उपन्यास साहित्य कर रहा है तथा भविष्य मे कर सकेगा उतना कोई विधा नही कर सकती।[3]... डॉ० रणवीर रांग्रा के शब्दों मे 'जीवन की जटिलता का जैसा सजीव चित्रण उपन्यास में सम्भव हुआ है वैसा काव्य नाटक आदि में न तो किया जाता है और न इसके लिए उनके विधान में कोई स्थान ही होता है... ..।[4] उपन्यास के सम्बन्ध में हिन्दी आलोचकों का ही ऐसा मत हो सो बात नही है। पाश्चात्य आलोचकों ने भी उपन्यास की इस अद्‌भुत सामर्थ्य को एक मत से स्वीकारा है। एक यूरोपियन आलोचक का मत है कि 'उपन्यास में आज की सभी आधुनिक विधाएँ समाहित है जैसे—निबन्ध, साहित्यिक पत्र, संस्मरण, इतिहास, धार्मिक प्रवचन, यात्रा-विवरण, रेखाचित्र, डायरी,

---

1. कथा के तत्व—डा० देवराज उपाध्याय (पृ० 13)
2. मेरी यात्राएँ—डॉ० देवराज उपाध्याय (पृष्ठ 14)
3. हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और विवेचन : डॉ० दिनेश के लेख से उद्धृत (सम्पादित)
4. हिन्दी उपन्यास में चरित्र चित्रण का विकास—डॉ० रणवीर रांग्रा (पृ० 7)

आत्मकथा आदि। इन सबको आत्मसात् करने के बाद भी स्वय सबसे स्वतन्त्र।[1] इसी प्रकार विख्यात औपन्यासिक फ्रांकनोरिस का कथन है कि 'आज का युग उपन्यास का युग है। इससे पूर्व भी समसामयिक जीवन को इतनी पूर्णता के साथ कोई भी साधन अभिव्यक्ति प्रदान नही कर सका जितनी उपन्यास कर सका है। यही नहीं बाईसवी सदी के आलोचक को अधिक परिश्रम से हमारी सभ्यता को पुनर्जीवित करने और हमारे मानसिक गठन को समझने के लिए चित्रकार, शिल्पकार अथवा नाटककार का नही, उपन्यासकार का मुँह जोहना पड़ेगा।[2] वस्तुत: उपन्यास रचना के लिए अभी इस प्रकार के सिद्धान्तो का वन्धन नही है जिस प्रकार का महाकाव्य और नाटक पर है। महाकाव्य में जहाँ एक ओर 'लक्षणों' का निर्वाह करना होता है वहाँ नाटककार को रंगमंच से विधान तथा अभिनय आदि की व्यावहारिकता को भी ध्यान में रखना होता है। कहानी मे जीवन का यथार्थ चित्रण सम्भव होता है किन्तु उसका आकार लघु होता है इसलिए जीवन और जगत की, सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना की, इतिहास की अभिव्यक्ति के लिए अवसर बहुत ही कम रहता है। किन्तु 'उपन्यास' की स्थिति इसके एकदम विपरीत है, वह स्वतन्त्र और स्वच्छन्द है उसका स्वरूप बहुरूपिया है जैसा अवसर देखा वैसा ही रूप धारण कर लेना उसकी अपनी विशेषता है। उसकी लोकप्रियता इतनी अधिक है कि वह सर्वथा मानव जीवन से सम्बद्ध है। उपन्यास की सामर्थ्य के सम्बन्ध में ऊपर विभिन्न विद्वानों के मतों को उद्धृत करते हुए कहा जा चुका है। उपन्यास की लोकप्रियता के भी कुछ वही कारण है जो उसकी 'अभिव्यक्ति' की क्षमता पर प्रकाश डालते है। उपन्यास अपने विस्तृत क्षेत्र लोचपूर्ण प्रकृति और शास्त्रीय नियमों के बन्धन से मुक्त होने के कारण एक असीम पाठक वर्ग की आवश्यकता की पूर्ति करता है। इसीलिए अन्य विधाओं की अपेक्षा वह अधिक लोकप्रिय है।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि क्या वास्तव में उपन्यास, साहित्य की कविता, नाटक, कहानी आदि विधाओं में अधिक लोकप्रिय है ? क्या यह मात्र आलो-

---

1. हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और विवेचन 'पुस्तक में संग्रहित एक लेख से उद्धृत
2. "......Today is the day of novel. In no 'other day and by no other vehicle is contemporareous life so adequately expressed and the critics of the Twenty Second Century. reviving our times strining to reconstruct our civilization will look not to the painters, not to the architects nor dramatists but to the novelists to find our ideosynersy......"

   (American writing in the Twentith Century by Willard Throp – caste and class of the Novel 1920-1950-Ch II.)

उपन्यास की लोकप्रियता : प्रमाण

चकों के कथन तक तो सीमित नहीं है ? तो इसका उत्तर हम यही देंगे कि उपन्यास अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा कही अधिक लोकप्रिय है। इस कथन की सत्यता, हम प्रमाण देकर सिद्ध कर सकते है। उपन्यास की लोकप्रियता के प्रमाण हमे कई प्रकार से से मिल सकते है। जैसे—

(1) विभिन्न पुस्तकालयों में उपलब्ध अन्य विधाओं की कृतियों एवं उपन्यासों की कुल संख्या के आधार पर।

(2) पाठकों द्वारा पुस्तकालयों से अन्य विधाओ की पुस्तकों की तुलना में, पढ़ने के लिए उपन्यासों को जारी करवाने की संख्या की गणना के आधार पर।

(3) पुस्तक विक्रेताओं और प्रकाशकों से साहित्य की सभी विधाओं को पुस्तको की विक्री की कुल संख्या के आधार पर।

(4) अन्य साधनों जैसे विज्ञापनो और प्रकाशकों या साहित्यिक संस्थाओं द्वारा प्रकाशित की जाने वाली पुस्तक सूचियों आदि के आधार पर।

यहाँ हम व्यावहारिक रूप में इस प्रकार के किए गए अपने परीक्षण का परिणाम उपन्यास की लोकप्रियता दर्शाने की दृष्टि से करें तो सम्भवत: असंगत न होगा। उपन्यास की लोकप्रियता को दर्शाने के लिए हम आँकड़े ऊपर दिए गए क्रम से ही प्रस्तुत करेंगे।

उपन्यास को लोकप्रियता :—साक्ष्य के आधार पर "सरस्वती भवन पुस्तकालय उदयपुर" में साहित्य की विभिन्न विधाओं की पुस्तकों सम्बन्धी आँकड़ों की स्थिति दिनांक 10-8-67 को निम्न प्रकार थी।

(1) पुस्तकालय में उपलब्ध पुस्तकों की संख्या।

विधा	विषय हिन्दी	विषय अग्रेजी	विषय उर्दू
(क) नाटक	488	119	11
(ख) उपन्यास	1671	1287	145
(ग) कहानी	758	72	29
(घ) कविता	963	58	29

(2) हिन्दी की विभिन्न विधाओं की पुस्तके पाठको द्वारा कितनी बार पढ़ी गयी।

	नाटक	पुस्तक जितनी बार जारी हुईं	उपन्यास	पुस्तक जितनी बार जारी हुई	कहानी	पुस्तक जितनी बार जारी हुई	कविता	पुस्तक जितनी बार जारी हुई
1.	कामना	7	सोने की ढाल	16	परिवर्तन	6	प्रिय प्रवास	4
2.	जनमेजय का नाग यज्ञ	2	सिंह सेनापति	16	एक खत : एक खुशबू	16	पुष्करिणी	3
3.	विशाख	2	लगन	19	भूमिदान	9	मेधावी	7
4.	हंस मयूर	7	मंगला	23	कलाकार का दण्ड	7	सूर के सौकूट	1
5.	उद्धार	1	ज्वालामुखी	14	दो धारा	3	तारक वध	—
6.	विषपान	3	टेढ़े मेढ़े रास्ते	16	संसार की प्राचीन कहानियाँ	6	हिमकिरीटनी	2
7.	पैंतरे	5	विकृत छाया	17	मंटो मेरा दुश्मन	2	वैदेही वनवास	2
8.	अंजोदीदी	8	उन्मुक्त प्रेम	18	मौली	1	कनुप्रिया	5
9.	विद्रोहिणी अम्बा	1	वैशाली की नगर बधू	12	पान:फूल	2	कागज के फूल	4
					महुए का पेड़	2	संशय की एक रात	2
10.	क्रान्तिकारी	2	दुख मोचन	14	हंसा जाइ अकेला	4	चाँद का मुँह टेढ़ा है	4
11.	पंचजन्य	2	अभिशाप	11	जैनेन्द्र की श्रेष्ठ कहानियाँ	7	सौ वर्ष	—
12.	रातरानी	1	तीन पीढ़ी	11				
13.	ऋतुराज	—	निर्वासित	12	दुखवा मैं कासे कहूँ	2	बुद्ध और नाच घर	2
14.	एक सपना	7	बाण भट्ट की आत्म कथा	23	कहानी लेखिका	1	विनय पत्रिका	3
15.	सम्राट लियर	1	कज्जाक	18	अम्बापुर के वीर	2	कला और बूढ़ा चाँद	3

(3) पुस्तक विक्रेताओ और प्रकाशकों से उपलब्ध सूचना के आधार पर उपन्यास की लोक प्रियता के प्रमाण स्वरूप हम यहाँ एक प्रसिद्ध प्रकाशन से प्राप्त पत्र का अश उद्धृत करते है।

"मान्यवर। आपका पत्र दिनाक 20-5-1966 का प्राप्त हुआ हुआ। सन् 1954 और 1965 के वर्ष में उपन्यास, नाटक, कहानी सग्रह, कविता तथा आलोचना सम्बन्धी पुस्तकों की बिक्री के सम्वन्ध मे आपने जो जानकारी चाही है, उस विषय में बिलकुल सही-सही आकड़े देना तो सम्भव नहीं है। वैसे पुस्तकों की बिक्री सर्वाधिक उपन्यासों की हुई है। उसके बाद कहानी सग्रह का नम्बर आता है और फिर नाटको का।......"

ऊपर दिये गए प्रमाणो, विशेष रूप से प्रमाण सख्या दो से स्पष्ट है कि उपन्यास, जहाँ एक ओर अन्य विधाओ की तुलना मे सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना की मानव जीवन और इतिहास की सशक्त अभिव्यक्ति करने में अत्यधिक समर्थ है वहाँ दूसरी ओर अन्य विधाओं से कही अधिक लोकप्रिय भी है।

उपन्यास के स्वरूप, क्रमिक-विकास, उसकी कलात्मकता एवं लोकप्रियता आदि पर विचार करने के पश्चात् अपने विषय को दृष्टिगत करते हुए यहाँ इतिहास के स्वरूप पर भी विचार कर लेना अनिवार्य प्रतीत होता है। जब हम हिन्दी कथा-साहित्य में इतिहास की अभिव्यक्ति की बात कहना चाहते है तो हमारे लिए यह स्वाभाविक ही है कि पहले हम इतिहास की व्युत्पत्ति एवं विभिन्न परिभाषाओं तथा उसके स्वरूप की विवेचना करते हुए वर्तमान में उसके मान्य अथवा प्रामाणिक स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझ लें तभी हम आश्वस्त हो सकेंगे कि कथा साहित्य में अभिव्यक्ति की दृष्टि से जिसे हम इतिहास की सज्ञा दे रहे है वह वास्तव में, निर्विवाद रूप से विशुद्ध इतिहास है। अस्तु, यहाँ हम विस्तृत रूप से इतिहास की प्रकृति उसके स्वरूप आदि का सिहावलोकन करेंगे।

(ग) इतिहास : व्युत्पत्ति

इतिहास शब्द की व्युत्पत्ति को समझने के लिए सन्धि-विच्छेद की सहायता ली गयी है। सन्धि-विच्छेद इस प्रकार उपलब्ध होता है—इति + ह + आस = इतिहास जिसका अर्थ है 'ऐसा हुआ' अथवा 'यह ऐसा हुआ'। प्रयुक्त वाक्यांश की क्रिया से स्पष्ट है कि जो कुछ भूत में घटित हुआ वह इतिहास है। हिन्दी मे प्रयुक्त होने वाला यह इतिहास शब्द अंगेजी शब्द 'हिस्ट्री' का समानार्थी है और अग्रेजी में 'हिस्ट्री' शब्द की अवतारणा यूनानी शब्द 'हिस्तरी' से मानी जाती है जिसका सर्वप्रथम प्रयोग यूनानी

इतिहासकार हेरोदोतस ने किया। यूनानी भाषा में 'हिस्तरी' का अर्थ है बुनना (Knitting) अतः इस बुनने की क्रिया को आधार बनाकर अतीत की घटनाओं का ताना-बाना बुनने वाली ज्ञान की शाखा को 'हिस्तरी' (हिस्ट्री—इतिहास) की संज्ञा दी गई।[1] किन्तु हैनरी जोनसन के अनुसार, ग्रीक भाषा में हिस्ट्री का मूल अर्थ 'इंक्वायरी' था। इंक्वायरी (पूछताछ) करके अतीत की अवस्थाओं व घटनाओं के व्यवस्थित लेखे को हेरोदोतस ने इंक्वायरी की संज्ञा दी और कालान्तर में यूनानियों ने घटनाओं के तथाकथित व्यवस्थित लेखे को इंक्वायरी के समानार्थी शब्द 'हिस्टरी' या 'हिस्टोरिया' को स्वीकार किया।[2]

इतिहास : स्वरूप एवं विकास

भारतवर्ष में इतिहास शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अथर्ववेद में बतलाया जाता है। प्राचीनकाल में इतिहास के स्वरूप में पर्याप्त अस्थिरता परिलक्षित होती है। जब वीर लोगो के करतब वीर-गाथाओं के रूप में लिखे गए तो गाथाओं को इतिहास कहा गया, और जब ऐसे ही कुछ करतबों का उल्लेख कहानियों में हुआ तो कहानियों या आख्यायिकाओं को इतिहास की संज्ञा दी गयी। जब वीरतापूर्ण कृत्यों का लेखा-जोखा पुराणों में प्रस्तुत किया गया तो पुराण ही इतिहास कहलाए। इतिहास के ऐसे वैविध्यपूर्ण स्वरूप मे गाथाएँ, आख्यायिकाएँ पुराण धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र एक साथ समाहित हो गये। डॉ० रघुवीर ने भी हिस्ट्री का अर्थ 'इतिवृत' दिया है।[3] इतिहास के ऊपर उल्लिखित मिले-जुले रूप के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए गए हैं उनकी पुष्टि डॉ० ताराचन्द ने भी की है। डॉ० ताराचन्द के अनुसार,······"पुराने काल में इतिहास का अर्थ पुराणों की कथाएँ जिनमें तथ्यों की मात्रा थोड़ी और आख्यान का परिमाण अधिक था।······रामायण महाभारत की बातों को पुराणों की कहानियों को इतिहास का नाम दे दिया था। इसमें आज के इतिहास के ढंग से न घटनाओं के काल निर्णय हैं न व्यक्तियों और समूहों के जीवन का क्रमबद्ध वर्णन।······"[4]

प्राचीन काल में प्रत्येक राजवंश अपना पूर्णवृत सुचार रूप से सुरक्षित रखता था। पृथ्वीराज चौहान के काल में महाकवि चन्द द्वारा रचित 'पृथ्वीराज रासो' इसी

---

1. हिन्दी शब्द कोश : नागरी प्रचारिणी सभा (1960) खण्ड I-पृ० 4606.
2. Teaching of History (what is history) By Henry Johnson P. 10-11.
3. Comprehensive English Hindi Dictionary : Dr. Raghuvir.
4. अनुसन्धान की प्रक्रिया (सम्पादित द्वारा डॉ० सावित्री सिन्हा एवं विजयेन्द्र स्नातक) के सम्पादित डॉ० ताराचन्द के लेख इतिहास और साहित्य (पृ० 110)

प्रकार के वृत (पद्यमय) का प्रमाण है। यह वृत सुरक्षित रखने की परम्परा भारतवर्ष में ही रही हो सो बात नही है। अन्य देशो में भी राजा या सम्राट एक इतिहासकार को अपना वृत लिपिबद्ध करने के उद्देश्य से नियुक्त करता था।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि जिन परिस्थितियों मे इतिहास रूप ऐसे वृतो की रचना होती थी उन परिस्थितियों मे इन वृतों का राग द्वेष से ग्रसित होना अवश्यम्भावी था इसी कारण इन वृतों में कल्पना का भी प्राचुर्य है। अतः तत्कालीन समय में भले ही ये इतिहास की सज्ञा पाते रहे हों किन्तु इतिहास के आधुनिक स्वरूप को दृष्टिगत करते हुए इन्हें इतिहास कहना कदापि उचित नही होगा, विशेष रूप से इसलिए भी कि तथाकथित इतिहास को लिखने वाले सच्चे अर्थो में इतिहासकार न थे, वेतन भोगी आश्रयदाता थे, दूसरे यह तथाकथित इतिहास उन शासकों या सम्राटों की प्रेरणा से लिखा जाता था जो स्वार्थ और राग द्वेष आदि से अत्यधिक ग्रसित थे। इतिहास का स्वरूप इतना अधिक लोचपूर्ण एवं अस्थिर रहा इसका एक प्रधान कारण यह भी रहा कि इतिहास की मान्यताएँ देशकाल एवं परिस्थितियो के अनुरूप बदलती रही।

नेपोलियन के समय मे इतिहास लेखन कार्य उपेक्षित रहा हाँ, इतिहास निर्माण कार्य हुआ। इस उपेक्षा का इतिहास के स्वरूप पर प्रभाव पड़ा। नेपोलियन के पतन के बाद फ्रांस में इतिहास को उतना ही रुचि के साथ अपनाया गया जिसके परिणाम स्वरूप इतिहास शुष्कता को त्याग कर सरस साहित्य के निकट आ गया। कार्लाइल 'एकतन्त्र' का समर्थक था अतः उसने 'एकतन्त्र' के अनुरूप इतिहास की व्याख्या करते हुए इतिहास को जन्म सिद्ध नेता या अधिनायक की क्रीड़ा माना है।[2] इसी प्रकार रूस में भी क्रान्ति के पश्चात रूसी इतिहासकारो ने 'इतिहास' पर मार्क्सवादी तत्वों की छाप लगा दी है।

ऊपर हमने इतिहास की प्रकृति या स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है किन्तु इस स्वरूप को यदि हम और भी स्पष्ट तौर पर समझना चाहते हैं तो यह अपेक्षित है

इतिहास : कुछ परिभाषाएँ

कि हम कुछ विद्वानों की दी गयी परिभाषाओं में उनके इतिहास सम्बन्धी विचारों को देखें। इतिहास की एक संक्षिप्त परिभाषा इस प्रकार है—"इतिहास अपने व्यापक अर्थ में मानव के अतीत की गाथा है।"[3] 'राजतरंगिनी' के रचयिता कल्हण के अनुसार, 'इतिहास जहाँ एक ओर अतीत का सुन्दर एवं स्पष्ट प्रतिनिधित्व करता है वहाँ दूसरी ओर

1. इतिहास दर्शन : डॉ० बुद्ध प्रकाश (पृ० 31, 32 संस्करण 1962)
2. इतिहास दर्शन : डॉ० बुद्ध प्रकाश (पृष्ठ 198)
3. Columbia Encyclopedia (Second Edition 1950)

भविष्य में आने वाली पीढ़ियो के लिए शिक्षक का काम करता है।······" स्वर्गीय डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद के अनुसार, "······घटना-वर्णन तो इतिहास नही कहा जा सकता और यदि वह केवल राजाओ और सामन्तो, उनकी बेवकूफियो और व्यसनों, उनके युद्ध और विजयो की ही ऐसी कोरी गाथा हो जिसमे न तो साधारण मानवों के जीवन की झाँकी हो और न धर्म, भाषा, संस्कृति और कला के क्षेत्र में होने वाले आन्दोलनों का ही जिक्र हो जिन्होंने समय-समय पर मानव जाति को हिला-डुला दिया है तो उसे इतिहास कहलाने का और भी कम हक होगा।"[1] उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद इतिहास को राजाओ और सम्राटों और युद्धो तक ही सीमित न मानकर साधारण मानव व मानव जाति के विभिन्न आन्दोलनों तक इतिहास के क्षेत्र का विस्तार मानते हैं।

जैसा कि इतिहास की व्युत्पत्ति पर विचार करते समय कहा जा चुका है, इतिहास का श्री गणेश करने का श्रेय यूनान के हेरोदोतस को है। हेरोदोतस जिसे इतिहास का जनक (Father of History) कहा जाता है, के अनुसार 'इतिहास आलोचना पद्धति पर आधारित मानवीय विधा है जो साक्ष्य पर आधारित निष्कर्ष एवं तथ्यों के माध्यम से मानवीय क्रियाकलापो का गवेषणात्मक अध्ययन करती है तथा इस प्रकार के अतीत के गवेषणात्मक अध्ययन द्वारा भविष्य के लिए मार्ग, निर्देशन का कार्य भी करती है।" सी० एच० फिलिप्स इतिहास के प्राचीन स्वरूप को दृष्टिगत करते हुए कहते हैं, कालान्तर में इतिहास के अनिवार्य तत्व जैसे पुराण, अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र आदि ज्ञान की स्वतन्त्र शाखाओं के रूप मे विकसित हो गए, तदनुसार इतिहास के अर्थ में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। इतिहास व्यवहार मे, मानव जीवन की अतीत की घटनाओ के लेखे-जोखे तक सीमित रह गया।[2]

ऊपर इतिहास की विभिन्न परिभाषाओं की सहायता से भी इतिहास के स्वरूप को स्पष्ट रूप से दर्शाने की जो चेष्टा की गयी उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इतिहास के प्रमुख तत्वों मे पर्याप्त समानता है। विद्वानों के इतिहास सम्बन्धी विचारों एव विभिन्न परिभाषाओं में 'मानव और उसके क्रियाकलाप अतीत में घटित घटनाओं तथा कारण कार्य पर आधारित इन घटनाओ आदि के विवेचन को ही प्रमुख रूप से महत्व दिया गया है। यहाँ यह विशेष रूप से दृष्टव्य है कि अधिकतर

---

1. साहित्य, शिक्षा और संस्कृति : डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद (पृ० 114 द्वितीय संस्करण 1960)
2. History of India, Pakistan and Cylone: By C. H. Phillips (Page 15)

परिभाषाओ में घटनाओं को इतिहास न मानकर घटनाओ के अभिलेख को इतिहास माना गया है।[1] प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में हमने घटनाओं के अभिलेख को ही इतिहास मानकर इतिहास का अध्ययन कथा साहित्य के माध्यम से किया है। फिर भी हमने इतिहास के विशुद्ध रूप को खोजने की और प्रस्तुत करने की आवश्यक चेष्टा की है।

ऊपर हमने इतिहास के साथ विशुद्ध विशेषण का प्रयोग किया है, जिससे एक नया प्रश्न उभर कर सामने आता है और वह यह कि क्या इतिहास विशुद्ध हो सकता है, अर्थात् क्या कल्पना रहित इतिहास का अस्तित्व सम्भव है? इस सम्बन्ध में देकार्त नामक विद्वान का मत है कि यद्यपि इतिहास सत्यपरायण होते है और वे घटना चक्र को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करते है तथापि व्यवहार में ऐसा हो नही पाता क्योंकि इतिहासकार उसमें आदर्श और कल्पना का पुट दे ही देते हैं।[2] कहने का तात्पर्य यह है कि इतिहास के भवन का निर्माण तो यद्यपि सत्य की आधार शिला पर होता है किन्तु उसकी साज-सज्जा मे कल्पना का पूरा योगदान होता है या यों कहें कि कल्पना के बिना इतिहास का काम ही नही चलता। इस बात से अनेक विद्वानों ने सहमति प्रकट की है। यदि व्यावहारिक दृष्टि से सोचा जाए तो अपरिहार्य कल्पना के स्वाभाविक प्रयोग करने तक तो इतिहासकार क्षम्य है। स्वाभाविक प्रयोग से मेरा तात्पर्य कल्पना के उस सीमा तक ही प्रयोग से है जिससे इतिहास दूषित न हो। किन्तु जब कल्पना का दुरुपयोग किया जाता है तो इतिहास अपनी प्रकृति से हाथ धो बैठता है। विभिन्न देशों में विभिन्न इतिहासकारों द्वारा अनेक इतिहास लिखे गये और इन उपलब्ध इतिहासों में अनेक ऐसे है जो इतिहासकार के पक्षपात राग-द्वेष कल्पना और अज्ञान के कारण अपने सच्चे रूप में नही प्रस्तुत हो सके है। वस्तुतः कल्पना, राग और द्वेष इतिहास विरोधी तत्व हैं। कल्पना के सम्बन्ध मे प्रख्यात इतिहासकार ए० जे० टायम्बी का मत उल्लेखनीय है।

इतिहास एवं कल्पना

टायम्बी महोदय के अनुसार इतिहास की उत्पत्ति नाटक और उपन्यासों की भाँति पौराणिकता के गर्भ से हुई जिसमें तथ्य और रोमांस (कल्पना) के मध्य रेखा दृष्टिगत नही होती। 'इलियड' नामक रचना को जब इतिहास मानकर पढ़ा जाता है तो उसमे प्रचुर कल्पना के दर्शन होते हैं और जब उसी रचना को रोमांस मानकर पढ़ा जाता है तो उसमें प्रचुर इतिहास के दर्शन होते हैं। आगे टायम्बी महोदय कहते हैं कि सारे इतिहास इस सम्बन्ध में तो कम से कम 'इलियड' से साम्य रखते हैं कि

1. The Encyclopedia Americana (Vol XIV page 205 : 1961)।
2. The Idea of History : R. G Collingwood, page 89.

उन्हें पूर्ण रूप से काल्पनिक तत्वों से अछूता नही रखा जा सकता।[1] ऐसे मत का प्रतिपादन केवल टायम्बी महोदय का ही हो, सो बात नही। अन्य कई विद्वानों का भी ऐसा ही मत है। कोहेन (Cohan) नामक विद्वान ने तो इतिहास में काल्पनिकता के समन्वय की सराहना की है।[2] जगदीश गुप्त तो इतिहास में कल्पना के समावेश को अनिवार्य ही मानते हैं। इतना ही नही वे कल्पना रहित को असम्भव मानते हैं।[3] स्पष्ट है कि सिद्धान्त और व्यवहार की दृष्टि से इतिहास की स्थिति सर्वथा ही भिन्न है। जहाँ सैद्धान्तिक दृष्टि से इतिहास का कल्पनारहित विशुद्ध रूप होना चाहिए वहाँ व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा असम्भव तक मान लिया गया है।

इतिहास एवं राग-द्वेष

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इतिहास को विशुद्ध रूप में प्रस्तुत किया जाना श्रेयस्कर है, किन्तु इतिहास लेखन में कल्पना के समावेश को अपरिहार्य माना गया है। फिर भी इतिहास के लिए कल्पना इतनी घातक सिद्ध नही होती जितना राग-द्वेष। इतिहास लेखन का कार्य रागद्वेष की भावना से सर्वथा निर्लिप्त रहकर करनी चाहिए। राजतरंगिनी के रचयिता कल्हण ने एक सच्चे इतिहासकार को न्यायाधीश की भाँति अतीत पर विचार करते समय राग-द्वेष से पृथक रहने की सलाह दी है।[4] किन्तु उपर्युक्त तीनों ही के अनुसार अवाछनीय तत्वो का समावेश इतिहास मे परिलक्षित होता है। इतिहास में ये तीनों ही तत्व क्रमशः पाये जाते हैं।

---

1. "History like Drama and Novel, grew out of Mythology, a primitive form of apprehension and expression in which...... the line between Fact and Fiction is left undrawn. It has for example been said for the ILIAD that anyone who starts reading it as history will find that it is full of fiction but equally, anyone who starts reading it as fiction will find that it is full of History. All Historians resemble the 'ILIAD' to this extent, that they can not entirely dispense with the fictional elements.
   —A study of History (A. J. Toynbee) Abridgement by D. C. Somervell (First Edition 1960 p. 44)
2. The Ideal of an imaginative reconstruction of past which is Scientific in its determinations and artistic in its formulation is the Ideal to which the greatest of historian have ever aspired. (The meaning of Human History) P. 34.
3. आलोचना : अक्टूबर 1954 अंक (इतिहास और इतिहासकार लेख से)
4. Historians of India Pakistan and Cylone ; C. H. Phillips (Page 21)

1. इतिहास में कल्पना राग और द्वेष भाव का समावेश हो जाता है। इस बात की पुष्टि हो सकती है यदि हम अनुत्तरदायी इतिहासकारो द्वारा लिखित इतिहासोंके पृष्ठों का सिंहावलोकन करें। इतिहास मे कल्पना के सन्दर्भ मे हम ए० जे० टायम्बी द्वारा उल्लिखित 'इलियड' नामक रचना की चर्चा कर चुके है। कल्पना के समावेश के सन्दर्भ में ही हम इतिहास के अचल से एक अन्य प्रसंग का चयन कर सकते हैं और वह है नेपोलियन की वीरता का प्रसंग। इतिहास के के अनुसार नेपोलियन अत्यन्त वीर योद्धा था। इतिहास के आधार पर नेपोलियन की वीरता सभी ने स्वीकार की है (आज इतिहास के इस सत्य को भी झूठ सिद्ध किया जा रहा है, जिसकी चर्चा आगे की जायेगी।) यह ठीक है। किन्तु इतिहास का यह कथन कि नेपोलियन सेंट हेलेना द्वीप से, जहाँ वह कैद था, अनेक पहरेदारो की आँखों में धूल झोक कर भाग निकला और फ्रांस की भूमि पर कदम रखते ही उसने देखते-देखते बात की बात मे एक दुर्दान्त सेना का संगठन कर लिया, इतिहासकारों की कल्पना में ही पगा हुआ एक छोटा-सा तथ्य प्रतीत होता है।[1] थोड़ी देर के लिए यदि यह मान लिया जाए कि यह कल्पना मे ही पगा एक तथ्य है तो यह इतिहास में कल्पना के समावेश का एक अनुपम उदाहरण है। ऐसे कल्पना-तिरेक से इतिहास का विकृत होना स्वाभाविक है।

इतिहास में कल्पना, राग एवं द्वेष : उदाहरण

2. अब देखिए, इतिहास मे राग के समावेश का एक उदाहरण। इतिहास में नेपोलियन अपनी वीरता, अदम्य साहस और आत्मविश्वास के लिए प्रसिद्ध है। किन्तु Whatly's ने अपनी रचना Historic Doubts में यह प्रमाणित किया है कि नेपोलियन सम्बन्धी अनेक ऐतिहासिक घटनाएँ जो इतिहास प्रसिद्ध है तथा जिनसे नेपोलियन की ख्याति मिली, अवास्तविक एवं मात्र जन-कल्पना की उपज हैं। लेखक का कथन है कि नेपोलियन के व्यक्तित्व में शूरता और वीरता का झूठा समावेश, अग्रेजो द्वारा किया गया है ताकि उन्हें अद्भुत वीर और साहसी मान लिया जाए। नेपोलियन को निर्बल दिखाकर उसे अग्रेजों द्वारा पराजित दिखलाने पर अंग्रेजों की वीरता में कुछ विलक्षणता नही आती।[2] इसीलिए अंग्रेजो ने अपने इतिहास मे नेपोलियन को जो कि वास्तव में, कायर था, वीर और साहसी दर्शाया है। ताकि वे स्वय उससे भी अधिक वीर समझे जाएँ। इस उदाहरण के सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि (चाहे उक्त लेखक महोदय का मत सही हो अथवा न हो) यदि थोड़ी

1. साहित्य और साहित्यकार (डॉ० देवराज उपाध्याय) नामक पुस्तक से उद्धृत।
2. वही

देर के लिए इसे हम इतिहास के ही रूप मे देखे तो अग्रेजों की ऐसी इतिहास लेखन पद्धति 'राग' दोष से ही ग्रसित कही जायेगी। निःसन्देह उन्होंने नेपोलियन को ऊँचा उठाया किन्तु ऐसा उन्होने स्वार्थ वश किया है ; ऐसी प्रवृत्ति तो अपने देश एवं जाति के प्रति उनके 'राग' को ही दर्शाती है।

3. अब बारी आती है इतिहास में 'द्वेष' के समावेश की जिसके कारण भी इतिहास अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त नही कर पाता। ऐसे इतिहास के निर्माण करने वाले इतिहासकार सचमुच इतिहासकार न कहलाकर मानवता के शत्रु कहलाने योग्य हैं—वे पाप के भागी और दण्ड पाने योग्य होते है। इस सम्बन्ध में हमे हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकार बृन्दावनलाल वर्मा का स्मरण हो आता है। वर्मा जी का रुझान इतिहास में जो हुआ उसके पीछे ऐसा ही द्वेष भाव से रचित इतिहास है। वर्मा जी ने लिखा है कि वचपन मे उन्हे अग्रेजी में लिखा मार्सडन कृत भारतवर्ष का इतिहास पढाया जाता था। उसमे लिखा था कि 'भारत एक गर्म मुल्क है इसलिए यहाँ के निवासी ठण्डे देशो के निवासियों की अपेक्षा कमजोर होते है, अतः पराजित होते रहे हैं। किन्तु चूँकि अब ठण्डे देश के निवासी अंग्रेज आ गये है, इसलिए अब भविष्य में ऐसा नहीं होगा और इसी घोर द्वेषभाव से लिखित पक्षपातपूर्ण कथन पर वर्मा जी को क्रोध आया, उन्होंने पुस्तक का सफा नोचडाला और सत्य के अन्वेषण की ठानी।[1]

उपर्युक्त उदाहरण से इतिहास में द्वेषभाव के समावेश पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। सच तो यह है कि न तो ऐसे इतिहास को इतिहास कहलाने का ही अधिकार है और न ऐसे इतिहास लिखने वाले को इतिहासकार कहलाने का।

सम्भवतः इतिहास में उपर्युक्त दोषों के आधार पर ही कुछ विद्वानों ने इतिहास को ही शंका की दृष्टि से देखा है। व्यवहार में इतिहासकार रागद्वेष से भी मुक्ति पा ही जाये किन्तु कल्पना तो उसे अपने रंग में रंग ही देती है, अतः इतिहास में कल्पना तो किसी न किसी अंश में विद्यमान रहती ही है।

(घ) उपन्यास, इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास

उपन्यास और इतिहास के स्वरूप को लेकर पृथक-पृथक रूप से चर्चा की जा चुकी है जिससे यह स्पष्ट आभास मिला है कि इन दोनों में कही बहुत अधिक साम्य तो कहीं पर्याप्त वैषम्य है। जहाँ कही अवसर मिलता है उपन्यास इतिहास की प्रकृति को अपनाता-सा उसकी सीमा में प्रवेश करता सा प्रतीत होता है तो अनेक बार यही प्रवृति इतिहास की भी देखने में आती है। ऐसा होने का एक प्रधान कारण सम्भवतः

---

1. वृन्दावनलाल वर्मा : साहित्य और समीक्षा : सियारामशरणप्रसाद : पृ० 7

यह है कि दोनों ही अपना निर्वाह जल बद्ध कोष्ठको (Water tight compartments) में न करके परस्पर समझौता करने को तत्पर रहते है। फिर भी इतना अवश्य है कि यह प्रवृति इतिहास में अपेक्षाकृत कम और उपन्यास में कुछ अधिक ही परिलक्षित होती है। इसका कारण यह है कि उपन्यास का क्षेत्र अधिक विस्तृत है, उस पर नियमों का बन्धन कठोर न होकर लचीला है जबकि इतिहास के लिए क्षेत्र भी सीमित है और नियमों का बन्धन भी कठोर है। इन सब के होते हुए भी उपन्यास और इतिहास मे कुछ ऐसे तत्व है जिनका दोनों के रचना विधान मे समान रूप से हाथ है, जैसे—मानव उसके क्रियाकलाप एवं कल्पना। किन्तु इन उभय तत्वों की अपेक्षा, जैसा कि पहले कहा जा चुका है उपन्यास और इतिहास मे विषमताओ का ही आधिक्य है।

उपन्यास और इतिहास : साम्य एवं वैषम्य

जैसा कि ऊपर कहा गया है, जहाँ एक ओर उपन्यास और इतिहास मे साम्य दृष्टिगोचर होता है वहाँ वैषम्य भी कम नही है जो इन दोनों के मध्य विभाजक रेखा खीचती हैं। जहाँ तक उपन्यास और इतिहास में समानता का प्रश्न है, उपन्यास मे मानव, मानवीय क्रियाओं तथा विविध घटनाओं को कल्पना के सहारे इस कौशल के साथ चित्रित किया जाता है कि वे यथार्थ अथवा ययार्थवत प्रतीत हों। इतिहास में भी मानवीय क्रियाओं, घटनाओं और कल्पना को स्थान मिलता है किन्तु अपेक्षाकृत सीमित रूप मे। उपन्यास और इतिहास दोनो का ही रूप लोकमगलकारी होता है, दोनो ही मानव को लोक-मगल का सन्देश देते है। उपन्यास में भी कल्पना समायी रहती है और इतिहास में भी कल्पना (यद्यपि प्रतिबन्ध होने से सीमित मात्रा में ही) का समावेश रहता है। इस बात के प्रमाण स्वरूप हम ए० जे० टायम्बी की पुस्तक 'ए स्टडी आफ हिस्ट्री' से 'इलियड' नामक रचना का उदाहरण पहले दे आए हैं—जिसकी यह विशेषता है कि यदि उसे इतिहास मानकर पढ़ा जाए तो वह कल्पना से पूर्ण दिखलाई पड़ेगी और यदि उसे 'फिक्शन' मानकर पढ़ा जाए तो प्रतीत होगा कि इसमें इतिहास भरा पड़ा है।[1] किन्तु वास्तव में तो उपन्यास और इतिहास में विषमताएँ ही अधिक है जो दोनों के बीच एक स्पष्ट विभाजन रेखा खीच देती है।

उपन्यास जहाँ मानव के अतीत, वर्तमान और भविष्य को अपने क्षेत्र मे समाहित कर लेता है वहाँ इतिहास मानव के केवल अतीत का अध्ययन प्रस्तुत करता है। उपन्यास जहाँ व्यक्ति के साथ-साथ अपनी परिधि मे ऐसी घटनाओ और तथ्यों को भी समेट लेता है जो अव्यक्त होती है वहाँ इतिहास केवल व्यक्त अर्थात जो प्रकट है उसी

---

1. A study of History : A. J. Toynbes By D. C. Somervall Abndgment P. 44.

को, बल्कि उसके भी केवल उसी भाग को ग्रहण करता है जो समष्टि परक हो अर्थात जो समाज एवं राष्ट्र से सम्बद्ध हो क्योंकि इतिहास के लिए व्यक्ति का महत्व नही होता। उपन्यास जहाँ वाह्य घटनाओं का भी चित्रण करता है वहाँ इतिहास केवल वाह्य घटनाओं तक ही सीमित रहता है।[1] उपन्यासकार खण्डित तथ्यों और घटनाओं को कल्पना की सहायता से सयुक्त कर या पूर देता है वहाँ इतिहासकार के लिए ऐसा कर सकना सम्भव नही, वरन उसके लिए ऐसा वर्जित है। यही नहीं उपन्यासकार को यहाँ तक स्वतन्त्रता है कि यदि वह अपनी इच्छा के अनुकूल घटनाओं में कुछ उलटफेर या परिवर्तन करना चाहे तो ऐसा कर सकता है किन्त इतिहासकार यदि ऐसा करे तो उस पर इतिहास को दूषित करने, इतिहास लेखन सम्बन्धी नियम भंग करने का आरोप लगाया जा सकता है। उपन्यासकार राजनीति, धर्म और संस्कृति, भूगोल, विज्ञान, इतिहास तथा समाजशास्त्र आदि के व्यावहारिक पक्ष की सीमा का अतिक्रमण कर सकता है किन्तु इतिहासकार के पास इतिहास की घटनाओं में विचरण करने के सिवाय कोई चारा नही है। इतिहासकार को घटनाओं का विवरण स्वयं प्रस्तुत करना पड़ता है किन्तु उपन्यासकार के पास अनेक पात्र होते है जिनके माध्यम से विभिन्न शैलियाँ अपनाकर वह अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है।

उपन्यास और इतिहास में एक स्थूल भेद बुद्धि द्वारा नियन्त्रित सत्य और तथ्य एवं हृदय द्वारा प्रसारित भावना और कल्पना द्वारा उत्पन्न किया जाता है। इतिहासकार भावना को दबाकर बुद्धि को प्रश्रय देता है। यदि आधार (तथ्य) यह कहते है कि अन्तिम हिन्दू राजा वीराग्रणी पृथ्वीराज मोहम्मद गोरी से पराजित हुआ था तो वह पृथ्वीराज की पराजय को विजय में न बदलेगा, चाहे उसका हृदय पराजय से दु:खी क्यों न हो। इतिहासकार प्राप्त तथ्यों को लेगा और सचाई से उसका उद्घाटन कर देगा।[2] स्पष्ट है कि इतिहासकार पर इसी तरह के अनेक प्रतिबन्ध लगे हुए है जबकि उपन्यासकार इन बन्धनों से मुक्त है।

यहाँ हम उपन्यास और इतिहास के स्वरूप का अन्तर स्पष्ट करने के लिए प्रतापनारायण श्रीवास्तव के ऐतिहासिक उपन्यास 'बेकसी का मजार' की कथा से एक अंश उद्धत करते हैं-—'यह कह कर वह बेगम हजरत महल का पत्र लेने चली गयी। पत्र पढ़ते हुए गुलशन कहने लगी—'इसमें तो बड़ी अच्छी खबर है। लिखती है कि नवाब साहब के जाने से

उपन्यास और इतिहास भेद

1. काव्य के रूप : गुलाबराय एम० ए० (पृ० 159 चतुर्थ संस्करण 1958)
2. ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार : डॉ० गोपीनाथ तिवारी (पृ० 1 : प्रथम संस्करण 1958)

अवध की रियाया को यकीन हो गया कि फिरंगियो के खिलाफ बगावत करने के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं है, इसलिए वहाँ के सभी ताल्लुकेदार जिमीदार जिसमें राजपूत कौम के ज्यादा है जंग की तैयारी कर रहे हैं। 'नवाब साहब मटियाबुर्ज में कैद है। लेकिन उनके वजीर अली नकी बंगला के फौजियों में बगावत फैला रहे है। इसमें आगे विठूर के पेशवा नानाराव और उनके वजीर अजीमुल्ला का जिक्र है। अंग्रेजों ने पेशवा बाजीराव के मरने के बाद नानाराव जी उनकी गोद बैठेथे उनका जांनशीन होना मंजूर नहीं किया और जो पेंशन उन्हें मिलती थी, वह भी बन्द कर दी गयी है। अजी-मुल्ला विलायत भी गये थे, और रूसियों से मिल आए है। उन्होंने भी हिन्दुस्तान को आजाद कराने के लिए अपनी एक फ़ौज भेजना मंजूर कर लिया है।'

बेगम जीनतमहल का मुखमण्डल प्रफुल्लता से प्रदीप्त हो उठा। उसके आयत लोंचनों से विस्मय और उत्साह झाँकने लगे। उन्होंने बालकों की भाँति ताली बजाते हुए कहा—'बेगम हजरत महल ने तो बहुत बड़ी खुश खबरी भेजी है।······[1]

उपर्युक्त कथांश एक पत्र रूप में है जो लखनऊ की बेगम हजरतमहल ने लिखा है। इसका स्वरूप उपन्यास की कथा के अनुकूल है। यदपि इसमे तथ्य इतिहास के छिपे हुए है। अब प्रश्न यह है कि ऐसी कौन-सी बातें है जिन्होने इतिहास के तथ्यो को उपन्यास कथा का अंश बना दिया है। यही दिखलाने का प्रयास करने हेतु यह गद्यांश उद्धृत किया गया है। उपर्युक्त गद्यांश मे बहुत से अंश उपन्यास की वस्तु है उनकी इतिहासकार को आवश्यकता नही पड़ेगी। कथा को पत्र रूप मे रखना भी औपन्यासिक प्रवृति है, इतिहास की नही। औपन्यासिक अंशों के अतिरिक्त जो अवशिष्ट अंश हैं उसको भी इतिहासकार कुछ परिवर्तन के साथ ही प्रस्तुत करेगा और इस प्रकार कथांश के आधार पर उसका इतिहास रूप कुछ इस प्रकार का होगा :—

'नवाब साहब के कैद होने से अवध की **रियाया** के लिए **फिरंगियों** के खिलाफ (फिरंगी शब्द का प्रयोग न कर इतिहासकार 'फ्रांसिसी शब्द का ही प्रयोग करेगा) बगावत करने के अलावा कोई चारा न रहा। इसलिए वहाँ के सभी ताल्लुकेदार, जिमीदार जिसमें राजपूत अधिक थे जंग की तैयारी कर रहे थे। नवाब साहब मटिया-बुर्ज में कैद थे। अत: उनके बजीर अलीनकी बंगाल के फौजियो मे **बगावत** फैला रहे थे। अंग्रेजों ने पेशवा बाजीराव के मरने के बाद नाना राव जो उनकी गोद बैठे थे, उनकी **जॉनशींन** होना मन्जूर नही किया और जो पेन्शन उन्हें मिलती थी, वह भी बन्द कर दी गयी थी (यह वाक्य इतिहास की दृष्टि से अपूर्ण है इतिहासकार इसका

1. बेकसी का मजार : प्रतापनारायण श्रीवास्तव : पृ० 35

कारण भी बतलाएगा) अजीमुल्ला विलायत गये थे और रूमियो से भी मिल आए थे। इस वाक्य की स्थति भी वैसी ही है। इतिहास इसमे अजीमुल्ला के विलायत जाने और रूमियो से मिलकर आने के कारणों पर भी प्रकाश डालेगा, यद्यपि अगले वाक्य से यह प्रकाश पड़ता है कि चूँकि अजीमुल्ला भी चिढ़े बैठे थे अत: वे रूसियों से सहायता माँगने गये। तभी तो) उन्होने भी हिन्दुस्तान को आजाद कराने के लिए अपनी एक फौज भेजना मन्जूर कर लिया था।'

कथांश के पुर्नलिखित इतिहास रूप में भी जिन शब्दो को काले टाइप में दिया गया है उनका भी इतिहासकार प्रयोग नही करेगा क्योंकि उनमे भी औपन्यासिक प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। ये शब्द मुसलमान पात्र द्वारा बोले गये है। अत: उर्दू का प्रभाव लिए हुए हैं।

स्पष्ट है कि उपन्यास और इतिहास एक दूसरे से स्वरूप मे बहुत भिन्न है। इतिहासकार की प्रवृत्ति अपनी परिधि में मात्र यथार्थ को समेटने की होती है अत: वह यथार्थ के परे कल्पना और रूपक की अलकारिक आदि भाषा के प्रयोग को उपन्यासों की भाँति प्रोत्साहन नही देता। इतिहासकार उपन्यासकार की तरह बात-बात मे भावो और मुद्राओ का चित्रण भी नही करता।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उपन्यास और इतिहास अवसर पाते ही एक दूसरे की ओर आकर्षित होते है उनमे समान तत्व भी उपलब्ध होते ही है; और इसी के परिणामस्वरूप हमे इन दोनो का समन्वित रूप देखने को मिलता है ऐतिहासिक उपन्यासो के रूप मे। "ऐतिहासिक उपन्यास, उपन्यास के आग्रह से, उपन्यास और इतिहास के समभौते के परिणामस्वरूप उनके सयुक्त रूप का नाम है" औपन्यासिक प्रवृतियाँ इसके ऊपरी ढाँचे का निर्माण एवं पोषण करती है तो इतिहास उसकी आत्मा को बल प्रदान करता है। दोनों में इतने

ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास की रक्षा का प्रश्न

समीप के सम्बन्ध हैं कि इस बात को लेकर विद्वानों में मतभेद उत्पन्न हो गया है कि क्या सफल ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास की रक्षा होनी चाहिए? और तब कुछ विद्वान ऐतिहासिक उपन्यास मे इतिहास की रक्षा के प्रश्न के प्रति यह कहकर अवहेलना का भाव प्रकट करते हैं कि ऐतिहासिक उपन्यास प्रधानत: उपन्यास है इतिहास नही, अत: उसमे इतिहास की रक्षा का प्रश्न ही नही उठता। इतिहास की पृष्ठभूमि में उपन्यास लिखा जाता है इतिहास तो पर्दा भाग है बहाना है, लक्ष्य तो उपन्यास लिखना हैं।[1] किन्तु मेरे विचार मे इस तरह के तर्क असंगत है। माना

---

1. ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार : डॉ० गोपीनाथ तिवारी : पृ० 7

कि ऐतिहासिक उपन्यास प्रधानतः उपन्यास है और ऐतिहासिक उपन्यासकार का लक्ष्य भी उपन्यास लिखना है किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास जो ऐतिहासिकता का आवरण पड़ा है क्या उसका कोई महत्व ही नही है ? क्या मात्र ऐतिहासिकता का भ्रम उत्पन्न कर देने से ही उपन्यास को 'ऐतिहासिक' कहने का अधिकार उपन्यासकार को मिल जाय ?

मेरे विचार मे 'ऐतिहासिकता' इतनी सस्ती न तो है और न समझी जानी चाहिए। ऐतिहासिक उपन्यासकार पर तो दोहरा उत्तरदायित्व रहता है। जहाँ एक ओर वह पाठक को सरस उपन्यास प्रदान करता है वहाँ नीरस एवं शुष्क इतिहास को भी सरस रूप में ही प्रस्तुत कर ऐसे पाठको को, जो इतिहास से केवल उसकी शुष्कता एवं नीरसता के कारण ही अनवगत रहते है, इतिहास से अवगत कराता है ; जिस इतिहासरूपी कुनेन को पाठकरूपी रोगी कड़वा समझकर यह जानते हुए भी कि वह उनके लिए लाभकारी है स्वीकार नही करता उसी को ऐतिहासिक उपन्यासकाररूपी चिकित्सक सरस औपन्यासिकता रूपी मिठास से आदरित कर पाठक तक पहुँचाता है। ऐतिहासिक उपन्यासकार इतिहास को औपन्यासिक मिठास से ढँक तो सकता है किन्तु यदि वह कुनेन को महत्व न देकर उसकी रक्षा न कर, पाठक रूपी रोगी को केवल मिठास ही प्रदान करेगा तो कुनेन का महत्व ही समाप्त हो जायेगा। यदि पाठक को मिठास की ही आवश्यकता होगी तो फिर उसके लिए अन्य सरस मे सरस उपन्यासों का और भी बहुत बड़ा अक्षय भण्डार उपलब्ध है। वस्तुतः ऐतिहासिक उपन्यास से इतिहास की रक्षा के प्रति उपेक्षा भाव रखने वाले विद्वान इस बात को भूल जाते है कि ऐतिहासिक उपन्यास की सफलता ही पाठक को इतिहास की पथरीली भूमि पर लाकर छोड़ने में होती है। चूंकि पाठक इतना क्षीणकाय होता है कि वह उस पथरीले भाग में जाने की इच्छा रखते हुए भी क्षीण काय होने के कारण स्वयं को असमर्थ पाता है। इसलिए ऐतिहासिक उपन्यास उसके लिए औपन्यासिक तत्वो से निर्मित एक मुलायम परत बिछा देता है और तब पाठक सहजरूप से उस पथरीली भूमि का अवलोकन करता है, उस पर विचरण करता है।

अतः जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए इतिहास की रक्षा करना अनिवार्य है; तभी उसकी सार्थकता है। मात्र ऐतिहासिक वातावरण बनाकर पाठक को उसमे भटकाना छल है, प्रवंचना है, और इतिहास के प्रति भी अन्याय है क्योंकि इससे एक तो पाठक सन्तुष्ट नहीं होता दूसरे इतिहास का रूप भी विकृत हो जाता है। इतना ही नही इससे आने वाली पीढ़ियों को इतिहास की शुद्धता में सन्देह करने का पूर्ण अवसर मिलेगा। इस सम्बन्ध मे

हेनरिटामोर्स (Henritta morse) द्वारा लिखित (A peep at our ancestors) की भूमिका में व्यक्त किये गये विचार उद्धृत करने योग्य है—'ऐतिहासिक उपन्यासकार को इतिहास को विकृत करने और उसे लंगड़ा बनाने का अधिकार नही है; जो ऐसा करता है वह जानबूझ कर इतिहास पर रंग फेरता है, वह नैतिक अपराध करता है।[1]

आज अनेक ऐसे उदाहरण विद्यमान हैं जिनमें इतिहास के रूप को इसी प्रकार विकृत किया गया है फिर चाहे वह अज्ञानतावश हो चाहे कुछ विद्वानों की मिथ्या धारणावश। इसके प्रमाणस्वरूप हम प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार वाल्टरस्कॉट (जो कि ऐतिहासिक उपन्यास का जन्मदाता कहा जाता है) के 'केनिलवर्थ' उपन्यास को देख सकते हैं, जिसमें स्काट ने एक पात्र एमीराबर्ट की मृत्यु जो वास्तव में 1560 मे मरा था, 15 वर्ष बाद दिखलाकर अवांछनीय स्वतन्त्रता बरती है। उसने, ऐसा केवल इसलिए किया क्योंकि वह एमीराबर्ट तथा ऐलीजाबेथ के बीच वार्तालाप दिखलाना चाहता था।

स्कॉट की इन त्रुटियों के प्रति लोगो ने यह कहकर सहानुभूति भी दर्शायी कि वह प्रथम ऐतिहासिक उपन्यासकार था उसके समय तक ऐतिहासिक तथ्यों का सम्यक विवेचन नही हुआ था। उसने धन कमाने के लिए उपन्यास को इतिहास के आवरण में जैसा चाहा ढाला, आदि-आदि। स्कॉट की इन त्रुटियों के पीछे कारण जो भी रहे हों, ऐसी प्रवृत्ति निन्दनीय ही कही जाएगी।

यह निर्विवाद एवं स्पष्ट बात है कि 'ऐतिहासिक उपन्यास' में इतिहास भी उतना ही महत्वपूर्ण हैं जितना उपन्यास। उसके सृजनकर्त्ता की उतनी पैठ इतिहास की गहराई में होनी चाहिए जितनी उपन्यास रचना में। उसके लिए इतिहास का गहन अध्ययन और सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। यदि उसको इतिहास का पर्याप्त और सही ज्ञान नही है तो श्रेयस्कर यही है कि वह इतिहास को अपने उपन्यासों का आधार न बनाए। इससे दो लाभ होंगे, एक तो इतिहास की विशुद्धता सुरक्षित रहेगी दूसरे यदि उसको ऐतिहासिक उपन्यासकार का गौरव प्राप्त न होगा तो न सही, कम से कम इतिहास की पवित्रता को दूषित करने का अपयश तो नहीं मिलेगा और इतिहास के शुद्ध रूप को पाकर आने वाली पीढ़ी उसके प्रति आदर का भाव रखेगी।

(ङ) उपन्यास और इतिहास : उपादेयता

ज्ञान की प्रत्येक शाखा चाहे वह समाजशास्त्र हो या राजनीति शास्त्र, दर्शन

---

1. ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार (डॉ० गोपीनाथ तिवारी) पुस्तक से उद्धृत (पृ० 9)

शास्त्र हो या इतिहास, साहित्य या अर्थशास्त्र, प्रत्येक का मानव जीवन में अपना महत्व है। प्रत्येक में मानव के लिए ज्ञात-अज्ञात रूप में एक सन्देश रहता है और इस सन्देश का सम्बन्ध लोकमंगल से रहता है जिसके अभाव मे कोई भी शाखा 'शून्य' मानी जाएगी। यह अलग बात है कि इस सन्देश को हम न सुन पावें, हममें सुनने की सामर्थ्य न हो अथवा सुनकर भी हम उसकी अवज्ञा कर दें, उसकी अवहेलना कर दें, उसके प्रति उदासीन हो जाएँ।

'साहित्य' का सम्बन्ध लोक कल्याण से, लोक मंगल से पर्याप्त गहरा, प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट है। 'साहित्य' शब्द से ही मंगल की, कल्याण की, भावना का सकेत मिलता है। साहित्य = स + हित अर्थात् हित (कल्याण) के साथ। उपन्यास 'साहित्य' के परिवार का एक सदस्य है अतः उसकी प्रकृति मंगलपरक होनी स्वाभाविक है और वास्तव में ऐसा है भी। कुछ लोगों का मत है कि उपन्यास मात्र मनोरंजन का साधन है किन्तु यह मिथ्या धारणा है। इस सम्बन्ध में हम ऊपर कह चुके हैं। इसका एक कारण और भी है जब उपन्यासकार या तो अपनी सीमित रचना शक्ति के कारण उपन्यास को साहित्य के औसतन स्तर पर नही ला पाता अथवा स्वार्थ की तीव्रता के कारण जान-बूझकर उपन्यास के स्तर को गिरा देता है तब ऐसी दशा मे पाठकों को अवसर मिल जाता है कि वे उपन्यास को मात्र मनोरजन की वस्तु समझें, किन्तु जब प्रेमचन्द के 'गोदान', द्विवेदी जी के 'बाणभट्ट की आत्मकथा,, टालस्टाय के 'युद्ध और शान्ति' जैसे उपन्यासों का सृजन होता है तब उपन्यास की सार्थकता सिद्ध होती है, उसका लोकमंगल रूप साकार होता है। वस्तुतः ऐसे उपन्यासों में किसी न किसी रूप में कुछ न कुछ सन्देश अवश्य प्रतिध्वनित होता है।

यहाँ यदि हम गोदान को उदाहरण रूप में रखकर देखें तो पता चलेगा कि इसमें उपन्यासकार का संदेश सशक्तरूप में प्रतिध्वनित हुआ है। तत्कालीन समाज के

गोदान से उदाहरण

शोषितों (किसान) की दुर्दशा का चित्रण करके उनमें चेतना जाग्रत करने तथा उन्हें शोषकों के पंजे से मुक्त होने की प्रेरणा गोदान देता है। समाज में कैसे भाँति-भाँति के लोग होते हैं इससे भी पाठक को अवगत करा देना गोदान का ही कार्य है अन्यथा अपने जीवन में इतनी विभिन्नता लिए हुए चरित्रों से पाठक शायद ही कभी साक्षात्कार कर सके।

कुछ लोग कह सकते हैं कि उपन्यासकार को होरी से सहानुभूति थी तो उसने शोषकों की अपेक्षा होरी का पतन क्यों दिखलाया ? क्यों उसकी छाती पर मरते दम तक मातादीन गोदान प्राप्ति की आस लगाए खड़ा रहता है ? तो हम यही कहेंगे कि ऐसा दिखलाकर उपन्यासकार ने मृत होरी को भी हमारे हृदय-संसार में अमर कर

दिया है और दातादीन को हमारी दृष्टि मे मृत समान दिखला दिया है, हम चाहते हुए भी उसकी ओर देखना भी पसन्द नही करते। सोचते हैं कि हाय रे ! भगवान ने क्यो नही होरी की जगह इस नीच को मौत के गले मढ़ दिया और इसी भावना के जन्मते ही उपर्युक्त प्रश्न उपन्यासकार के विरोध में हमारे मन मस्तिष्क मे उठता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि 'इस जगह में अधर्म प्राय: दुर्दमनीय शक्ति प्राप्त करता है जिसके सामने धर्म की शक्ति बार-बार उठकर व्यर्थ होती रहती है।[1] उपन्यासकार का होरी जैसे पात्रों को इस रूप में चित्रित करने का रहस्य शुक्ल जी के शब्दों में यह है, "मारे भाव सारे रूप और सारे व्यापार भीतर भीतर आनन्द कला के विकास में ही योग देते पाए जाते हैं। अधर्म-वृति को हटाने में धर्म-वृति की तत्परता-चाहे वह उग्र और प्रचण्ड हो, चाहे कोमल और मधुर; भगवान की आनन्द कला के विकास की ओर बढ़ती हुई गति है। यह गति यदि सफल हुई तो धर्म की जय कहलाती है इस गति की सफलता में भी सुन्दरता है और इसकी असफलता में भी। यह बात नही है कि जब यह गति सफल होती है तभी इसमें सुन्दरता आती है। गति में सुन्दरता रहती है; आगे चलकर यह सफल हो, चाहे विफलता में भी एक निराला ही विषण्ण सौन्दर्य होता है।[2]

बाणभट्ट की आत्मकथा से उदाहरण

इसी तरह हजारीप्रसाद द्विवेदी का उपन्यास बाणभट्ट की आत्मकथा भी देश पर आक्रमण की समस्या, नारी समस्या, जाति भेद एवं (स्तर) भेद की समस्याओं की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करता है। पाठक के सामने इनके भयंकर परिणामों का चित्र घूमने लगता है; और तब उपन्यासकार का सन्देश लोक-मंगल की भावना के लिए गूंजने लगता है—'धर्म के लिए प्राण देना किसी जाति का पेशा नही है वह मनुष्य मात्र का उत्तम लक्ष्य है—[3] इसी प्रकार आज के पुरुष एवं नारी दोनों ही वर्गो को उपन्यासकार ने सही मार्ग अपनाने का सन्देश दिया है तथा उनके हृदयों में संवेदना के संचार द्वारा स्तर भेद एवं जाति भेद को समाप्त करने की बात कही है क्योंकि नर लोक से किन्नर लोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है।[4]

---

1. "चिन्तामणि" (काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था) : रामचन्द्र शुक्ल : पृ० 218 (पहला भाग)
2. 'चिन्तामणि' (काव्य मे लोक-मंगल की साधनावस्था) रामचन्द्र शुक्ल (पहला भाग) पृ० 217
3. बाणभट्ट की आत्मकथा—द्विवेदी जी : (पृ० 201 चौथा संस्करण 1961)
4. वही पृ० 271

उपर्युक्त उदाहरणों को देने का हमारा उद्देश्य यही है कि हम यह स्पष्ट कर सके कि उपन्यास का मानव जीवन मे क्या महत्व है। उनका सृजन मनोरंजनार्थ न होकर लोक मंगल की भावना को लेकर होता है। मनोरंजन आदि गौण एवं अस्थायी है। सृजन कर्ता का लक्ष्य तो लोक मंगल को प्रतिष्ठित करना होता है। और उसी से प्रेरित होकर वह किसी रचना का सृजन करता भी है। हाँ, जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि पाठक या श्रोता कितना संवेदन-शील है। सृजन कर्ता जिस संवेदना के सचार द्वारा अपना संदेश पाठक तक पहुँचाना चाहता है पाठक में उसके ग्रहण की सामर्थ्य है अथवा नही। संवेदना का होना अपेक्षित है। बाल्मीकि, क्रौच बध से भी संदेश ग्रहण करते है किन्तु हिटलर नर संहार देखकर ही संतोष की सांस लेता है तब इसके लिए तो उपचार ही क्या है ?

जो बात साहित्यिक विधा 'उपन्यास' के लिए ऊपर कही गई है वही बात इतिहास के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इतिहास के माध्यम से मानव कल्याण की बात और भी स्पष्ट होकर हमारे सम्मुख आती है। उपन्यास के लिए तो पाठक 'मनोरजन' वाली बात कह सकता है ठीक है किन्तु इतिहास के लिए ऐसा नही कहा जा सकता। क्या इतिहास जैसा शुष्क और नीरस विषय भी पाठक का मनोरजन करता है ? यदि नही तो फिर उसके लेखन का उद्देश्य या महत्व क्या है ? और बात वही 'लोक हित' पर आकर ठहरती है। इतिहास, मानव और उसके क्रियाकलापों का, जो अतीत की वस्तु बन गए हैं जो घटनाएँ अतीत के विशाल सागर मे खो चुकी है उन्हें पुन: खोजने उनके घटित होने के कारण और परिणाम की खोज क्यो करता है ? इसका कारण यही है कि उनके माध्यम से मनुष्य अपनी जाति के स्वरूप को पहचानने का प्रयास करता है। वह देखता है कि उसकी जाति पहले किस अवस्था में थी और आज किस अवस्था में है ? वह पतन की ओर तो उन्मुख नही है ? किसी राष्ट्र ने किन कारणों से अमुक घटनाओ को जन्म दिया और उनके परिणाम सत् रहे या असत्; उनसे उसका कुछ हित हुआ अथवा संहार हुआ। उसे बदले में वेदना मिली, पीड़ा सहन करनी पड़ी और उसका जीवन और भी दुखपूर्ण, अंधकारमय हो गया अथवा उसे विकास के पथ पर अग्रसर होने के लिए नवीन दिशा मिली। यदि पतन ही हुआ तब तो उसे चाहिए कि उन्हीं घटनाओं को जन्म देने वाले कारणों से अपनी रक्षा करे और जो कुछ मानव के मंगल का निमित्त हो केवल उसे ही ग्रहण करे, शेष की पुनरावृति न होने दे।

इतिहास की यह उपदेयता सिद्धान्त तक ही सीमित हो, सो बात नहीं है इतिहास के व्यवहारिक रूप में ही अधिक लाभ उठाया जा सकता है। इसका प्रमाण देखने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नही है लगभग एक शताब्दी पहले के भारतीय-

भारतीय इतिहास से उदाहरण

इतिहास के पृष्ठ देखिए और अठारह सौ सत्तावन की क्रान्ति की घटनाओं पर दृष्टि डालिए। आप पायेंगे कि यह क्रान्ति हिंसात्मक क्रान्ति थी जिसे शत्रु ने हिंसा द्वारा ही असफल कर दिया था और भारतीयों का जीवन फिर अन्धकारमय हो गया था उनमें पुनः उठकर लडने की शक्ति जवाब दे चुकी थी। एक शती पूर्व के इतिहास की इन घटनाओं का अवलोकन करने के पश्चात आप आज से पचास वर्ष पूर्व के भारतीय इतिहास के पन्नों को देखिए जिनमें आप महापुरुष गांधी के नेतृत्व में स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए प्रारम्भ किए गए आन्दोलनों और सत्याग्रह सम्बन्धी घटनाएँ देखेंगे। इन आन्दलनों के रूप में लड़ी जाने वाली लड़ाइयों का आधार हिंसात्मक नही, अहिंसात्मक था और तब मैं आप से कहूँगा कि इस लड़ाई को अहिंसात्मक रूप देने की प्रेरणा गांधी जी को इतिहास ने दी, विशेष रूप से अठारह सौ सत्तावन के इतिहास ने। क्रान्तिकारी सुखदेव के पत्र का उत्तर देते हुए उन्होंने 'यंग इण्डिया' में जो कुछ लिखा उसमे एक बात यह भी लिखी—"भारत की भूमि तथा उसकी परम्परा हत्याओं के उपयुक्त नही है, इस देश के इतिहास से जो सहायता मिलती है, उससे मालूम होता है कि राजनीतिक हिंसा यहाँ उन्नति नही कर सकती।" स्पष्ट है कि गांधी जी ने इतिहास से शिक्षा ग्रहण की। इसी इतिहास ने गांधी जी को अपना सन्देश दिया कि 'गांधी हिंसा की लड़ाई में शत्रु से तुम्हारे देशवासी पहले भी परास्त हो चुके हैं, शत्रु तुम से अधिक शक्तिशाली है तुम्हारी रही सही शक्ति पहले ही विनष्ट हो चुकी है अतः तुम ऐसी भूल फिर न करना अन्यथा मानव संहार तो होगा ही भारतीयों की स्वाधीनता और 'स्वराज्य' की मौत सदा के लिए हो जायगी और फिर युगों तक कल्पना में भी आशा नही की जा सकेगी।'

इतिहास के इसी सन्देश को ग्रहण कर गाँधी जी ने अहिंसा और असहयोग के अस्त्रों से स्वाधीनता की लड़ाई लड़ी जिससे घोर नर संहार की पुनरावृति नही हुई और अन्ततोगत्वा स्वाधीनता और स्वराज्य की उपलब्धि हुई। अब आप ही बताइए कि इतिहास इससे बड़ा लोकमंगलकारी सन्देश और क्या दे सकता है। इतिहास की इसी महत्ता को दृष्टिगत करते हुए राजतरंगिनी के रचयिता, इतिहासकार कल्हण ने 'इतिहास को आने वाली पीढ़ियों का शिक्षक माना है। वास्तव में इतिहास का महत्व-पूर्ण उपयोग प्रगति के मार्ग का दिशाबोधन करना है जिससे यात्री उसके मोड़ तोड़ को समझ सके, उतार चढ़ाव का ध्यान रखें, खड्डों के दचकों से बच सकें और रपटन और फिसलन से सतर्क हो जाए······यह मनुष्य के उज्जवल भविष्य का सूचक है और उसकी निरन्तर प्रगति का निदर्शक है।[1]

---

1. इतिहास दर्शन : डॉ० बुद्ध प्रकाश, (पृ० 398) संस्करण 1962

इतिहास के महत्व और उसके शिक्षक रूप को स्वीकारते हुए श्री हंसराज रहवर लिखते हैं—"अंग्रेजी शासकों ने शिक्षणालयों पर कब्जा करके हिन्दुस्तान के इतिहास को सर्वथा विकृत कर दिया था। वे नवविकसित दिमागो मे निरूत्साह की यह भावना भर देना चाहते थे कि हिन्दुस्तानी कौम सदा से पिछड़ी हुई है और वह सिर्फ दास बनी रहने के लिए पैदा हुई है। इस भ्राति पूर्ण धारणा का खडन करने के लिए राना डे, तिलक और लाजपत राय आदि कॉग्रेसी नेताओ और बुद्धिजीवियों ने इतिहास को फिर से लिखा ताकि इस हीन भावना को दूर किया जाए।

स्पष्ट है कि इतिहास के लेखन का देशवासियो पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इतिहास को शस्त्र-गृह माना गया है जहॉ से शासित जातियो को अपने विदेशी शासको के विरुद्ध लडने के लिए संघर्ष की प्रेरणा मिलती है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि उपन्यास और इतिहास दोनो के सृजन का उद्देश्य राष्ट्र, राष्ट्रवासियो तथा सर्वोपरि मानव की रक्षा करना है। ये दोनो ही मानव को लोक मगल की ओर प्रवृत होने की प्रेरणा प्रदान करते है।

(च) इतिहास और राजनीति : सीमांकन

प्रस्तुत अध्याय के खण्ड 'ग' एव 'घ' मे इतिहास के सम्बन्ध मे सविस्तार चर्चा की गयी है। अध्याय दो के अन्तर्गत प्रामाणिक आधुनिक भारतीय इतिहास का सिंहावलोकन किया जाएगा एवं इस इतिहास को आधार मानकर चौथे-पॉचवे व छठे अध्याय मे क्रमश: इतिहास प्रभावित उपन्यास, इतिहास मुक्त उपन्यास एवं हिन्दी कहानियो मे इतिहास, शीर्षक के अन्तर्गत उपन्यासो के माध्यम से उपलब्ध होने वाले इतिहास का सम्यक विवेचन किया जाएगा। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि इतिहास हमारे अध्ययन की महत्वपूर्ण इकाई है। किन्तु खेद का विषय है कि जिसे हमने इतिहास की संज्ञा दी है, कतिपय विद्वानो द्वारा उसे ही राजनीति मान लेने के कारण हमारे लिए यह अनिवार्य हो गया है कि हम इस भ्रॉति का निराकरण करे।

वस्तुत: इतिहास और राजनीति की प्रकृति मे पर्याप्त अन्तर है। दोनो की पृथक सीमा है, दोनों के मध्य गौर से देखने पर विभाजक-रेखा दृष्टिगोचर होती है। किन्तु चूँकि इतिहास की धारा राजनीति के साथ समानान्तर रूप से प्रवाहित होती है अत: मात्र इसलिए दोनों को एक रूप करके देखना न्याय-सगत नही है।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है, प्राचीन काल में इतिहास का क्षेत्र व्यापक था, इस अर्थ में कि धर्म पुराण और अर्थशास्त्र आदि इतिहास की परिधि में ही समाहित थे किन्तु कालान्तर में धर्म अर्थशास्त्र आदि का स्वतन्त्र अस्तित्व हो गया

और इतिहास का दायरा संकुचित हो गया। किन्तु आगे चलकर इतिहास ने एक नवीन ढंग से पुनः अपने क्षेत्र का विस्तार कर लिया इस अर्थ में कि उसका प्राचीन इतिहास मध्यकालीन इतिहास आधुनिक इतिहास के रूप मे विभिन्न शाखाएँ हो गयी। जहाँ तक प्राचीन एव मध्यकालीन इतिहास का प्रश्न है राजनीति से उसका कोई मतभेद उत्पन्न होने की गुंजाइश नही है किन्तु इतिहास के आधुनिक स्वरूप को लेकर मतभेद उत्पन्न होने का आभास मिलता है। ऐसा, प्रायः आधुनिक इतिहास को राजनीति से पृथक करके न देखने के कारण हुआ है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि जिस प्रकार गणित की सहायता के बिना 'बीजगणित' का काम नही चल सकता (फिर भी दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है) उसी प्रकार राजनीति के विना इतिहास विकलाँग हो जाएगा, उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा। किन्तु इसी आधार पर दोनों को अदल-वदल करके देखना उनके जुदा-जुदा अस्तित्व को एक कर देना है। वस्तुतः राजनीति और इतिहास के बीच क्रमशः नदी (जल) नाव का संयोग है। जिस प्रकार नाव के अभाव में नदी का महत्व तो अक्षुण रह सकता है किन्तु नदी के अभाव में नाव की सार्थकता में सन्देह है; उसी प्रकार इतिहास के अभाव में राजनीति तो जीवित रह सकती है किन्तु राजनीति के अभाव मे इतिहास का निर्वाह कठिन है। यह बात अलग है कि व्यवहार में ऐसी राजनीति के उदाहरण उपलब्ध न हो जिसके साथ इतिहास न जुड़ा हो।

जैसा कि ऊपर कहा गया, इधर साहित्य के क्षेत्र मे कतिपय विद्वानों ने भारत के आधुनिक इतिहास को राजनीति या फिर राजनीति का अग मानकर कुछ ऐसे उपन्यासों को, जो कि उपन्यासों के चिरपरिचित स्वीकृत वर्गीकरण के अन्तर्गत किसी एक श्रेणी में पहले से ही गणना में आ चुके है, राजनीतिक उपन्यासों के अन्तर्गत स्थान देते हुए उनमें अभिव्यक्त आधुनिक इतिहास को इतिहास न कहकर राजनैतिक अभिव्यक्ति माना है। कोई उपन्यास विशेष इतिहास, राजनीति धर्म या समाजशास्त्र से प्रभावित तो हो सकता है किन्तु मात्र इस प्रभाव के आधार पर उसे राजनीतिक धार्मिक या समाजशास्त्रीय उपन्यास की संज्ञा प्रदान करना न्याय-संगत नही है। जो हो, इस प्रकार की भ्राँति के मूल में कदाचित इतिहास और राजनीति की प्रकृति के अन्तर को ठीक से न समझ पाना है।

मनुष्य की बुद्धि के विकास के साथ-साथ उसके ज्ञान का विस्तार हुआ और किसी क्षेत्र विशेष के ज्ञान का, उसने अपनी सुविधा के लिए नामकरण कर दिया। उदाहरण के लिए दर्शन सम्बन्धी ज्ञान को दर्शनशास्त्र समाज-सम्बन्धी ज्ञान को समाजशास्त्र रसायन सम्बन्धी ज्ञान को रसायनशास्त्र नाम दे दिया और वर्षों पूर्व किए गए इस नामकरण को ज्ञान विशेष की प्रकृति को दृष्टिगत करते हुए हमारी बुद्धि ने स्वीकार कर लिया उसे मान्यता दे दी। ज्ञान विशेष का नाम सुनते ही उसकी प्रकृति का बिम्ब

हमारे कल्पना पटल पर उभर आता है। यही स्थिति इतिहास और राजनीति की भी है। इनिहास शब्द सुनते ही हमारे कल्पना पटल पर इतिहास का बिम्ब उभर आता है, हम कल्पना में सत्ता का सत्ता से, राज्य का राज्य से अथवा एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के विरुद्ध संघर्ष के दृश्य देखते है फिर चाहे इस संघर्ष के मूल मे धार्मिक, राजनैतिक या आर्थिक अथवा अन्य किसी प्रकार के कारण हो।

जैसा कि इतिहास शब्द के अर्थ—'यह ऐसा हुआ' से स्पष्ट है, इतिहास भूत की वस्तु है। लेकिन विचारणीय यह है कि क्या इतिहास इस 'भूत' पर काल का बन्धन स्वीकार करता है ? अथवा यों सोचकर देखें कि भूतकाल की कोई घटना कितनी पुरानी हो कि वह 'इतिहास' की परिधि में प्रवेश पाने की हकदार हो जाए। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत है वह कम से कम सौ वर्ष पुरानी होनी चाहिए। इस सम्बन्ध मे मेरी धारणा यह है कि इतिहास भूत काल की घटनाओ पर काल के बन्धन को मान्यता नही देता। एक दिन पूर्व की घटना भी भूतकालीन है और इस दृष्टि से, यदि वह इतिहास की प्रकृति से मेल खाती है तो निश्चित रूप से 'इतिहास' कहलाने की अधिकारिणी है। दूसरी बात यह है कि घटना का मात्र इतिहास की प्रकृति का होना ही पर्याप्त नहीं है, इतिहास की सीमा में प्रवेश पाने के लिए घटना का पूर्ण होना भी अनिवार्य है। इसे उदाहरण की सहायता से यों समझा जा सकता है—

द्वितीय महायुद्ध 1939 से 1945 तक चला। महायुद्ध की यह घटना निर्विवाद रूप से इतिहास की घटना है, उसकी प्रकृति के अनुकूल है, ऐसी स्थिति में यदि एक इतिहासकार 1940 में द्वितीय महायुद्ध का इतिहास लिखना प्रारम्भ करे जो उसके लिए नाजी घटना है, वर्तमान का चित्र है जिसके चरम परिणति तक पहुँचने में विलम्ब है। तब यदि भूतकालीन घटना के साथ सौ वर्ष पुरानी होने की शर्त जोड़ दें तो यह घटना इतिहास की परिधि में कदापि नहीं आ सकती। तब क्या मात्र ताजी घटना होने से उसके ऐतिहासिक स्वरूप में अन्तर आ जाएगा ? कदापि कहीं। तो उसे इतिहास मान लिया जा सकता है ? इसके उत्तर में यही कहना होगा कि घटना इतिहास की परिधि में स्थान पाने के योग्य तो है किन्तु उस समय तक नहीं जब तक वह पूर्णत्व को प्राप्त नहीं, कर लेती। इसके लिए इतिहासकार को 1945 में महायुद्ध की समाप्ति तक ही नही युद्ध की घटना के बाद तक होने वाली प्रतिक्रिया और उसके प्रभाव के शून्य होने तक प्रतीक्षा करनी होगी, अन्यथा वह घटना को पूर्णत्व प्रदान नहीं कर सकेगा।

जहाँ तक राजनीति का प्रश्न है, मोटे तौर पर राजनीति किसी राष्ट्र के शासकों या सत्ता द्वारा राष्ट्र की सुरक्षा और कल्याण के निमित्त शासन करने के विधान का नाम है। जब इस विधान का, राष्ट्र के हित में राष्ट्र तक सीमित न रखकर

पर-राष्ट्रों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की अवस्था तक विस्तार किया जाता है तो वही विधि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का रूप धारण कर लेती है। राष्ट्र के ही अन्दर जब शासक वर्ग द्वारा तथा कथिक राज्य संचालन या शासन सम्बन्धी विधान से समाज पर या समाज द्वारा विधान पर अथवा राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र पर आघात होता है तो प्रतिक्रिया स्वरूप कुछ घटनाएँ जन्म लेती हैं और तब इतिहास का जन्म होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि राजनीति इतिहास को जन्म देती है। इसका एक उदाहरण देखिए—

अंग्रेजों ने ब्रिटेन की समृद्धि या कहे अपने देश के हित-साधन के लिए भारत-वर्ष का शोषण करना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने हमारे देश की अर्थ व्यवस्था को गहरा धक्का पहुँचाया। वे भारत से कच्चा माल जहाजों द्वारा इग्लैण्ड ले जाते थे। लेकिन इतने से भी उन्हें सन्तोष नही हुआ। उन्होंने देखा कि जो जहाज भारत से कच्चा माल लेकर इगलैण्ड आते है उन्हे वापस लौटना होता है किन्तु अशान्त समुद्र मे वे बिना भार के नही चल सकते। अतः उन्होने जहाजो पर वजन लादने का उपाय ढूँढ़ निकाला। अंग्रेज शासको ने उन जहाजो में नमक भरकर भेजना प्रारम्भ किया और अपने नमक को भारत में खपाने के लिए भारतीय नमक पर कर लगा दिया।[1] यह अंग्रेजों की राजनीतिक चाल ही कही जाएगी जिसके परिणामस्वरूप नमक कानून भंग करने के लिए दण्डी यात्रा की; नमक कानून के विरोध में देशव्यापी अन्दोलन हुआ जिसे इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना समझा जाता है।

इसी प्रकार हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए पृथक-पृथक मताधिकार नीति निर्धारित करना, बंगाल विभाजन के प्रयास द्वारा उनमें फूट डालना ब्रिट्रिश शासकों की राजनीति की प्रमुख विशेषता थी, इसी के फलस्वरूप मुस्लिम लीग का जन्म हुआ जो कालान्तर में देश के विभाजन का कारण बनी। देखा आपने, राजनीति किस प्रकार इतिहास का निर्माण करती है।

राजनीति शासक या सत्ता-वर्ग के मस्तिष्क की उपज होती है जिसे व्यवहार में लाने के फलस्वरूप इतिहास बनता है। हम तीन शब्द प्रायः सुनते और पढ़ते आए हैं—कारण, कार्य और परिणाम। ये विज्ञान की कसौटी माने जाते है किन्तु इन्हें हम राजनीतिक और इतिहास से भी सम्बद्ध करके यो देख सकते हैं

राजनीतिक विचारो / नियमों का उदय→कारण (राष्ट्र की सुरक्षा एवं कल्याण)→कार्य (राजनीति पर अमल)→परिणाम (ऐतिहासिक घटनाओं अर्थात् इतिहास का जन्म)

---

1. कांग्रेस का इतिहास : पृष्ठ 186-187

उपर्युक्त विवेचन को दृष्टिगत करते हुए यह कहा जा सकता है कि कांग्रेस के जन्म और भारत के विभाजन के साथ देश की स्वतन्त्रता तथा इन महत्वपूर्ण घटनाओं के बीच जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड, चम्पारन सत्याग्रह, साइमन कमीशन तथा विदेशी वस्त्रों के वहिष्कार, नमक आन्दोलन, अगस्त प्रस्ताव तथा मुस्लिम लीग की प्रत्यक्ष कार्यवाही, आदि की सभी छोटी-बड़ी घटनाएँ इतिहास की वस्तु है। इस कथन की पुष्टि हेतु हम कतिपय विद्वानो के विचार उधृत करते है।

······जो इस समय वर्तमान हैं वह क्षण भर बाद अतीत बन जाता है।··· उदाहरण के लिए सन् 1942 के भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन, भारतीय स्वतन्त्रता प्राप्ति, भारत के देश विभाजन आदि की उल्लेखनीय घटनाएँ विगत हो चुकी है और इतिहास का विषय बन गयी है।···[1]

यशपाल ने भूठा सच मे उपन्यास मे आधुनिक इतिहास की बहुत बडी घटना को उपजीव्य बनाया है।···यदि भारत के आधुनिक इतिहास को देखा जाए तो सबसे रोमांचकारी घटना जो उस दौरान हुई है, वह है भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति।···[2]

······इस सब के साथ ब्रिटिश सत्ता का दमन चक्र जमीदारो के अत्याचार तथा मिल मालिकों इत्यादि के शोषण चक्रो का एक भिन्न इतिहास बन रहा था।···[3]

उपर्युक्त उद्धृत मतों से भी इस बात की पुष्टि हो जाती है कि द्वितीय अध्याय में जिस सामग्री को प्रस्तुत करने जा रहे हैं वह यत्र-तत्र राजनीति की सीमा का स्पर्श भले ही करती हो किन्तु अपने आप में वह विशुद्ध रूप से इतिहास है।

□□□

1. डॉ० शशिभूषण सिंहल के ऐतिहासिक उपन्यास लेख से (पृष्ठ 68)
2. मन्मथनाथ गुप्त के भारत विभाजन का औपन्यासिक महाकाव्य : भूठा सच, लेख से (पृष्ठ 253)
3. स्वान्त्योत्तरपूर्व के हिन्दी उपन्यास : कान्तिवर्मा (पृष्ठ 10) सुषमा प्रियदर्शिवी द्वारा सम्पादित पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास' में संग्रहीत लेख'

दूसरा अध्याय

भारतीय इतिहास : सिंहावलोकन
(सन् 1857 से 1960)

जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में हम हिन्दी कथा साहित्य के माध्यम से भारतीय इतिहास का अध्ययन करेंगे, हिन्दी में कथा साहित्य का जन्म यद्यपि उन्नीसवी सदी के चतुर्थ चरण में हुआ तथापि सच्चे अर्थों में उपन्यास और कहानी का प्रारम्भ बीसवी सदी के प्रथम चरण से माना जाता है। ऐसी स्थिति में उपन्यास या कहानी के जन्म के पूर्व कथा साहित्य में इतिहास की अभिव्यक्ति का प्रश्न ही नही उठता और जब उपन्यास ने विकसित होना प्रारम्भ किया उस समय कथाकार अपनी कृतियो मे परिस्थितियोवश अथवा अपने रुझान के कारण प्राचीन इतिहास की अपेक्षा तत्कालीन इतिहास को ही अभिव्यक्ति प्रदान करने में व्यस्त रहा। इसका अर्थ यह नही है कि नवजात उपन्यास के साये से प्राचीन इतिहास वंचित रहा। अपनी सत्ता स्थापित करने के बाद उपन्यास ने प्राचीन इतिहास को भी अभिव्यक्ति प्रदान की, किन्तु उसका मोह समकालीन इतिहास के प्रति अधिक था यही कारण है कि हिन्दी कथा साहित्य में जो भी प्रत्यक्ष या परोक्ष अथवा ध्वनित इतिहास अभिव्यक्त हुआ है वह सन् 1857 और इसके बाद का ही है। सन् 1857 की क्रान्ति ने भारतीय इतिहास में एक नवीन मोड़ उपस्थित किया। इस काल में भारतीय इतिहास की आत्मा अपने पुरातन निर्मोक का परित्याग कर सर्वथा नवीन चोला धारण करती हुई परिलक्षित होती है, भारतीय इतिहास हमारे सम्मुख नवीन रूप में उपस्थित होता हुआ प्रतीत होता है। इन्ही महत्वपूर्ण तथ्यों को दृष्टिगत करते हुए हमने भारतीय इतिहास के 1857 से लगभग 1960 तक के काल को चुना है और सिंहावलोकनार्थ इसे चार भागों में विभक्त किया है।

(क) भारतीय इतिहास : 1857 से 1884 तक
(ख) भारतीय इतिहास : 1885 से 1916 तक
(ग) भारतीय इतिहास : 1917 से 1947 तक
(घ) भारतीय इतिहास : 1948 से 1960 तक

कालक्रमानुसार किये गये उपर्युक्त विभाजन के आधार पर इतिहास का सिंहावलोकन करने से पूर्व भारत में विदेशी जातियो के आगमन, संघर्ष आदि की संक्षिप्त चर्चा करना भी अनिवार्य है ताकि हम भारतीय इतिहास के निर्माण में विविध घटनाओं को ठीक से समझ सकें।

भारत में विदेशी जातियों का आगमन

विदेशी जातियाँ भारत में व्यापारी के रूप मे आयी। क्या पुर्तगाली, क्या अंग्रेज और क्या फ्रान्सीसी सभी व्यवसायी बनकर आये। अंग्रेज और डच व्यापारियों का आगमन तो अकबर के काल मे ही हो गया था। किन्तु इधर अन्तिम मुगल बादशाह औरंगजेब की शक्ति क्षीण होते ही देश में अव्यवस्था, अराजकता, निर्धनता, अरक्षा फलने-फूलने लगी थी। अत: ऐसी परिस्थितियों में देश की आन्तरिक कमजोरियों को व्यवसायी रूप में आने वाली पुर्तगाली, अंग्रेज और फ्रान्सीसी जातियों ने समझा और परस्पर लड़ते-भिड़ते भी भारत मे अपनी नीव मजबूत की। सिराजुद्दौला को प्लासी के युद्ध में (1757) पराजय दिलाकर अंग्रेजो ने राजनीति मे हस्तक्षेप किया तो मीरजाफर मीरकासिम को जाल मे फँसाकर बक्सर की लड़ाई (1764) मे स्वयं विजयी होकर समूचे देश में अपनी प्रभुता की धाक जमा दी थी। अंग्रेजों ने मराठों, रोहेलों, सिक्खों आदि के पारस्परिक झगड़ों से लाभ उठाकर उनको पराजित कर दिया और फिर वे सत्ता की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हो गये। रणजीतसिंह की मृत्यु (1839) के बाद सिक्ख राज्य में अराजकता फैल गयी जिसका लाभ डलहौजी ने उठाया जो उस समय (1848) अंग्रेजों की ओर से भारत में कम्पनी का गवर्नर जनरल था। डलहौजी एक तो वैसे ही प्रकृति से साम्राज्यवादी था दूसरे, उसे अनुकूल परिस्थितियाँ मिल गयी थी फिर भला वह क्यों चूकता। उसने पंजाब को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया। जो अंग्रेज भारत में व्यवसायी बनकर आये थे उन्ही ने थोड़े ही समय में भारत में सत्ता स्थापित कर ली थी।

लार्ड डलहौजी का विचार चूँकि ब्रिटिश राज्य का विस्तार करने का था उसने समय का लाभ उठाकर 'पुनरावर्तन का सिद्धान्त' लागू कर दिया जिसके अनुसार देशी राज्य दो भागों मे बाँट दिये गये। एक तो वे राज्य जो अंग्रेजों के अधीन थे और दूसरे वे, जो मित्र राज्य थे; यद्यपि अंग्रेजी राज्य का सरक्षण उन्हें भी प्राप्त था। इतना करने के बाद डलहौजी ने एक कदम और उठाया जिसके अनुसार अधीन राज्यो के राजाओ को, उत्तराधिकारियों के न मिलने पर गोद लेने का अधिकार समाप्त कर दिया और इसी नियम के अन्तर्गत उसने सतारा, तेजपुर, सम्भलपुर, नागपुर और झाँसी जैसे अधीनस्थ राज्यों को अंग्रेजी राज्य में विलय कर दिया। डलहौजी ने चूँकि ऐसे नियम का प्रतिपादन कर देशी राज्यों को हड़पने का काम हिन्दू धर्म को आहत

करके किया था और चूंकि अधीनस्थ देशी राजाओं के हितो को हानि पहुँचायी थी अतः इनका परिणाम निकट भविष्य मे बड़ा घातक सिद्ध हुआ। इसी प्रकार के और भी अनेक अनुचित कार्य डलहौजी ने किए। उदाहरण के लिए उसने बाजीराव पेशवा (द्वितीय) की मृत्यु के पश्चात (1855) उसे मिलने वाली पेंशन उसके पुत्र दुन्दुपन्त (नाना साहब) के लिए बन्द कर दी। इस सबका परिणाम निकट भविष्य मे व्यापक क्रान्ति (1857) के रूप मे सामने आया। अपने प्रति किये गये अन्याय के विरुद्ध नाना साहब ने भी इस क्रान्ति मे अंग्रेजों से जमकर मोर्चा लिया।

(क) भारतीय इतिहास (1857-1884)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि सन् 1857 से पूर्व मराठों एवं सिक्खों ने अंग्रेजी सत्ता को उखाड़ फेकने के प्रयास तो जी जान से किये किन्तु चूँकि उनमें एकता का अभाव था अतः जिस पर सकट आता था वही उसका सामना करता था। उनके स्वार्थ और पारस्परिक झगडो ने उनके मस्तिष्क मे यह विचार ही उत्पन्न नही होने दिया कि वे स्वयं तो एक देश के है अतः पहले विदेशी सत्ता को एक होकर उखाड़ फेंके। इसके अतिरिक्त धन सम्पत्ति और अस्त्र-शस्त्र की दृष्टि से भी विदेशी जातियाँ समृद्ध थी अतः उनकी जडे दिन पर दिन जमती ही चली गयी। महाराजा रणजीतसिंह ने अवश्य एकता स्थापित करके अपने राज्य का विस्तार किया था किन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् अग्रेजो की शक्ति फिर बढ़ गयी। कहने का तात्पर्य यह है कि सन् 1857 की क्रान्ति मे 'सगठन और एकता' की भावना का जन्म हो गया था, अंग्रेजी सत्ता से न केवल अपनी रक्षा की अपितु उसे समूल उखाड़ फेकने की भावना प्रवल हो रही थी। इस भावना के मूल में अनेक कारण थे जिन्होने भारतीय वीरों को सगठित कर दिया और वे प्रथम बार 'एक' होकर अग्रेजो को देश से निकाल देने के लिए कटिबद्ध हुए।

सन् 1857 की क्रान्ति को जन्म देने वाले अनेक कारण थे। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि पुनरावर्त्तन के सिद्धान्त की आड़ मे देशी राज्यो का वर्गीकरण करके (1) अग्रेजों ने गोद न लेने की प्रथा का प्रारम्भ करके अनेक अधीनस्थ राज्य हड़प लिये थे अतः इन राज्यो के राजाओं में भारी असन्तोष था, वे अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा में थे। झाँसी की रानी, लक्ष्मी बाई की भी यही स्थिति थी। उन्होंने आनन्द राव नामक जिस सजातीय बालक को गोद लिया था उसको अंग्रेज अधिकारियों ने मान्यता नहीं दी। (2) नाना साहब की पेंशन बन्द कर दी गई थी। (3) मुगल बादशाह बहादुर शाह भी गद्दी छिन जाने से क्रुद्ध हुआ बैठा था। (4) अग्रेजों के आगमन के साथ औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव भारत में चला आया जिसके फलस्वरूप

देश के अनेक कारीगर बेरोजगार हो गये थे। (5) राज्यो के विलय से देशी राजाओ के संरक्षण में पलने वाले नौकर चाकर व सैनिक बेरोजगार हो गये थे। (6) जमीदारो की जमीने छिन जाने से वे भी कम असन्तुष्ट न थे। (7) सेना के अन्दर अंग्रेज सैनिक हिन्दू सैनिकों के प्रति अनादर भाव प्रकट करते थे, उनके साथ पक्षपात होता था। इसी प्रकार के कुल कारणों ने देशी राजाओ को विदेशी अत्याचारी अंग्रेजों के विरुद्ध हिंसात्मक विद्रोह करने के लिए प्रेरित किया। इस विद्रोह मे झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई, तॉत्याटोपे, दुन्दुपन्त (नाना साहब) मुगल सम्राट बहादुरशाह उनकी पत्नी जीनत महल, वाजिदअलीशाह एवं जगदीशपुर के राजा कुँवरसिंह के नाम प्रमुख है। ये सभी इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति है। विद्रोह चूँकि पूर्व नियोजित था अतः तैयारियाँ पहले से ही चल रही थी किन्तु समय के पूर्व ही हिंसात्मक विद्रोह कर दिया गया। मई 1857 में ही विद्रोह की ज्वाला भयकर रूप से धधक उठी। अवध, कानपुर, लखनऊ, बनारस, झाँसी आदि स्थान इस आन्दोलन के सचालन केन्द्र थे। भयंकर रक्तपात हुआ और विद्रोह अंग्रेजों द्वारा दबा दिया गया। इस असफलता के अनेक कारण थे जैसे, विद्रोह समय के पूर्व बिना पूरी तैयारी के हुआ, जिसमें देश के सभी भागों से सहयोग नहीं मिला। ऐसा भी नही हुआ कि कम से कम जिन राजाओं या प्रान्तो ने सहयोग नही दिया वे तटस्थ ही रहे हों; इसके विपरीत उन्ही अंग्रेजों की ही मदद की। क्रान्ति का नेतृत्व करने वालों के प्रति विश्वासघात हुआ। अंग्रेज आधुनिक युद्ध सामग्री से समृद्ध थे। इसके अतिरिक्त जहाँ अंग्रेजों के पास सवाद और यातायात के आधुनिक साधन थे जिनका उन्होने विद्रोह को दबाने में लाभ उठाया वहाँ भारतीय क्रान्तिकारियो के पास वह सुविधा नही थी। परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज भविष्य के लिए सतर्क हो गये। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अन्त कर दिया गया तथा भारत के शासन की बाग-डोर सीधे ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने सम्भाल ली।

धार्मिक अन्ध-विश्वास और रूढिवादिता भी देश और समाज की उन्नति मे कम बाधक सिद्ध नही होती। इस बात की ओर भारतीय विचारको एव सुधारकों का ध्यान गया। फलतः उन्होने सामाजिक बुराइयों को बहुत हद तक दूर किया। भारतीय समाज की दशा बड़ी शोचनीय थी। नारी का अस्तित्व पराधीनता के बन्धनों मे जकड़ा हुआ था। उसे जीने का अधिकार तब तक ही था जब तक उसका पति जीवित रहे। उसके बाद तो उसे अपने सतीत्व की परीक्षा देनी होती थी।

सामाजिक एव राष्ट्रीय चेतना का उदय

वर्ण व्यवस्था का आयोजन धर्म के आवरण मे किया गया था। अंग्रेज तो भारतीयो के लिए ही कहते थे कि ईश्वर ने उन्हें भारतीयों पर शासन करने के निमित्त ही बनाया है किन्तु भारतीय, भारतीय के प्रति अपनी श्रेष्ठता का दावा धर्म की आड़ मे करते थे

और निम्न वर्ग के प्रति छुआछूत का भाव रखते थे। रूढ़िवादिता और अन्धविश्वास का वोलबाला था। इन सभी सामाजिक दोषों के निराकरण हेतु भारतीय समाज सुधारकों एव धर्म और भारतीय सस्कृति की रक्षार्थ कदम उठाया जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न संस्थाओं की स्थापना हुई।

ऐसे चिन्तकों और सुधारकों मे राजा राममोहन राय का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। यद्यपि लार्ड विलियम बेंटिक (1825) ने भी अनेक सामाजिक सुधार किये। उन्होंने सती प्रथा, शिशु हत्या, नर हत्या और दास प्रथा आदि का अन्त करने का प्रयास किया[1] किन्तु इन सामाजिक बुराइयो का पूरी तरह अन्त नही हुआ, यहाँ तक कि 1857 और उसके बाद तक भी यह प्रथा चलती रही। इस बात के प्रमाण साहित्य के माध्यम से उपलब्ध होते है।[2] राजा राम मोहन राय ने स्वतन्त्र रूप से सन् 1828 मे ब्रह्म समाज' की स्थापना की जिसके माध्यम से उन्होंने अन्ध-विश्वास तथा सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध अभियान छेड़ा। ईसाई मत के प्रचार पर रोक लगा दी गयी। राजा राममोहन राय ने जहाँ एक और समाज के सती प्रथा, बहुविवाह जैसे दोषों का निराकरण करने का प्रयास किया वहाँ दूसरी ओर उन्होंने विधवा-विवाह एवं अंग्रेजी शिक्षा का जोरदार समर्थन किया। राजाराम मोहन राय का मत था कि अग्रेजी शिक्षा भारतीयों को पराधीनता के बन्धन से मुक्त कराने मे सहायक सिद्ध होगी।

राजा राममोहन राय की असामयिक मृत्यु से समाज सुधार का दायित्व देवेन्द्रनाथ टैगोर तथा केशवचन्द्र सेन को सम्हालना पड़ा। केशवचन्द्र सेन ने मदिरा पान के विरुद्ध आन्दोलन शुरू किया। सन् 1872 में 'ब्रह्ममेरिज एक्ट' को पास कराया जिसके अनुसार बालविवाह प्रथा का अन्त हुआ, बहु विवाह को अपराध घोषित किया

---

1. भारतीय इतिहास का परिचय : राजबली पाण्डेय (पृ० 368)
2. जो खल भग्गा तो सखी, मोताहल सज थाल।
   निज भग्गा तो नाहरो, साथ न सूनो टाल ॥ (वीर सतसई: दोहा संख्या 15

   यह दोहा सूर्यमल मिश्रण की वीर सतसई से उद्धृत किया गया है जिसका अर्थ है कि हे सखी यदि शत्रु भाग गए हों तो मोतियों से थाल सजा ला जिससे प्राणनाथ की आरती उतारुँगी और यदि अपने ही लोग भाग चले हों तो पतिदेव का साथ मत विछुड़ने दे अर्थात् मेरे साथ शीघ्र सती होने की तैयारी कर।

   ऐसे ही और भी दोहे वीर सतसई में उपलब्ध होते है। जिनकी रचना 1857 की गदरकालीन परिस्थितियों में हुई थी। इन दोहों में तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्र प्रतिबिम्बित हुआ है।

गया, विधवा विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह की स्वीकृति मिल गयी। ब्रह्मसमाज ने इस दिशा मे प्रशंसनीय कार्य किया।

केशवचन्द्र सेन की ही प्रेरणा से 1867 में 'प्रार्थना समाज' के नाम से जो कि ब्रह्म समाज की ही प्रतिछाया थी, एक समाज स्थापित हुआ जिसका नेतृत्व महादेव गोविन्द रानाडे ने किया। यद्यपि इन समाजों का मूलभूत उद्देश्य तो समाज सुधार ही था तथापि बाह्य तौर पर उनके उद्देश्यों में छोटे-मोटे अन्तर दीख पड़ते थे। प्रार्थना-समाज का उद्देश्य भी वर्ण-व्यवस्था तथा बाल-विवाह की समाप्त करना तथा विधवा विवाह एवं स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन देना था। प्रार्थना समाज ने अन्य संस्थाओ की अपेक्षा अधिक सामाजिक कार्य किया। निर्धनों एवं स्त्रियों की शिक्षा के लिए व्यवस्था करने तथा विधवा आश्रमों की स्थापना करने का कार्य प्रार्थना समाज ने सफलतापूर्वक किया। प्रार्थना समाज के प्रारम्भ होने के 7-8 वर्ष बाद ही एक नवीन समाज की स्थापना हुई जिसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था तथा जिसकी सस्थाएँ आज भी सफलता-पूर्वक कार्य कर रही है। यह समाज 'आर्य समाज' के नाम से दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित किया गया था। आर्य समाज ने जहाँ एक ओर महर्षि दयानन्द के नेतृत्व में, अधिकांश सामाजिक बुराइयो को समूल नष्ट करने का प्रयास किया वही देश भक्ति के भाव भी जागृत किए। यों तो जिन दोषों को संस्थाओं ने दूर करने का प्रयास किया उन्ही दोषों का आर्य समाज ने भी निराकरण किया किन्तु इस क्षेत्र मे आर्य समाज को अपेक्षाकृत अधिक व्यापक सफलता मिली।

- आर्य समाज आज भी जीवित रहकर अपने कर्त्तव्य की पूर्ति में लगा हुआ है। आर्य समाज ने निम्न स्तर के लोगों से लेकर ऊपर तक सभी के लिए प्रवेश द्वारा खोल दिया था और इस प्रकार जाति भेद की संकीर्णता को मिटाने का सफल प्रयास किया था। एनीबेसेन्ट नामक विदेशी महिला ने सन् 1893 में भारत आकर एक थियोसी-फिकल आन्दोलन प्रारम्भ किया। इस आन्दोलन ने भी समाज के मंगल कार्य में योगदान दिया; धर्म, आदर्श और संस्कृति से दूर ले जाने वाली पाश्चात्य शिक्षा को प्रभावहीन तथा पश्चिम के बुद्धिवाद की श्रेष्ठता के दौर-दौरे को मन्द कर दिया।[1] इसी प्रकार की एक अन्य संस्था और भी थी जो कांग्रेस के जन्म के पूर्व भारत में कार्यरत थी। यह संस्था थी 'रामकृष्ण मिशन' यह आध्यात्मिक किन्तु साथ ही लोक सेवी संस्था थी। इसी प्रकार गोपालकृष्ण गोखले ने सन् 1905 में 'भारत सेवक समाज' की स्थापना की जो आज भी अपने व्यापक रूप में जीवित है। किन्तु उन्नीसवीं शती के

1. कांग्रेस का इतिहास (संक्षिप्त 1958) : डॉ० पट्टाभिसीतारामय्या : (पृष्ठ 9)

अन्तिम चरण मे (1885) एक महान् राष्ट्रीय सस्था कांग्रेस का जन्म हो चुका था जो कि समय की माँग थी, जिसका सम्बन्ध सम्पूर्ण राष्ट्र से था, अतः विद्वानो का ध्यान उस ओर आकर्षित हो चला था।

यद्यपि सन् 1857 की क्रान्ति की असफलता से भारतीय निरुत्साहित हो गये थे, तथापि अंग्रेजो की भेदभाव की नीति, शोषण की प्रवृत्ति उस हाल में बुझी अग्नि को पुनः प्रज्जवलित किया चाहती थी। सिविल सर्विस की परीक्षा के लिए आयु घटाना, देशी समाचारपत्रों को स्वतन्त्रता छीन लेना, उनसे जमानते माँगना, अफगानिस्तान के युद्ध का व्यय भारतीयो के सिर मढ़ना, दक्षिण भारत मे 1877 में पड़े अकाल के प्रति उपेक्षा भाव रखना आदि ऐसी बाते थी जिन्होने भारतीयों और अंग्रेजों के मध्य भेदभाव की गहरी खाई बना दी थी। आर्म्स एक्ट ने तो भारतीयों के मन मे अंग्रेजों के प्रति गहरा अविश्वास और सन्देह उत्पन्न कर दिया था। इस एक्ट के अनुसार भारतीय विना लाइसेन्स के शस्त्र नही रख सकते थे। लार्ड लिटन ने इंगलैण्ड से आने वाले सूती कपड़े पर से आयात कर हटा दिया था जिसके कारण भारत के सूती वस्त्र उद्योग की अपार क्षति पहुँची थी। कारीगर बेरोजगार हो गये थे।

ऐसी अवस्था में, ऊपर उल्लिखित सामाजिक और धार्मिक सस्थाओं द्वारा उद्भूत सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित भारतीय, जिनकी व्यक्तिगत और सामाजिक स्वतन्त्रता का गला घोंटा जा रहा था, विस्फोटक कार्यवायी करने की योजना बना रहे थे। ऐसे ही नाजुक क्षणों में लार्ड ह्यूम ने कांग्रेस नामक संस्था की स्थापना करके भारतीयों की विद्रोह की भावना को शान्त कर दिया। इस प्रकार सन् 1885 मे कांग्रेस की स्थापना हुई और कांग्रेस की स्थापना के साथ ही भारत के इतिहास का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। कांग्रेस की स्थापना के सम्बन्ध में लार्ड विलियम वेडरवर्न का कथन है कि "एक तो ये अशुभ और प्रतिगामी कानून, दूसरे रूस जैसा पुलिस का दमन। इससे लार्ड लिटन के समय में भारत में कोई क्रान्तिकारी विस्फोट होने ही वाला था कि मि० ह्यूम को ठीक मौके पर सूझी और उन्होने इस काम में हाथ डाला।[1]"

सम्भवतः ह्यूम ने इस बात को ध्यान में रखकर कि भारतीयों द्वारा इससे पूर्व भी कुछ ऐसी ही संस्थाओं की स्थापना की जा चुकी है, कांग्रेस की स्थापना की कल्पना की होगी। कांग्रेस के पूर्व भी भारतीयों द्वारा ऐसी संस्थाओं की स्थापना प्रयास हुए थे।[2]

---

1. कांग्रेस का इतिहास—डॉ० पट्टाभिसीतारामय्या—(पृ० 3, 4)'
2 वही (पृ० 5)

(ख) भारतीय इतिहास : (1885 से 1916)

भारतीयों के उक्त प्रयासों को दृष्टिगत करते हुए ह्यूम ने यही उचित एव श्रेयस्कर समझा कि क्यो न इस बढते हुए असन्तोष और विरोध को एक राष्ट्रीय सस्था की स्थापना करके शान्त किया जाए। लार्ड ह्यूम की इस कल्पना को लार्ड डफरिन ने पुष्ट किया जिसके फलस्वरूप भारतीय राजनीतियों की सहमति से 28 दिसम्बर 1885 को बम्बई में कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन हुआ और तभी से आज तक कांग्रेस राष्ट्र की एक शक्तिशाली संस्था के रूप में कार्य कर रही है। वस्तुतः कांग्रेस का इतिहास भारतीयों द्वारा लडी गयी स्वाधीनता की लड़ाई का इतिहास है।

कांग्रेस का जन्म

जैसा कि हम ऊपर कह आये है कि यदि कांग्रेस स्थापना मे अंग्रेज अधिकारी लार्ड ह्यूम का मिथ्या सहानुभूति पूर्ण हाथ न होता और यह किसी भारतीय द्वारा ही गठित होती तो सम्भवतः कांग्रेस के भारतीय स्तम्भों में अंग्रेजी सत्ता के प्रति इतनी भी आस्था न होती। सारे ही स्तम्भ 'उग्र प्रवृत्ति के होते, उसमें उदारता का लेश भी न रहता। किन्तु ह्यूम ने मिथ्या सहानुभूति प्रकट करके भारतीय नेताओ से प्रारम्भ में तो सहानुभूति अर्जित कर ही ली। फलतः भारतीय नेता लगभग 20 वर्ष तक आस्थावान होकर याचना और प्रार्थना के बल पर ही, फिर चाहे उनके द्वारा इस रुख को अपनाया जाना विवशता का ही परिणाम क्यों न रहा हो, अपने उद्देश्यों की पूर्ति की आशा करते रहे। उनकी वह स्थिति सन् 1905 तक चलती रही।

सन् 1905 के बंगाल के विभाजन की घटना ने देश भक्तों को जैसे जागरूक व सचेत कर दिया—क्योंकि लार्ड कर्जन द्वारा बंगाल के विभाजन का कार्य भारत की राष्ट्रीयता पर प्रहार था। बंगाल को हिन्दू और मुसलमान दो जातियों की आड में विभक्त करने का षड़यन्त्र कर्जन ने रचा था ताकि राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने वाली दोनों जातियों में मनमुटाव और भेदभाव की दीवार खड़ी हो जाए। बंगाल चूंकि राष्ट्रीय चेतना के प्रसार और प्रभाव की दृष्टि से सबसे आगे था अतः उसका विभाजन करना अंग्रेजी शासको ने अंग्रेजी प्रभुसत्ता के स्थायित्व के लिए अनिवार्य समझा। यही नही, सम्प्रदाय के आधार पर मताधिकार नीति का निर्धारण भी किया गया।[1]

बंगाल का विभाजन

---

1. एक मुसलमान तीन हजार रुपए साल की आमदनी वाला जहॉ मतदाता हो सकता था वहाँ एक गैर मुस्लिम तीन लाख सालाना आमदनी वाला हो सकता था, मुसलमान ग्रेजुएट को मतदाता बनने के लिए इतना काफी था कि उसे ग्रेजुएट हुए तीन साल हो जायँ परन्तु गैर मुस्लिम के लिए तीस साल हो जाना जरूरी था···।
— कांग्रेस का इतिहास—डॉ० पट्टाभिसीतारामय्या (पृ० 89)

हालांकि वाद में वंग-भग वाली नीति सरकार को रद्द करनी पड़ी किन्तु चूँकि सरकार भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को किसी न किसी प्रकार कुचलने पर आमादा थी अतः वह इस प्रकार का कोई न कोई प्रय।स करती ही रहती थी जिससे राष्ट्रीय आन्दोलन सफल न हो सके। अतः इसी दुर्भावना से प्रेरित होकर सरकार ने मुसलमानों को उकसाया जिसके फलस्वरूप उन्होने अपने साम्प्रदायिक हितों की आड़ मे स्वतन्त्र संस्था की माँग की जिसके आधार पर सन् 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई।

जहाँ एक ओर कांग्रेस की एकता को मुस्लिम लीग ने ठेस पहुँचायी वहाँ दूसरी ओर सूरत मे होने वाले 1907 के अधिवेशन में कांग्रेस की पारस्परिक फूट ने उसकी रही सही एकता को आघात पहुँचाया। उग्र दल, कांग्रेस के उदार दल की नीति में अविश्वास करने लगा—क्योंकि उसके मत में कांग्रेस अपनी उदारता की नीति को अपना कर सरकार के विरुद्ध सही अर्थो में आन्दोलन का संचालन नही कर सकती थी। जहाँ तक राजनीतिक दलों का प्रश्न है वे अवश्य मतभेद होने के कारण अलग हो गये थे किन्तु सामाजिक एकता को वनाए रखने का पूरा प्रयास हो रहा था। इसका अर्थ यह कदापि नही कि राष्ट्रीय आन्दोलन भी शिथिल हो गया हो। सन् 1907 मे स्वदेशी वस्तुओं के ग्रहण और विदेशी माल के बहिष्कार का आन्दोलन पूरे जोरो पर था।

सूरत अधिवेशन

सन् 1906 में स्थापित भारतीय दलित जाति सेवा सघ तथा 1909 में स्थापित सेवासदन इस समाज सुधार की ओर प्रवृत थे। 'सेवा सदन' की स्थापना के मूल में अकाल पीड़ितों की सहायता थी जिसका कार्य भार उभरती हुई सामूहिक सामाजिक एवं राजनैतिक चेतना में नारी जाति को भी सहयोग देने के लिए प्रेरित करना था। जहाँ तक राजनैतिक गतिविधियों का प्रश्न था इस क्षेत्र मे असन्तोष बराबर बना रहा।

सरकार भी अपने दाँव-पेंच खेले विना चूकती न थी। मिन्टो मोर्ले सुधार इसी प्रकार का एक दाँव था। सरकार ने हिन्दू-मुस्लिमों के बीच साम्प्रदायिकता के आधार पर फूट डालने के हर सम्भव प्रयत्न किये। इस प्रकार दोनों छोरों पर विरोधात्मक कार्यवाईयाँ चलती ही रही। सन् 1913 में मुस्लिम लीग की ओर से कांग्रेस के प्रति सहयोग के लक्षण दीख पड़े।[1] इसके पश्चात् आने वाले दो तीन वर्षो में कांग्रेस की ओर

मिन्टो मार्ले सुधार (1909)

1. मुस्लिम लीग ने अपने गत अधिवेशन में बड़े जोर के साथ यह विश्वास भी प्रकट कर दिया कि 'देश का राजनैतिक भविष्य दो महान जातियों (हिन्दू और मुसलमानों) के मेल, सहयोग और सहकार्य पर निर्भर है।' कांग्रेस ने 1913 में मुस्लिम लीग के इस प्रस्ताव की वहुत तारीफ की।

—कांग्रेस का इतिहास—डॉ० पट्टाभिसीतारामय्या (पृ० 68)

ने कोई उल्लेखनीय बात नही हुई क्योकि उधर गांधी जी का दक्षिण अफ्रीका मे अहिंसा और सत्याग्रह मे उलझे रहना, तिलक का छः वर्ष के लिए निर्वासन, 1915 में गोखले की तथा फिरोजशाह मेहता की मृत्यु आदि कारणो से काग्रेस की गति-विधियो में शिथिलता आ गयी थी। किन्तु गांधीजी द्वारा विदेश में सत्याग्रह के सफल प्रयोग ने, 1914 के विश्वयुद्ध ने तथा 1917 की रूसी क्रान्ति ने भारत की सामान्य जनता को भी अभूतपूर्व ढग से नव चेतना प्रदान की, संघर्ष के लिए नवीन उत्साह एवं शक्ति प्रदान की। चूँकि जनता को इस बीच उचित नेतृत्व नही मिला, जिसकी वजह से 1915-16 तक स्थिति शोचनीय ही रही। ऐसी स्थिति में श्रीमती एनीबेसेन्ट ने राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश किया और 'होम रूल आन्दोलन' के माध्यम से स्वराज्य की माँग को दृढ़ता प्रदान करने का प्रयास किया। कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने भी संयुक्त रूप से एकमत होकर स्वराज्य प्राप्ति की योजना बनायी। लखनऊ कांग्रेस के अधिवेशन में तो हिन्दू-मुस्लिम दोनों जातियों में एकता स्थापित हो गयी। कांग्रेस के नरम और गरम दोनों दल भी जो कि सन 1907 के सूरत अधिवेशन मे पृथक हो गये थे, पुनः एक हो गये और इस प्रकार काग्रेस की पूर्ण इकाई तथा मुस्लिम लीग के सहयोग से स्वराज्य की योजना प्रस्तुत की गयी।

(ग) भारतीय इतिहास (1917-1947)

बम्बई एव लखनऊ मे हुए कांग्रेस अधिवेशनो मे मुस्लिम लीग व कांग्रेस की एकता ने सन् 1917 के 'होम रूल आन्दोलन' की पृष्ठभूमि तैयार की। मतभेद का अन्त हो जाने से नेताओं को ठोस कार्य करने के लिए बल मिला उन्होंने अवसर देखकर 1917 मे आन्दोलन को व्यापक रूप प्रदान किया, राष्ट्र मे एक नवीन जागृति का उद्घोष हुआ। किन्तु यह भी एक आम बात हो गयी थी कि अब भी आन्दोलन जैसी गतिविधियों में तेजी आती थी, सरकार का क्रूर और निर्दयता पूर्ण दमन चक्र, चलता था। यह चक्र चलता था प्रेस एक्ट लागू करके समाचार पत्रों से जमानतें माँग कर विद्यार्थियों पर आन्दोलनों और सभाओं में भाग लेने पर पाबन्दी लगा कर अर्थात् सरकार विभिन्न प्रकार की गति विधियों पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा देती थी।

चम्पारन, खेड़ा व अहमदाबाद सत्याग्रह

गांधीजी 1915 के आसपास देश में आये ही थे और देश की राजनैतिक अवस्था का अध्ययन कर रहे थे। उन्होंने देखा कि भारत में कुछ अंग्रेज-गाँवो में जा बसे थे ओर वहाँ 'नील की खेती' करवाने लगे थे और किसानों के मना करने पर उन पर अत्याचार करते थे। 'तीन कठिया' की प्रथा चलाकर भूमि के $\frac{3}{20}$ भाग पर नील की खेती करना किसानों के लिए अनिवार्य कर दिया था। बिहार प्रान्त में यह प्रथा लागू

थी। किसानों की इस शिकायत पर कि उन्हें इस नील की खेती से कोई लाभ नहीं होता फिर भी करनी ही पड़ती है, गांधी जी चम्पारन (बिहार) गये और सरकार द्वारा अपने प्रवेश पर रोक लगाने पर भी गांधी जी ने वहाँ जाकर 20 हजार किसानों के बयान कलम बद्ध किए और किसानों को 'नील की खेती' से मुक्त कराया।[1] इसी प्रकार गांधीजी ने खेड़ा में किसानो को लगान से मुक्त दिलायी। अकाल पड़ने पर भी किसानों को लगान देना पड़ता था। अत: वहाँ गांधी जी ने सत्याग्रह किया, गिरफ्तारियाँ हुईं किन्तु अन्त में लगान माफ हुआ। इन्ही दिनो गांधी जी ने लोगों को स्वयं सेवक बनने की भी सलाह दी और स्वयं सेवक बनाए।[2] गांधी जी ने मिल मालिक मजदूर संघर्ष को भी अहिंसा के आधार पर समाप्त कराया। मालिकों द्वारा कम मजदूरी देने के कारण यह संघर्ष उठा था। जिसे अहिंसा और सत्याग्रह के आधार पर ही उन्होने सुलझाया जिसमे मजदूरो की प्रतिष्ठा की रक्षा करते हुए मिल मालिकों से समझौता हुआ।[3] ये तीनो ही सत्याग्रह भारतीय इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते है।

1917 में होने वाले कांग्रेस अधिवेशन में भारत को अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों की तरह स्वराज्य देने की माँग की गयी किन्तु सरकार की तो नीयत कभी साफ रही ही नही थी। आखिर माण्टेगु चेम्सफोर्ड योजना सामने आयी जो पूर्णत: असन्तोषजनक थी। कांग्रेस ने इस असन्तोष को प्रकट करते हुए अपनी माँगो को दुहराया। महायुद्ध के छिड़ने पर सरकार ने अनुचित रूप से भारत में धन एकत्र करना प्रारम्भ किया। सैनिक भरती भी की जिसने भारतीयों की क्रोधाग्नि को भड़काने मे घी का काम किया; फलत: हिंसात्मक कार्यवाईयाँ हुईं। इधर 'भारत रक्षा कानून' की छाया में दमन चक्र चला जिसे रौलट एक्ट ने और भी गाढ़ा रंग दे दिया।

रौलट बिल (1919)

रौलट बिल का सम्बन्ध क्रान्तिकारियों और राजद्रोहियो को दी जाने वाली सजाओं से तथा राजद्रोहात्मक सामग्री को रखने, बाँटने या छापने आदि से था। ऐसी कार्रवाइयों को अपराध घोषित किया गया। अत: इस पर गांधी जी ने स्पष्ट घोषणा कर दी कि यदि 'रोलट बिल' को व्यवहार में लाया गया तो वह सत्याग्रह आरम्भ कर देंगे। 24 फरवरी 1919 को उन्होंने सत्याग्रह आन्दोलन की घोषणा कर भी दी। 6 अप्रैल 1919 को देश व्यापी हड़ताल का दिन निश्चित किया गया जिसने व्यापक रूप धारण

---

1. कांग्रेस का इतिहास : डॉ० पट्टाभिसीतारामय्या (पृ० 113-114)
2. कांग्रेस का इतिहास : डॉ० पट्टाभिसीतारामय्या (पृ० 114-115)
3. कांग्रेस का इतिहास : डॉ० पट्टाभिसीतारामय्या (पृ० 115-116)

किया । हिन्दू मुसलमानों ने एक होकर आन्दोलन में भाग लिया । आन्दोलन के समय ही सरकार ये कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं को पकड़कर गायब करवा दिया जिसके परिणाम स्वरूप आन्दोलन ने हिंसात्मक रूप धारण कर लिया । गुजरानवाला और कसूर में में बेहद रक्तपात हुआ । कलकत्ता, लाहौर, अहमदाबाद, वीरम गाम, नाडियाद आदि क्षेत्रों में भी दुर्घटनाएँ हुईं ।[1]

जलियाँवाला बाग का हत्याकाण्ड

13 अप्रैल 1919 को अमृतसर में हुआ जालियाँवाला बाग का हत्याकाण्ड तो सचमुच हृदयविदारक था । पुरुषों, स्त्रियो और बच्चो की एक विशाल सार्वजनिक सभा का आयोजन जालियाँवाला बाग मे किया गया था । अंग्रेज अधिकारी जनरल डायर ने प्रारम्भ में रोकथाम नही की । किन्तु लोगों के इकट्ठा हो जाने पर हिन्दुस्तानी सैनिकों (तथा उन पर नियन्त्रण रखने के लिए कुछ गोरे सैनिकों) को लेकर जनरल डायर ने जलियाँवाला बाग मे प्रवेश किया ओर गोली चलाने का आदेश दे दिया जिससे सैकड़ों जानें गयी और सैकड़ों ही घायल हुए । यही नही इस घटना के एक दम बाद सख्ती बरती गयी । यहाँ तक कि ताँगे वालों के, जिन्होने हड़ताल की, ताँगे तक जमा करा लिये गये थे । इस हत्याकाण्ड के प्रति लोगो में अपार क्रोध और असन्तोष व्याप्त हो गया था । अत: यह तय हुआ कि 1919 का कांग्रेस अधिवेशन अमृतसर मे ही किया जाए । यह अधिवेशन अमृतसर मे ही हुआ भी जिसमें गांधी जी ने अपने अहिंसात्मक दृष्टिकोण पर पुनः जोर दिया और उसे सही अर्थो में समझने की बात कही ।[2]

खिलाफत और असहयोग आन्दोलन (1920)

सन् 1920 में कुछ ऐसी राजनैतिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयीं कि गांधी जी द्वारा 'असहयोग आन्दोलन' की बात कही जाने लगी । इसका प्रारम्भ खिलाफत आन्दोलन से हुआ । जब ब्रिटेन की सरकार ने महायुद्ध के समय मुसलमानों को दिये अपने आश्वासन पर अमल नही किया तो मुसलमानो में असन्तोष और विरोध एवं क्रोध की भावना जाग्रत हो गयी और मुसलमानों ने खिलाफत आन्दोलन प्रारम्भ करने

1. कांग्रेस का इतिहास : डॉ० पट्टाभिसीतारामय्या : पृ० 93
2. हमारी भावी सफलता की सारी कुंजी इसी बात मे है कि हम अपने मूलभूत सत्य को समझ लें, उसे हृदय से स्वीकार कर लें और उसके अनुसार आचरण भी रखें······मैं कहता हूँ यदि हम लोगों ने मारकाट न की होता तो यह बखेड़ा न खड़ा होता······मैं कहता हूँ पागलपन का जवाब पागलपन से मत दो बल्कि पागलपन के मुकाबिले में समझदारी से काम लो और देखो कि सारी बाजी आपके हाथ मे है ।
(कांग्रेस का इतिहास : डॉ० पट्टाभिसीतारामय्या : पृष्ठ 203)

की योजना बनाई जिसमे गांधीजी ने भी अपना पूर्ण सहयोग देने की सहमति दी। यही नही उन्होने हिन्दुओं को उसमे सहयोग देने के लिए भी सलाह दी। कलकत्ता कांग्रेस के 1920 के अधिवेशन में गाधी जी की असहयोग की नीति का विरोध कुछ प्रमुख नेताओं द्वारा किया गया। यहाँ एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि गांधी जी ने रोलट एक्ट, हण्टर कमेटी व पंजाब के हत्याकाण्ड आदि को असहयोग आन्दोलन का कारण न बतला कर, ब्रिटेन द्वारा मुसलमानों को दिये गये टर्की की स्वाधीनता और इस्लाम के धार्मिक स्थानों सम्बन्धी आश्वासन को पूरा न करना बतलाया। अर्थात् उन्होने ब्रिटिश सरकार के मुसलमानो के प्रति उपेक्षाभाव को आन्दोलन का कारण बतलाया।[1]

इस असहयोग आन्दोलन में गांधी ने सरकारी उपाधियों को त्यागने, अवैतनिक पदों को छोड़ने, सरकारी उत्सवों आदि में भाग न लेने, स्कूल तथा कालेजो से विद्यार्थियों को निकालने, वकीलों से अदालतों का बहिष्कार करने, विदेशी माल का बहिष्कार करके स्वदेशी अपनाने तथा हाथ से कताई-बुनाई करने आदि की सलाह दी। इस अवसर पर कांग्रेस के ध्येय में संशोधन किया गया और कांग्रेस का ध्येय शान्तिमय तथा उचित उपायों से स्वराज्य प्राप्त करना माना गया।[2] इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि विद्यार्थियों ने विद्यालयों और परीक्षाओं का बहिष्कार कर दिया और वकीलो ने वकालत छोड़ दी। कौन्सिलों का भी बहिष्कार किया गया। नवम्बर 1921 में युवराज के आगमन पर सरकारी उत्सव का बहिष्कार भी हुआ किन्तु इस अवसर पर कुछ हिंसात्मक कार्रवाइयाँ हो गयी जिसके कारण अनेक गिरफ्तारियाँ हुईं। सरकार का हिंसापूर्ण कार्य चल रहा था। सरकार अपने दमन चक्र द्वारा संयमपूर्ण असहयोगियों में हिंसा को उभारना चाहती थी। सन् 1921 का यह असहयोग आन्दोलन आँधी तूफान की गति को मात कर रहा था। व्यापारियों व कांग्रेसियों से इस अवसर पर विदेशों वस्त्रों के त्याग करने का तथा मिल मालिकों से सस्ता वस्त्र तैयार करने का अनुरोध भी किया गया।

प्रतिवर्ष होने वाले कांग्रेस अधिवेशनों में, दिसम्बर 1921 का अहमदाबाद कांग्रेस का अधिवेशन महत्वपूर्ण है जिसमें स्वयंसेवक बनाने व उनकी प्रतिज्ञाएँ निर्धारित करने का कार्य भी हुआ।

---

1. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन और संवैधानिक विकास : डॉ० विमलेश एवं आनन्दचन्द्र भण्डारी (पृ० 163)
2. कांग्रेस का इतिहास : डॉ० पट्टामिसीतारामय्या (पृ० 113)

सन् 1922 मे बारडौली की जनता को सत्याग्रह करने की सलाह गाधी जी ने दी। वे स्वयं भी बारडोली गए किन्तु गोरखपुर के समीप चौरी चौरा नामक स्थान पर आगजनी की घटना हो गयी। जुलूस ने थाने सहित सिपाहियो को भी जला दिया था।

सन् 1922 मे ही गया काग्रेस मे कौसिल प्रवेश को लेकर मतभेद उत्पन्न हुआ जो दिल्ली और कोकनाड़ा कांग्रेस के अवसर पर और अधिक बढ़ गया था। दो दल बन गये थे, एक तो परिवर्तनवादी और दूसरा अपरिवर्तनवादी।

कौंसिल प्रवेश का प्रश्न

परिवर्तनवादियो ने स्वराज्य दल की स्थापना कर ली थी जो कि कौसिलो में जाने के पक्ष मे था इस बीच अन्य कार्यवाइयो के साथ ही असहयोग के अन्तर्गत कौसिल बहिष्कार के प्रश्न को काफी महत्व दिया क्योकि इस सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न हो गया था। राजा जी आदि कौसिल के बहिष्कार के पक्ष में थे तो देशबन्धु और मोतीलाल नेहरू जैसे लोग कौसिल प्रवेश के द्वारा नीति में परिवर्तन करने पर जोर देने लगे। प्रस्ताव के समय चूँकि कौंसिल बहिष्कार की बात ही रही अत: देशबन्धु और मोतीलाल नेहरू ने अपने पदो से त्याग पत्र देकर स्वराज्य दल की स्थापना कर ली। 1923 में नागपुर में जुलूस को झंडा लेकर जाने की पुलिस द्वारा अनुमति न दी जाने पर स्वयं सेवकों ने विरोध किया और फलस्वरूप इस घटना ने व्यापक जनआन्दोलन का रूप ग्रहण कर लिया और 18 मई को "गांधी दिवस" नाम न देकर झंडा दिवस ही नाम दिया गया और जुलूस भी निकाला गया। इस अवसर पर गिरफ्तारियाँ और सजाएँ भी हुई।

सरकार किसी न किसी प्रकार से कांग्रेस के मार्ग मे, देशवासियों के मार्ग में बाधा उपस्थित करती रहती थी और किसी न किसी बहाने दमनचक्र चलाती थी। सन् 1923-24 में सरकार के एजेटों ने साम्प्रदायिक दंगों को भड़काया। इन दंगो में कोहाट का दंगा सबसे भयंकर था। साम्प्रदायिक दंगे 1926 तक होते ही रहे।

इधर सन 1925 में ही स्वराजियों की बहुलता के कारण कार्यभार स्वराज्य पार्टी के हाथ में आ गया और वह पार्टी का अंगमात्र न रहकर स्वयं कांग्रेस हो गयी।

स्वराज्य पार्टी

सन् 1925 में ही साम्प्रदायिक ऐक्य की वृद्धि, अस्पृश्यता निवारण, दलित जातियों के उद्धार और नशेबन्दी पर जोर दिया गया। इस प्रकार कांग्रेस जहाँ एक ओर विदेशी सत्ता से स्वराज्य, के लिए जूझ रही थी वहाँ देश में व्याप्त सामाजिक बुराइयो के निराकरण का प्रयास भी कर रही थी।[1] सन् 1926 में राष्ट्रीय दल (इन्डियन नेशनल पार्टी) का जन्म हुआ जिसका ध्येय औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करना था।

---

1. काग्रेस का इतिहास : डा पट्टाभिसीतारामय्या (पृ० 155)

साइमन कमीशन

सन् 1927 में ब्रिटिश सरकार ने, भारत मे ब्रिटिश शासन की तथा अन्य कार्यों की जाँच के लिए "साइमन कमीशन" की नियुक्ति की थी जिसका भारत में सभी स्थानो पर विरोध और बहिष्कार हुआ था, क्योकि इन्होने भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देने की बात ही नही की और न प्रान्तों में उत्तरदायित्व शासन स्थापित करने की सिफारिश ही की। सर तेजबहादुर सप्रू के शब्दो मे आयोग की स्थापना ही भारतीय जनता का तिरस्कार था। ......[1] इसीलिए "साइमन वापस लौट जाओ" शब्दों से अकित झण्डो और तख्तियों को दिखाकर बहिष्कार किया गया।

बारडौली सत्याग्रह

सन् 1928 मे बारडोली सत्याग्रह की महत्वपूर्ण घटना हुई। बारडोली के किसानों पर सरकार ने 25 प्रतिशत मालगुजारी बढ़ा दी और किसान इससे असंतुष्ट थे अत: कर-बन्दी आन्दोलन प्रारम्भ किया गया जिसका संगठन सरदार पटेल ने किया था। सरकार द्वारा इसके लिए अदालत बैठाई गयी जिसने सिफारिश की कि मालगुजारी केवल $6\frac{1}{4}$ प्रतिशत बढ़ाई जाए। अन्त में सरदार पटेल को सफलता मिली। सरकार को मालगुजारी की दर घटानी पड़ी।

कलकत्ता कांग्रेस

सन् 1928 में कलकत्ता कांग्रेस हुई जिसने अपने अगले कार्यक्रम में नशीली चीजों पर पाबन्दी लगाने, अहिसा को अस्त्र रूप में प्रयोग करने तथा अस्पृश्यता और अन्य सामाजिक बुराइयो को दूर करने की बात कही। "युवक आन्दोलन' इस वर्ष की प्रमुख विशेषता थी।

मजदूर दल की विजय

सन् 1929 मे इंग्लैण्ड में जो रूढ़िवादी दल शासन कर रहा था, चुनाव हार गया था और मजदूर दल विजयी हुआ था; मजदूर दल की विजय का भारत की आंतरिक स्थिति पर भी प्रभाव पड़ा था।

उपसमितियों का गठन

कलकत्ता अधिवेशन के बाद अनेक उपसमितियाँ बनायी गयीं जिनको कुछ महत्वपूर्ण कार्य सौंपे गये, जिनका उद्देश्य रचनात्मक कार्य करना था। इन उपसमितियों का उद्देश्य स्वाधीनता की लड़ाई मे योग देना नहीं बल्कि समाज और राष्ट्र में फैली बुराइयों को दूर करना था जैसे मादक द्रव्यों का निषेध, अस्पृश्यता निवारण आदि।

26 जनवरी 1930 को पूर्ण स्वाधीनता का घोषणापत्र तैयार किया गया जिसमें अंग्रेजों से सम्बन्ध विच्छेद करके पूर्ण स्वराज्य या स्वाधीनता प्राप्त करने की

---

1. भारत का संविधानिक विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास : रवीन्द्र नाथ मिश्रा (पृ० 124) प्रथम संस्करण 1966

सविनय अवज्ञा आन्दोलन तथा दण्डी यात्रा

बात कही गई थी क्योंकि अंग्रेजों ने आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भारत का विनाश कर दिया था। सरकार की ओर से निराशा हाथ लगने पर गांधी जी ने सविनय अवज्ञा की बात सोची और उसके लिए आधार बनाया 'नमक कर' को। ब्रिटेन ने अपने नमक की बिक्री के लिए भारतीय नमक पर कर लगा दिया गया था जिसे अनैतिक मान कर गांधी जी ने 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' प्रारम्भ किया था किन्तु लार्ड इर्विन को चेतावनी देकर, क्योंकि नमक तो गरीबों-अमीरो सबके लिए नितान्त अनिवार्य है। साथ ही उसका भार गरीबो पर ज्यादा जो पड़ता था।[1] किन्तु जब लार्ड इर्विन ने गांधी जी की बात को स्वीकार नही किया तो उन्होंने 12 मार्च 1930 को दण्डी यात्रा प्रारम्भ कर दी और 5 अप्रैल को नमक कानून भग कर दिया। धारासना तथा बडाला के नमक के कारखानो तक पर धावा बोला गया। इसी समय गांधी जी ने गाँवों मे नमक बनाने, स्त्रियों को शराब, अफीम तथा विदेशी वस्त्रों की दुकानों पर धरना देने, सूत कातने, विदेशी वस्त्रो की होली जलाने जाति **भेद** मिटाने तथा विद्यार्थियों को स्कूल छोड़ने की सलाह दी। आर्डिनेसों द्वारा इन कार्यक्रमों पर रोक लगाने की चेष्टा भी की गयी, और दमन तीव्र गति से चला। यहाँ तक कि शान्त बैठी हुई निहत्थी जनता पर गोली चलाने पर विदेशी सरकार आमादा रहती थी। ऐसे ही एक अवसर पर गढ़वाली सिपाहियों ने गोली चलाने से मना कर दिया था।

देश में सरकार और कांग्रेस के मध्य चल रहे संघर्ष के कारण अनेक विषम परिस्थितियाँ पैदा हो गयी थी। सरकार द्वारा दमन जारी था, अत: इस विषमता को मिटाने के लिए गांधी जी और लार्ड इर्विन के बीच बात-चीत हुई जिसमें दोनों पक्षों की ओर से किये गये कार्यो को ध्यान मे रखते हुए एक समझौता हुआ जो इतिहास में 'गांधी-इर्विन समझौता' के नाम से जाना जाता है। यह समझौता 4 मार्च 1931 को हुआ था। अगस्त 1931 मे अन्य बातों के साथ-साथ मिक वर्ग को विशेष महत्व दिया जाने लगा था। सम्भवत: यह, इंग्लैण्ड में मजदूर दल की विजय, रूस की 1917 की की क्रान्ति तथा भारत में सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना का ही प्रभाव था कि परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए मजदूर वर्ग को महत्व दिया गया। कारखानो मे मजदूरो के स्वार्थ की रक्षा, जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त मजदूरी, काम के निर्धारित घण्टे, दासत्व से मुक्ति, मजदूर स्त्रियो के लिए प्रसूति काल में पर्याप्त छुट्टी की व्यवस्था, मजदूरों को संघ बनाने की सुविधा की माँग होने लगी थी।

गांधी इर्विन समझौता (1931)

1. कांग्रेस का इतिहास—डॉ० पट्टाभिसीतारामय्या (पृष्ठ 187, 188)

गांधी-इर्विन समझौता सारहीन सिद्ध हुआ। वस्तुतः जहाँ एक वर्ग राष्ट्रीय हित की दृष्टि से सोचता हो और दूसरा इसके विरोध मे शासक के रूप मे तो दोनों मे ताल मेल कैसे बैठ सकता है? अतः गांधी जी सत्याग्रही के रूप मे मैदान मे उतरे और उधर सरकार ने एक साथ कई आर्डिनेन्स जारी करके सख्ती बरतनी प्रारम्भ कर दी। कॉंग्रेस के नेतृत्व में पिकेटिंग होती थी, लगान बन्दी हो गई थी, आन्दोलन के संचालन के लिए हाथ से लिखे पर्चे, निकलते थे। इन सब कार्यक्रमो पर अहिंसा का अंकुश था।

हरिजन आन्दोलन

जिस प्रकार हिन्दू मुसलमान और ईसाईयो को सरकार धर्म के आधार पर अलग-अलग रखती थी उसी प्रकार उसने हिन्दू धर्म की संकीर्णता से लाभ उठाने हेतु अछूतों की अलग श्रेणी बनाने का प्रयास किया। यद्यपि इस सम्बन्ध मे आर्य समाज जैसी सस्था बहुत पहले जागरूक हो चुकी थी तथापि गांधी जी ने भी इस ओर पर्याप्त ध्यान दिया। उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया था कि यदि सरकार ने अस्पृश्यो या दलित जातियो के लिए पृथक निर्वाचन रखा तो वे आमरण अनशन करेंगे। अस्पृश्यता-निवारण आन्दोलन के साथ-साथ उन्होंने सन् 1933 मे हरिजन आन्दोलन चलाया। मन्दिरो में अछूतों के प्रवेश के लिए बिल भी पास हुए।

सन् 1935 तक आते-आते भारत में नागरिक स्वतन्त्रता का अन्त कर दिया गया था। प्रेस की स्वतन्त्रता समाप्त करके समाचार पत्रों पर पाबन्दी लगा दी गयी थी। लम्बे समय से चली जाने वाली कांग्रेस की योजना में परिवर्तन किया गया। आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन की तथा सामाजिक विषमता को दूर करने की बात सोची जाने लगी। अहिंसा के प्रति लोगो में अनास्था हो गयी और युवक वर्ग समाजवाद की दुहाई देने लगा। विद्यार्थी संघ और यूथलीग की स्थापना हो गई थी। सन् 1936 में सरकार ने दमन चक्र प्रारम्भ कर दिया था, इस दमन का अनुसरण देशी रियासतो ने भी किया। फैजपुर कांग्रेस में (सन् 1937) कांग्रेस ने देशवासियों को चेतावनी दी कि लड़ाई छिड़ने पर न तो सरकार को चन्दा दिया जाए और न लड़ाई मे ही सहयोग दिया जाए।

द्वितीय महायुद्ध

3 सितम्बर 1939 को मित्रराष्ट्रों और फासिस्ट देशों के बीच युद्ध छिड गया। एक ओर रूस और जर्मनी के बीच अनाक्रमण सन्धि हुई और दूसरी ओर पोलैड की सहायार्थ ब्रिटेन युद्ध में कूद पडा। 3 सितम्बर 1939 को ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। ब्रिटेन के युद्ध घोषित करने का प्रभाव भारत पर भी पड़ा। ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन होने के कारण भारत को उसकी बिना इच्छा के युद्ध में घसीटा गया। ब्रिटेन ने भारत

को भी युद्ध मे सम्मिलित घोषित कर दिया था और भारतीय फौजो को युद्ध मे भेज दिया था। अतः जहाँ तक मित्रराष्ट्र और फासिस्ट देश का प्रश्न था भारत की सहानुभूति मित्रराष्ट्र की ओर थी किन्तु उसी के द्वारा स्वयं पर अत्याचार होने से वह उसका भी विरोध कर रहा था। क्योंकि ब्रिटेन भारत का सहयोग नही माँग रहा था वह तो उसे युद्ध में बलात घसीट रहा था और भारत के प्रति अपनी नीति स्पष्ट करके उस पर अमल नही कर रहा था। कांग्रेस ने ऐसी स्थिति मे अपना सहयोग न देने की बात सोची और मन्त्रि-मण्डलो से इस्तीफे दे दिए। इधर मुस्लिम लीग अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की माँग करने लगी थी और देशी रियासतो के राजा उदारतापूर्वक अपनी राजभक्ति प्रकट कर रहे थे। हैदराबाद का निजाम, रामपुर के नवाब, गोदल के महाराज ऐसे ही राजभक्त थे।

अंग्रेज अपनी प्रकृति के अनुसार फूट डाल रहे थे। इसी के परिणामस्वरूप जिन्ना महोदय भड़क उठे। दिसम्बर 1939 मे लीग ने मुक्ति दिवस मनाया और इसके तीन महीने बाद ही भारत के विभाजन का प्रस्ताव रख दिया। मार्च सन् 1940 में लाहौर के मुस्लिम लीग के अधिवेशन मे यह प्रस्ताव रखा गया जिसके कारण पाकिस्तान का जन्म हुआ। इधर कुछ समय से देश मे कांग्रेस की नीति से असन्तुष्ट होकर कुछ विरोधी तत्व उठ खड़े हुए थे जैसे साम्यवादी, समाजवादी विचारधाराएँ, किसान और अग्रगामी दल आदि। किसानो और अग्रगामी दलो ने तो संयुक्त रूप से रामगढ़ कांग्रेस में होने वाले प्रस्ताव का सुभाष बाबू की अध्यक्षता मे विरोध किया था। गांधी सेवा सङ्घ के अधिवेशन के समय जो कि माल कन्दा (ढाका) में फरवरी सन् 1940 में हुआ था गाधी विरोधी पर्चे बाँटे गये और गांधीवाद का विनाश हो' के नारे लगाये गये थे। आगे चलकर वातावरण गम्भीर होता चला गया। उस समय काग्रेस के प्रधान मौलाना आजाद ने जिन्ना से तथा वायसराय से विरोध व्यक्त कर दिया था। नवयुवको को जेल में ठूँसा जा रहा था, नजर बन्द किया जा रहा था, आन्दोलनों में भाग लेने पर पाबन्दी लग गई थी। सुभाषबाबू को भी भारत रक्षा कानून के अन्तर्गत गिरफ्तार कर लिया गया।

पाकिस्तान की माँग

'जापान के आक्रमण से भारत को खतरा है', यह कहकर ब्रिटिश सरकार ने स्टेफर्ड क्रिप्स नामक अंग्रेज को भारत भेजा ताकि भारत के सभी वर्गो को संगठित किया जा सके। किन्तु अंग्रेज सरकार का तो हर कदम कूटनीति से भरा हुआ रहता था। क्रिप्स मिशन वास्तव में तो भारत के लिए हानिकर सिद्ध होने वाला था जिसमें अल्पसंख्यको को लेकर फूट डालने की तथा भारत का विभाजन करने की योजना थी। यही नही और भी अनेक कारण थे जिनकी वजह से न केवल काग्रेस ने, बल्कि

मुस्लिम लीग तथा अन्य संस्थाओं और राजनैतिक दलों ने भी क्रिप्स योजना को अस्वीकार कर दिया था। अत: क्रिप्स को असफल होकर वापस लौटना पड़ा था और भारत में तब 1857 की क्रान्ति के समान ही एक प्रचण्ड क्रान्ति हुई जिसे 'अगस्त क्रान्ति' का नाम दिया गया।

जुलाई 1942 में कांग्रेस कार्यसमिति का एक अधिवेशन हुआ जिसमें अनेक बातों पर विचार किया गया। विदेशी प्रभुता और हस्तक्षेप का अन्त करने की बात कही गयी और आत्मनिर्णय के लिए 7 अगस्त 1942 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक बुलायी गयी थी। 7-8 अगस्त 1942 को एक प्रस्ताव पास हुआ, (जो अगस्त प्रस्ताव भी कहलाता है) इसमें भी ब्रिटिश शासन का अन्त करने व सत्ता हटा लेने की बात कही गयी। इस अवसर पर अहिंसा पर आधारित बड़े स्तर पर एक विशाल संग्राम प्रारम्भ करने का प्रस्ताव भी पास हुआ। प्रस्ताव बहुमत से पास हो गया, केवल 12-13 साम्यवादी सदस्यों ने विपक्ष में मत दिया।[1] अत: आन्दोलन प्रारम्भ करने के पूर्व गांधी जी ने जनता को कुछ निर्देश दिए। 9 अगस्त को नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया था, कांग्रेस कमेटियों को गैर कानूनी घोषित कर दिया गया था और जैसा कि पकल की गश्ती चिट्ठी से पता लगता है, कांग्रेस के कार्यक्रम और योजना को समय से पूर्व ही दबाने की हिदायतें दे दी गयी थीं। कांग्रेस पर यह दोषारोपण करके कि उसने अवैध और हिंसक तैयारियाँ की हैं, यातायात में विघ्न डालने और हड़ताल करने तथा रंगरूटों की भर्ती पर रोक लगाने के प्रयास किए हैं नेताओं को गिरफ्तार करके दमन चक्र प्रारम्भ कर दिया। सरकार ने स्वयं सेवकों पर हमला किया, सार्वजनिक सभाओं और जुलूसों पर भी रोक लगा दी शस्त्र लेकर चलना निषिद्ध घोषित कर दिया। कांग्रेस कमेटियों को तथा हिन्दुस्तान की लाल सेना को गैर कानूनी करार दे दिया गया। निषेध आदेश अन्य प्रान्तों में भी लागू कर दिए गए थे। लोगों पर न केवल लाठी चार्ज किया गया बल्कि राइफलों, रिवाल्वरों और बन्दूकों की मार की गयी जिसके कारण जनता क्रोध में पागल हो उठी थी और हिंसात्मक कार्यवाही के लिए विवश हुई। उसने चलती रेलों पर पत्थर बरसाये, रेलवे स्टेशनों को क्षति पहुँचाई, अनाज की दूकानें लूटी, टेलीफोन के तार काटे आर्डिनेंस जारी होने पर

---

1. "Except a handful full of Communist who opposed the move, all members of A. I. C. C. welcomed the resolution drafted by the Working Commitee,"

—India wins freedom (Plan to arrest all Congress Leaders) by Maulana abul Klam Azad (P. 83, Edition April, 1959)

भी हड़तालें हुई, पिकेटिंग हुई, स्कूल, कालेज देश के एक कोने से दूसरे कोने तक बन्द कर दिये गए यातायात ठप्प कर दिया गया, डाकखानों रेलवे स्टेशनों आदि में आग लगायी गयी। कहने का अर्थ यह है कि शासन के कार्य में हर सम्भव रुकावट पैदा की गई।[1]

एक ओर 1942 का विद्रोह हुआ दूसरी ओर जापान का बर्मा पर आक्रमण हुआ और लड़ाई भारत के द्वार तक आ पहुँची। ऐसी अवस्था में सन् 1942-43 मे बंगाल में भीषण अकाल पड़ा जिसमे 3० लाख से भी अधिक व्यक्ति मरे। चावल का इतना अभाव हो गया कि भाव आठ गुना हो गये थे।[1] इस अकाल के कई कारण बताए जाते हैं जो राजनैतिक तथा व्यावसायिक थे।

सन् 1944 में गांधी जी की रिहाई हुई तो उन्होने जिन्ना से बात-चीत की किन्तु कोई सन्तोषजनक परिणाम न निकला। जिन्ना महोदय बिना सम्पूर्ण आम जनता के मत संग्रह के ही देश के बँटवारे की बात कहने लगे थे। इसके बाद सन् 1945 मे लियाकत अली-देसाई समझौता खटाई में पडा वेवेल योजना और शिमला सम्मेलन भी असफल हो गए।

सन 1946 में जो चुनाव हुए तो उससे कांग्रेस का प्रभुत्व देखने में आया। मुस्लिम लीग केवल बंगाल और सिन्ध में ही सरकार बना सकी मुस्लिम लीग ने, जो कि कैबिनेट मिशन के प्रस्तावों से असन्तुष्ट थी उन्हें ठुकराकर 16 अगस्त 1946 को 'प्रत्यक्ष कार्रवाई दिवस' मनाने की धमकी दी और 16 अगस्त को बंगाल सरकार ने प्रत्यक्ष कार्रवाई दिवस मनाने के लिए सार्वजनिक छुट्टी भी कर दी। इस दिन भयंकर रक्तपात हुआ, कलकत्ता और सिलहट में भयंकर उत्पात हुए। लगभग 7000 व्यक्ति मारे गए, स्त्रियों का निर्यात हुआ, धर्म-परिवर्तन बलात्कार आदि की घटनाएँ घटित हुयी। ऐसी स्थिति में गाँधी जी ने शान्ति स्थापना के उद्देश्य से नोआखली की यात्रा की। मुस्लिम लीग के इस प्रकार के रुख से स्थिति दिन पर दिन गम्भीर होती गयी जिसका अन्तिम परिणाम देश के विभाजन के रूप मे सामने आया। आखिर ब्रिटेन ने जून 1948 तक भारत छोड़ने की घोषणा कर दी और पंजाब व बंगाल के विभाजन के साथ पाकिस्तान का जन्म हुआ।

15 अगस्त 1947 को देश को विभाजन और पाकिस्तान का निर्माण, पजाब और बंगाल के विभाजन के साथ हुआ। विभाजन के पूर्व सारे देश में, विशेषकर सीमा

---

1. कांग्रेस का इतिहास : पृष्ठ 445-447
2. भारत की अर्थ व्यवस्था : एस० सी० तेला व अन्य : चौथा संस्करण : 1965, पृष्ठ 136

भारत विभाजन

प्रान्त मे स्थिति बड़ी ही भयंकर हो गयी थी। साम्प्रदायिक दंगों में हजारों आदमी मरे देश के लगभग सभी भागों मे रक्तपात लूट-पाट, बलात्कार आगजनी की घटनाएँ हुई। ये घटनाएँ विभाजन के पूर्व और वाद भी होती रही। "16 अगस्त को सम्पूर्ण भारत दो टुकड़ों मे बँट गया। सेना बँट गयी, पूँजी और ऋण भी बँट गया।[1] देश के विभाजन के साथ ही भारतीय इतिहासके रग-मच पर पटाक्षेप हो गया।

(घ) भारतीय इतिहास : (1948-1960)

देश के बँटवारे के साथ ही भयकर नरसंहार हुआ हजारों स्त्री-पुरुष बच्चे मौत के घाट उतार दिये गये। आबादी की अदला-बदली ने एक नयी समस्या उत्पन्न कर दी। यह समस्या थी शरणार्थियों की समस्या। इस सम्बन्ध में आगे कुछ कहने के पूर्व हम यह बतला दें कि विभाजन का काल एक महान उथल-पुथल का काल था। न जाने कितनी प्रकार की समस्याएँ ओर प्रश्न उठ खड़े हुए जिनमें सबसे विकट प्रश्न था कि हिन्दू मुस्लिम साम्प्रदायिक झगड़ों और रक्तपात को कैसे रोका जाए? इसका प्रयास केवल गांधी जी की ओर से हो रहा था। सम्प्रदायवादियों को गांधी जी का यह प्रयास अच्छा न लगा। 30 जनवरी 1948 को नाथूराम गोडसे नामक युवक ने गोली मार कर गांधी जी की हत्या कर दी। मानवता का पुजारी स्वतन्त्रता की गठरी सोप कर सदा के लिए कूच कर गया।

देश की स्वतन्त्रता के बाद विभाजन के फलस्वरूप झगडे होते रहे। ये झगड़े मुख्यत: कश्मीर को लेकर हुए। कश्मीर को छोड़कर अन्य देशी राज्य धीरे-धीरे भारत के साथ ही एक सूत्र में बँध गए। यद्यपि देश का विभाजन करके अंग्रेज चले गए थे तथापि पुर्तगाल व फ्रांस के उपनिवेश भारत में अब भी कायम थे। सन् 1950 में फ्रान्सिसी बस्ती चन्द्रनगर भारतीय प्रशासन के अधीन हो गयी किन्तु पुर्तगाल ने गोआ दामन और दीव को मुक्त नही किया। अत: अब इन पुर्तगाली बस्तियो को पुर्तगाल के पंजे से मुक्ति दिलाने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ होने लगे।

गोआ, दामन और दीव की मुक्ति के आन्दोलन से पूर्व हम उस आन्दोलन का उल्लेख कर देना चाहते हैं जो विदेशी शक्ति के विरुद्ध नही देश के अन्दर ही घरेलू

गोआ आन्दोलन

समस्या को हल करने के उद्देश्य मे प्रारम्भ हुआ। यह आन्तरिक समस्या थी भूमि के समान बँटवारे की। किसानों को भूमि बाँटने के लिए आचार्य विनोवा भावे ने भूदान आन्दोलन की शुरूआत की।

---

1. भारत का राजनैतिक इतिहास : राजकुमार (पृ० 354)

सन् 1951 मे विनोवा जी अपनी दक्षिण भारत की पद यात्रा के दौरान इस आन्दोलन की कल्पना की और उसी को कार्य रूप में परिणित कर इस आन्दोलन का सूत्रपात किया जिसके मूल में स्वेच्छा से अतिरिक्त भूमिदान करने का प्रस्ताव था। अनेक जमींदारों ने इस आन्दोलन के दौरान अपनी भूमि किसानो को बाँटने के लिए विनोवा जी को दी भी।

भूदान आन्दोलन

भूदान आन्दोलन इस घरेलू समस्या के निराकरण का उपाय था। किन्तु 1954 में पुर्तगालियो भारत छोड़ो के नारो की गूँज से प्रारम्भ होने वाला गोआ आन्दोलन विदेशी शक्ति के विरुद्ध हुआ। इस आन्दोलन का स्वरूप 1942 के आन्दोलन से मिलता-जुलता था। सन् 1954 में गोवा की मुक्ति के लिए सत्याग्रह हुआ और लोगों को जेल में ठूँसा गया। इस आन्दोलन का आधार अहिंसा और सत्याग्रह ही था।

इन उपयुक्त घटनाओं के अतिरिक्त, विभाजन परिणामस्वरूप शरणार्थियों की समस्या, पंजाबी सूबा आन्दोलन आदि ऐसी आन्तरिक घटनाएँ थी जिन्होने देश को स्वतन्त्रता के काफी समय वाद तक संकट ग्रस्त स्थिति में डाले रखा। शरणार्थियों का आवागमन 1955-56 तक चलता रहा। लगभग 58 लाख व्यक्ति पाकिस्तान से भारत आए।[1] इन्हें अगणित शिविर बनाकर आश्रय देने, स्थायी रूप से आवास का प्रबन्ध करके बसाने, भोजन आदि का तथा रोजगार का प्रबन्ध करना, अपने आप में एक जटिल समस्या थी। इस समस्या से देश की अर्थ व्यवस्था पर गहरा असर पड़ा। ऐसी ही आन्तरिक समस्याओं से सरकार द्वारा प्रारम्भ की जाने वाली विकास योजनाओं पर भी विपरीत प्रभाव पड़ा।

संक्षेप में, भारत में विदेशी जातियो के आगमन, 1857 की क्रान्ति तथा काग्रेस के जन्म से लेकर देश-विभाजन और स्वतन्त्रता प्राप्ति के लगभग एक दशक बाद तक की घटनाओं का यही इतिहास है।

यह भारत के इतिहास का एक विशिष्ट रूप है जिसके निर्माण में प्रमुख रूप से अहिंसा और सत्याग्रह के सिद्धान्तों पर आधारित कांग्रेस का हाथ है। ऐसी ही, इतिहास का निर्माण करने वाली एक अन्य महत्वपूर्ण कांग्रेस के समानान्तर चलने वाली धारा प्रवाहित होती हुई दृष्टिगोचर होती है। यह धारा है क्रान्तिकारी आन्दोलन की, जिसका ध्येय समान होते हुए भी कार्यक्रम और ढंग कांग्रेस से सर्वथा भिन्न था। अतः हम इतिहास का निर्माण करने वाली इस धारा का संक्षिप्त किन्तु पृथक रूप से सिंहावलोकन करना उचित समझते हैं।

1. भारत का राजनैतिक इतिहास : राजकुमार (पृ० 465)

2

स्वातन्त्र्य पूर्व क्रांतिकारियों की गतिविधियाँ

यद्यपि कांग्रेस में भी नरम और गरम दल विद्यमान थे, उदार और उग्र प्रवृत्तियाँ विद्यमान थी, आगे चलकर 'स्वराजिस्टों' का पृथक अस्तित्व भी हो गया था तथापि इन सबसे पृथक, भारत से अंग्रेजों के निष्कासन और भारत की स्वतन्त्रता के समान उद्देश्य को लेकर चलने वाला एक पृथक् वर्ग था जिसकी अपनी विचारधारा थी । वह वर्ग गाधी की अहिसा और सत्याग्रह से सर्वथा असहमत था, उसका विश्वास क्रान्ति, आतक वाद और हिंसा में था । यह वर्ग था क्रान्तिकारियो और आतकवादियों का जिसने भारत की स्वाधीनता के इतिहास मे अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था । गांधी जी कहते थे कि 'पागलपन (हिसा) का जबाब पागलपन से मत दो, और तुम देखोगे कि स्वराज्य तुम्हारा दरवाजा खटखटा रहा है, किन्तु क्रान्तिकारियों को यह सब निरर्थक प्रतीत होता था । उन्होने तो ब्रिटिश शासन मे आतक फैलाने और विदेशी दुश्मन का हिसा के द्वारा विनाश करने को ही अपना कार्य-क्रम बना लिया था । किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही कि वे कांग्रेस के विरोधी थे । वे कांग्रेस की नीति के समर्थक नही थे किन्तु उस नीति में उन्होने बाधा उपस्थित कभी नहीं की । बल्कि देखा जाए तो दोनों ही वर्गो का अन्योन्याश्रित सम्वन्ध था । रौलट कमेटी जिसकी स्थापना क्रान्तिकारियों को दवाने के लिए ही हुई थी, असहयोग आंदोलन के जन्म का कारण बनी तो लाला लाजपतराय की मृत्यु ने भगतसिंह के मन को झकझोर दिया ।[1] भारत में अहिंसावादी और आतंकवादी दल अलग-अलग थे किन्तु ब्रिटिश हुकूमत एक थी । अत: जब भी विदेशी सत्ता भारत में कोई भी गलत और अनुचित कार्य करती थी तो उसकी प्रतिक्रिया दोनों वर्गो पर समान रूप से होती थी । कहने का यह अर्थ है कि दोनो वर्गो द्वारा कार्य-क्रम को व्यावहारिक रूप देने की पृष्ठ भूमि में कारण समान होते थे । उदाहरण के लिए 'बंगाल के विभाजन के प्रस्ताव से प्रतिक्रिया कांग्रेस पर भी हुई और समान रूप से कान्तिकारियों पर भी । सन् 1871 में बंगाल के चीफ जस्टिस की हत्या की गयी और 1872 में वायसराय लार्ड मेयो की । सन् 1897 में दामोदर चैफेकर नामक युवक ने साम्राज्यवादी मिस्टर रैन्ड की गोली चलाकर हत्याकर दी थी । सन् 1907 में लाट साहब की गाड़ी पर बम फेंका गया । 1908 में खुदीराम ने कैनेडी पर बम फेंका और (1909) में मदनलाल धींगरा नामक

---

1. क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास : मन्मथनाथ गुप्त : (पाँचवे संस्करण की भूमिका से)

युवक ने कर्जनवाइली नामक अंग्रेज को गोली मार दी तथा सन् 1912 में भारत के वायसराय हार्डिग पर बम फेंका गया।

इस प्रकार की घटनाओं को देखने से पता चलता है कि क्रान्तिकारी दल कांग्रेस के जन्म के पहले से ही सक्रिय था किन्तु चूँकि यह दल हिंसा का सहारा लेता था अतः इसका कार्य-क्रम गुप्त रूप से चलता था। दूसरी बात यह कि ऐसे कामों के लिए विशेष रूप से हथियारो, जैसे बम बनाने, पिस्तौले खरीदने आदि के लिए दल को धन की आवश्यकता होती थी और उसकी पूर्ति के लिए दल को अर्थ व्यवस्था स्वयं करनी होती थी क्योंकि एक तो खुले आम ये लोग किसी से धन नही माँग सकते थे, दूसरे आम जनता ऐसे कार्य-क्रमों में योग देने से घबड़ाती थी। अतः इस सबकी व्यवस्था के लिए डकैती क्रान्तिकारियों के साध्य के लिए साधन थी। चटगाँव के शस्त्रागार पर डकैती एक ऐसा ही उदाहरण है। दिसम्बर, 1923 को चटगाँव में डाका डाला गया। क्रान्तिकारियों के हाथ इस डकैती में 18000 रुपये लगे। इसी प्रकार सन् 1925 का काकोरी षडयन्त्र है जिसमें महान क्रान्तिकारी आज़ाद, बिस्मिल, राजेन्द्र लाहिड़ी, आदि थे। आज़ाद ने एक हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी का कार्य आगे बढ़ाया और 1925 में काकोरी में ट्रेन से सरकारी खजाना लूटा। इस षड़यन्त्र में बिस्मिल और अशफाक उल्लाह खाँ को तो फाँसी की सजा मिली किन्तु आज़ाद और भगतसिंह पकड़ में नही आये।[1] सन् 1926 में भगतसिह ने नौजवान भारत सभा की स्थापना की तथा गोरखपुर के एक डाकघर से 30,000 रुपया भी उड़ाया। लाला लाजपत राय पर लाठियों की मार—जिससे उनकी मृत्यु हुई थी—का बदला भगतसिह ने सैंडर्स की हत्या करके लिया था। भगतसिह ने आगरा में बम बनाने का कारखाना भी खोला तथा अप्रैल 1929 में असेम्बली में बम फेंक कर अपूर्व साहस का परिचय दिया जिसके कारण उन्हें फाँसी की सजा हो गयी। राजगुरू, सुखदेव और भगतसिंह तीनों को एक साथ ही फाँसी हुई थी। डॉ० पट्टाभि सीतारामय्या के अनुसार 'अधिकाधिक प्रयत्न करने पर भी गांधी जी इन तीन युवकों की फाँसी की सजा रद्द नहीं करा सके थे।'[2] इस प्रकार हत्याएँ, डकैतियाँ क्रान्तिकारियों द्वारा होती ही रहीं। 'लाहौर षडयन्त्र केस' और 'पीपरडीह' डकैती के मामले ऐसी ही उल्लेखनीय घटनाएं है। सन् 1940 में, ठीक रामगढ़ कांग्रेस के अधिवेशन के पहले, ऊधमसिंह नामक व्यक्ति ने जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड के लिए जिम्मेदार जनरल डायर की हत्या की थी।

---

1. भारत का राजनैतिक इतिहास : राजकुमार (पृ० 245-46)
2. कांग्रेस का इतिहास : (पृ० 225)

सन् 1939 में द्वितीय महासमर भड़क उठा था जिसका भारत पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा । सन् 1942 की क्रान्ति अहिंसात्मक नही थी उसमें हिंसा का पूर्ण वेग था क्योंकि आन्दोलन का संचालन करने की सामर्थ्य रखने वाले गांधी जी तो गिरफ्तार हो गए थे अतः आन्दोलन की बागडोर जनता के हाथ में थी । 1942 के आन्दोलन का वर्णन इस अध्याय के प्रथम भाग में कर दिया गया है क्योंकि इसका सम्बन्ध क्रिप्स मिशन की असफलता से था और क्रिप्स मिशन का सीधा सम्बन्ध कांग्रेस और गांधी जी से । यह देश व्यापी आन्दोलन जन-आन्दोलन था ।

आजाद हिन्द फौज

क्रान्ति पूर्ण कार्यों में योग देने वाली और प्रशंसनीय कार्य करने वाली एक शक्ति 'आजाद हिन्द फौज' थी जिसका संगठन सुभाषचन्द्र बोस द्वारा हुआ था । इसका महत्व सुभाष बोस के हाथों में आकर ही बढ़ा । सन् 1941 से 1944 तक अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सुभाषबोस आजाद हिन्दफौज के साथ जापान, बर्मा आदि स्थानों में क्रियाशील रहे और 1944 में जापानी सेना के सहयोग से आजाद हिन्द फौज आसाम की ओर मणिपुर की राजधानी इम्फाल की तरफ बढ़ी किन्तु वर्षा के कारण अंग्रेजों ने अवसर का लाभ उठाया । इधर परिस्थितियों के कारण सुभाष बाबू को बकांक फिर सियोनान जाना पड़ा वहाँ से भी वे अपने रेडियो ब्राडकास्ट में भारतीयों से लार्ड वेवेल का प्रस्ताव स्वीकार न करने का आग्रह करते रहे । अमरीका ने हीरोशिमा और नागासाकी पर अगस्त 1945 मे बम वर्षा की । उस समय विमान के जाते समय दुर्घटना ग्रस्त होने से सुभाषबाबू की मृत्यु हो गयी । इधर जो युद्ध में जापान की पराजय हुई तो आजाद हिन्द फौज के सैनिक भी बन्दी बनाकर लाए गए और उन पर मुकदमा चलाया गया । कर्नल शाहिन-वाज, कप्तान सहगल और लेफ्टिनेन्ट ढिल्लन पर मुकदमे चलाए गए । मुकदमों की सुनवाई समाप्त होने पर तीनों अभियुक्तों को आजन्म कारावास का दण्ड दिया गया, किन्तु प्रधान सेनापति ने इन्हें दण्डमुक्त कर दिया । डॉ० पट्टाभिसीतारमय्या के अनुसार अभियुक्तों को मुक्ति दिलाने के लिए देश भर में प्रदर्शन हुए जिसके कारण कलकत्ता और बम्बई में गोली चली और अनेक व्यक्ति मारे गए व घायल हुए ।[1] आजाद हिन्दफौज की गतिविधियों से ऐसा विदित होता है कि उसका कार्य भारत के बाहर अधिक हुआ और जब भारत में कुछ कारगुजारी दिखाने का समय आया तो उसके संचालक सुभाषबोस की दुर्भाग्यवश मृत्यु हो गयी ।

क्रान्तिकारी इतिहास की अन्तिम घटना नाविक विद्रोह है । यह इतिहास की महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है । नाविक विद्रोह का सूत्रपात 18 फरवरी 1946 को

1. कांग्रेस का इतिहास (पृष्ठ 539) ।

हुआ। इस घटना के मूल मे अंग्रेजो का दुर्व्यवहार था जिसके कारण बम्बई में नाविकों ने विद्रोह कर दिया था। यह विद्रोह करांची, कलकत्ता आदि

नाविक विद्रोह

स्थानों तक फैल गया था। बम्बई में प्रदर्शन और हड़ताले हुई। कराची मे तो नाविको और अंग्रेजों में मुठभेड़ भी हो गयी थी। नाविकों ने गौरी फौज से टक्कर ली और 'अंग्रेजी साम्राज्यवाद का विनाश हो' तथा 'आजाद हिन्द फौज जिन्दाबाद' के नारे लगाये थे। अन्त मे सरदार पटेल के हस्तक्षेप करने पर ही हड़ताली शान्त हुए। भारतीय फौज में अंग्रेजो का विश्वास नही रह गया था। वे गोरी फौज का इस्तेमाल करने लगे थे। संक्षेप मे ये ही प्रमुख घटनाएँ है जिन्होंने भारत के क्रान्तिकारी इतिहास का निर्माण किया है।

□□□

तीसरा अध्याय

ऐतिहासिक उपन्यास

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में ऐतिहासिक विवेचन की दृष्टि से उपन्यासो को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है—ऐतिहासिक, इतिहास-प्रभावित और इतिहास-मुक्त उपन्यास। इस विभाजन के अन्तर्गत प्रथम श्रेणी में हमने ऐतिहासिक उपन्यासों को रखा है। चूँकि प्रस्तुत अध्याय में इन ऐतिहासिक उपन्यासों के माध्यम से ही इतिहास का सिंहावलोकन करना है, अत: इसके पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि हम ऐतिहासिक उपन्यासों के विषय में संक्षेप मे चर्चा कर लें। इतिहास के विवेचन के लिए चुने गये उपन्यासों में प्रारम्भ के ऐंतिहासिक उपन्यासों को स्थान देना हमने उचित नही समझा है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जब वे ऐतिहासिक उपन्यास हैं तो उन्हें स्थान क्यों नही दिया जा सकता ? इसका कारण यह है कि इन प्रारम्भिक ऐतिहासिक उपन्यासों को चन्द विद्वान ही ऐतिहासिक मानते हैं। वास्तविकता तो यह है कि ये प्रारम्भिक उपन्यास, ऐतिहासिक हैं ही नही। इनमें इतिहास से कही अधिक कल्पना, तिलस्म अदि को स्थान मिला है, दूसरे यदि किंचित इतिहास है भी तो वह प्रामाणिक नहीं है। जब ये उपन्यास लिखे गये थे तब हमारे देश का प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध ही न था। कुछ विद्वानों ने इन तथाकथित प्रारम्भिक ऐतिहासिक उपन्यासों का आरम्भ अठारहवी शती के अन्तिम चरण मे रचित किशोरीलाल गोस्वामी के 'कुसुम कुमारी' (1880) से माना है तो कुछ ने गोम्वामी जी के ही 'हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी' (1904) को यह श्रेय दिया है। किशोरीलाल गोस्वामी ने ऐसे अनेक उपन्यासों की रचना की जिसमें 'रजिया बेगम', तारा व लखनऊ की कब्र को प्रमुख स्थान दिया जाता है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि इनमें भी काल्पनिक घटनाओं की ही बहुलता है। इतना ही नही ऐसे उपन्यासों के रचयिताओं को ऐय्यारी और तिलस्म को स्थान देने की चाह रहती थी। अत: वे इतिहास की आड़ में कल्पना, रोमांस, तिलस्म, ऐय्यारी का पर्याप्त प्रयोग करते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि इन रचनाओं में सच्चे इतिहास के दर्शन नही

ऐतिहासिक उपन्यास : जन्म एवं विकास

प्रारम्भिक ऐतिहासिक उपन्यासों का आधार : मिथ्या इतिहास

होते। इतिहास के नाम पर मिथ्या-इतिहास (Pseudo History) ही उपलब्ध होता है। देखने पढ़ने से तो यह आभास मिलता है कि जो कुछ उपन्यासकार ने ऐसे उपन्यासों में दिखलाया है वह यथार्थ में इतिहास है क्योंकि वह सब कुछ हमें इतिहास मानी जानी वाली सामग्री से मिलता-जुलता-सा प्रतीत होता है किन्तु वास्तविकता यह है कि वह नकली इतिहास है। इसी को हमने मिथ्या-इतिहास की संज्ञा दी है। इसी मिथ्या-इतिहास को आधार मानकर रचित उपन्यासों मे जब हम प्रामाणिक इतिहास की खोज करते है तो निराशा हाथ लगती है।

हिन्दी में इस प्रकार के ऐतिहासिक उपन्यासो की भी एक परम्परा है जिसे किशोरीलाल गोस्वामी ने प्रारम्भ किया और गंगाप्रसाद गुप्त ने 'नूरजहाँ' 'वीर पत्नी' 'कुँवरसिंह सेनापति' जैसे उपन्यासों की रचना करके आगे बढाया। इन उपन्यासों में यद्यपि उपन्यासकार ने ऐय्यारी और तिलस्म को हावी नही होने दिया है तथापि इनमे कविता का पुट और प्राकृतिक दृश्यों का समावेश हो गया है, जो उपन्यास की प्रकृति के प्रतिकूल है।

जयरामदास गुप्त भी इसी परम्परा के उपन्यासकार हैं जिन्होने गोस्वामी जी के उपन्यासों मे आये तिलस्म ऐयारी और प्रचुर कल्पना तत्व को पर्याप्त स्थान दिया है।

इसी श्रेणी के ऐतिहासिक उपन्यासो की यह परम्परा आगे चल कर मिश्रबन्धु एवं व्रजनन्दन सहाय के हाथों पुष्ट हुई। इनका प्रथम उपन्यास 'वीरमणि' (1916-17) है जो, डाक्टर गोपीनाथ तिवारी के शब्दों में 'उपन्यास कम, जीवनी और इतिहास अधिक है।[1] मिश्रबन्धुओं के शेष उपन्यासों में भी इतिहास अधिक और औपन्यासिकता कम है। व्रजनन्दन सहाय के उपन्यास 'विस्तृत सम्राट' (1910) मे क्रमशः ऐतिहासिक तत्वों का लगभग अभाव और कल्पना का आधिक्य है जिसमें उपन्यासकार ने नीति और धर्म का भी समावेश कर दिया है। वस्तुतः सहाय जी, गोस्वामी जी के उपन्यासों की प्रवृत्ति से मुक्त नहीं हो पाये हैं। तुर्की गुलामों के सरदार तुगल चीन और गयासुद्दीन के संघर्ष पर आधारित उनका उपन्यास 'लालचीन' (1916) अवश्य ऐतिहासिक दृष्टि से अन्य उपन्यासों की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक सफल है किन्तु चरित्र और मनोविज्ञान प्रधान इस उपन्यास में भी उपन्यासकार कल्पना के प्रयोग से मुक्त नही हो सका है।

ऐतिहासिक उपन्यासों की इस परम्परा में एक नवीन मोड़ सही अर्थों में उन्नीसवी शती के द्वितीय चरण के प्रारम्भ में दृष्टिगोचर होता है। इस नवीन मोड़

---

1. ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार—डॉ० गोपीनाथ तिवारी (पृष्ठ 127)

प्रारम्भिक ऐतिहासिक उपन्यास : नवीन मोड़ पर

को उपस्थित करने का श्रेय है वृन्दावनलाल वर्मा को, जिन्होंने 'गढ़ कुण्डार' (1928) की रचना के साथ ऐतिहासिक उपन्यास की स्वस्थ परम्परा का सूत्रपात किया। ऐतिहासिक उपन्यास पुष्ट होता चला गया। इसके रूप को सवारा प्रसाद, चतुरसेन शास्त्री, राहुल सांकृत्यायन, भगवतीचरण वर्मा, रांगेय राघव, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, यशपाल और हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे समर्थ साहित्यकारो ने। यही कारण है कि हमने उन्नीसवी शती के प्रथम चरण तक रचित मिथ्या इतिहास परक उपन्यासों का ऐतिहासिक विवेचन के लिए चयन न करके कुछ चुने हुए सही अर्थो मे ऐतिहासिक उपन्यासों को ही ऐतिहासिक विवेचन की दृष्टि से चयन किया है।

2

प्रारम्भ में हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों का अभाव था और इस अभाव की ओर प्रसाद जी का ध्यान गया तो उन्होंने 'इरावती' (1937) से इसका प्रारम्भ करना चाहा किन्तु 'इरावती' उपन्यास पूरा न हो सका। जिस तरह प्रेमचन्द 'मंगलसूत्र' अपूर्ण छोड़ गये उसी प्रकार प्रसाद 'इरावती' अपूर्ण छोड गये। मैंने अध्ययन के आधार पर कुछ इस प्रकार की धारणा बनायी है कि हिन्दी में अपूर्ण कृतियों को न तो पाठक ही और न आलोचक वर्ग ही, महत्व देता है—प्रायः उसके प्रति उपेक्षा भाव रखा जाता है। 'मंगलसूत्र' और 'इरावती' दोनों की यही स्थिति है जबकि सत्य यही है कि दोनों ही कृतियाँ क्रमशः प्रेमचन्द और प्रसाद की सबसे बाद की कृति होने के कारण अधिक महत्वपूर्ण हैं किन्तु जहाँ ऐतिहासिक उपन्यासकारों की बात आती है वहाँ प्रसाद जी को स्थान नहीं मिलता कदाचित इसी कारणवश कि उन्होंने एक उपन्यास ऐतिहासिक लिखा और वह भी अपूर्ण रह गया। किन्तु सचमुच यदि इसी विचार से यह उपेक्षा होती है तो अनुचित है। इसीलिए मेरा झुकाव प्रसाद की तरफ विशेष रूप से गया है और मैंने 'इरावती' को, अपूर्ण होते हुए भी अध्ययन के लिए चुना है।

'इरावती' : जयशंकर प्रसाद (1937)

इरावती (1937) उपन्यास का कथानक ऐतिहासिक है जो कि मौर्य वंश की समाप्ति पर स्थापित होने वाले शुंग वंश से सम्बन्धित है। इतिहास क्या कहता है यह

बाद की बात है, सर्वप्रथम तो देखना यह है कि उपन्यास का क्या मत है ? उपन्यास के अनुसार कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) वृहस्पतिमित्र की राजधानी है। वृहस्पतिमित्र जब देखता है कि महाकाली के मन्दिर में (जिसकी देखरेख ब्रह्मचारी करता है) देव मन्दिर के नाम पर निन्दनीय कार्य होता है और देवदासी (इरावती) के नृत्य होते है[1] तो कहता है—"बन्द करो निन्दनीय प्रदर्शन को ! देव मन्दिर के नाम पर विलासिता का प्रचार बन्द करो।[2] इरावती को कुसमपुर पहुँचा दिया जाता है वहाँ वह भिक्षुणी रूप में रखी जाती है। इसके पश्चात् शेष कथानक का विस्तार कुसमपुर (मगध) मे ही होता है। उपन्यासकार द्वारा कुमार (वृहस्पतिमित्र) को महाकाली के मन्दिर मे प्रस्तुत करने और यह कहने का उद्देश्य कि बौद्ध शासन में भी उज्जयनी की वह शोभा सजीव थी[3] सम्भवत: यही दिखलाना रहा है कि उज्जयनी का राज्य भी वृहस्पतिमित्र के ही अधीन था।

इरावती में पुष्यमित्र को महादण्ड नायक के रूप मे प्रस्तुत किया जा रहा है और अग्निमित्र को पुष्यमित्र के पुत्र के रूप में। अग्निमित्र इरावती से प्रेम करता है। वह मालव सेना का परमबीर है और पुष्यमित्र के प्रति भी वह सैनिक की कठोरता बनाये रखता है। कुल मिलाकर 'इरावती' की कहानी 'मगध' के पतन की कहानी है, शुग वंश की विलासिता की कहानी है जो यवनों से अपने राज्य की रक्षा के लिए कलिग के सम्राट खारवेल का मुँह जोहता है। उज्जयनी के महाकाली के मन्दिर मे होने वाले देवदासी के नृत्य को देखकर उसे 'रगशाला' कहने वाला वृहस्पति मित्र पहले इरावती पर और फिर कालिन्दी (नंन्द वंश की अपहृत नारी) पर आसक्त होता है। धर्म की विजय करने की घोषणा करने वाला वृहस्पतिमित्र स्वयं कहता है कि 'वह मेरा ढोंग है ! राजनीतिक दाँवपेंच है।[4]

खारवेल कलिंग का सम्राट है। वह वृहस्पतिमित्र के पास अपना राजदूत भेजता है, स्वर्ण निर्मित 'जिनमूर्ति' को लाने के लिए। वृहस्पतिमित्र स्वर्ण मूर्ति देने के लिए तैयार हो जाता है और दूत के हाथ पत्र भिजवा देता है कि सम्राट खारवेल स्वयं आकर 'जिनमूर्ति' ले जाएँ। इसके पीछे वृहस्पति मित्र की यही बात है कि वह खारवेल को प्रसन्न करके यवनों से मगध की रक्षा के लिए उसकी सहायता प्राप्त कर सकेगा। खारवेल आता है और जिनमूर्ति को ले जाने से पूर्व मूर्ति के लिए बहुमूल्य हार

---

1. इरावती : जयशंकर प्रसाद (पृष्ठ 10)
2. वही (पृष्ठ 10)
3. वही (पृष्ठ 10)
4. वही (पृष्ठ 84)

खरीदने के लिए श्रेष्ठि धनदत्त के यहाँ जाता है। श्रेष्ठि ने अग्निमित्र को भोजन के लिए पहले ही आमन्त्रित किया है; वही कालिन्दी इरावती को लेकर पहुँच जाती है। परिस्थितिवश दोनो स्त्रियाँ, खारवेल, उसका अनुचर केयरुक और अग्निमित्र तथा ब्रह्मचारी रात्रि को श्रेष्ठि धनदत्त के यहाँ विश्राम करने के विचार से ठहरते है। वहाँ संगीत और नृत्य के दौरान केयरुक आकर खारवेल को सूचित करता है कि सम्राट चारो ओर से सैनिक से घिर गए हैं। खारवेल एक अज्ञात ग्राहक के रूप में आया था अत: उसके मुख से खारवेल नाम सुनकर सभी चौकते है और अग्निमित्र उसे अपने होते निश्चित रहने का आश्वासन देता है।[1] यही उपन्यास का अपूर्ण कथानक समाप्त हो गया है। अन्त में उपन्यासकर ने सारे विरोधी तत्व एकत्र कर दिए है। कालिन्दी अग्निमित्र को चाहती है और अग्निमित्र इरावती को। इधर मगध का विरोधी चक्रवर्ती खारवेल भी मौजूद है। प्रसाद जी आगे इस गुंथे हुए घटनाचक्र को किस प्रकार सुलझाते, कहना कठिन है। फिर भी उपन्यास की इस लघुता मे भी उसका सौन्दर्य देखने योग्य है। उपन्यास की कथावस्तु इतिहास के ही प्रांगण से चुनी गयी है जिसे कवि ने कल्पना और भाषा शैली के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

इरावती : इतिहास की कसौटी पर

'इरावती' में जिस इतिहास को आधार बनाया गया है वह कहाँ तक प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत हुआ है यह एक विचारणीय प्रश्न है। श्री गुलाबराय जी ने इरावती के सम्बन्ध मे अपना मत व्यक्त किया है कि इतिहास को दृष्टिगत करते हुए उपन्यास मे घटनाएँ असगत है : इतिहास के अनुसार मौर्य वंश में वृहस्पतिमित्र नाम का कोई राजा नही हुआ।······ कलिग सम्राट खारवेल के मगध पर आक्रमण करने और अग्रजिन की प्रतिमा की घटना इतिहास सम्मत नही है।[2]······इसी तरह की और भी बातें इस सम्बन्ध मे कही गयी हैं।

इस सम्बन्ध मे हमें यही कहना है कि यह दोनों ही कथन भ्रामक है। इतिहास बृहस्पतिमित्र के अस्तित्व को भी स्वीकारता है और अग्रजिन की स्वर्ण मूर्ति की घटना के घटित होने को भी। मौर्य साम्राज्य चन्द्रगुप्त मौर्य, बिन्दुसार, अशोक, कुणाल सम्प्रति, शालिशुक से होता हुआ वृषसेन और पुष्य वर्मन तक आते आते अन्तिम साँसे ले रहा था। इस साम्राज्य के अन्त के बाद मगध मे शुग वंश का प्रारम्भ हुआ जिसका संस्थापक इतिहास में पुष्यमित्र (ई० पू० 164-72) बतलाया गया है। उज्जयनी के निकट विदिशा मे शुंग वंश की एक शाखा स्थापित हो गयी थी और इस उज्जयनी

1. इरावती : पृष्ठ 106
2. प्रसाद की कला : गुलाबराय (पृष्ठ 159)

प्रदेश का प्रथम शासक बृहस्पति मित्र (ई० पू० 134-74) था। इतिहास के अनुसार नन्द ने कलिंग विजय की थी और वहाँ से आदि जिन (अग्रजिन अर्थात् तीर्थ शंकर ऋषभ देव) की स्वर्ण-मूर्ति उठा लाया था। पुष्यमित्र कट्टर ब्राह्मण था, उसने बौद्धों पर अत्याचार किए। जैनों के प्रति उसे विद्वेष था अत: जैन सम्राट खारवेल ने मगध नरेश को पराजित किया और वह उस अग्रजिन की स्वर्णमूर्ति को वापस ले गया।[1] यह इतिहास सम्मत तथ्य है, अत: यह कहना कि वृहस्पतिमित्र नाम का राजा हुआ नहीं या खारवेल द्वारा अग्रजिन की मूति ले जाने की घटना इतिहास मे नही मिलती, गलत है। हाँ, यह अवश्य है कि इतिहास जिस पुष्यमित्र को शुंग वंश का संस्थापक बतलाता है उसे प्रसाद जी ने वृहस्पति मित्र का महादण्ड नायक बना दिया है। दूसरे, इतिहास के अनुसार बृहस्पति मित्र का समय ई० पू० 134-74 है और जैन सम्राट खारवेल का समय 200-150 का काल है जो कि परस्पर मेल नही खाता। हां। खारवेल का समय शुंगवंश के राज्य (ई० पू० 134-72) के अंतर्गत अवश्य आ जाता है। इस सम्बन्ध में हमें यही कहना होगा कि प्रसाद जी ने इतिहास में इस प्रकार के परिवर्तन कर लेने की स्वतन्त्रता वरती है। गुलाबराय जी के अनुसार खारवेल द्वारा अग्रजिन की प्रतिमा ले जाने की घटना और मगध और आक्रमण की घटना में चार वर्ष का अंतर है किन्तु उपन्यास में दोनो बाते साथ-साथ दिखला दी गयी है। इस सम्बन्ध में हमने स्वतन्त्रता वाली बात पहले कह दी है। प्रसादजी के उपन्यास मे ही ऐसी असंगति ढूँढी जा सकती हो, सो बात नही है, अग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार सर वाल्टर स्काट ने भी अपने प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'केनिलवर्थ' मे एमी राबर्ट नामक पात्र की मृत्यु, जो कि वास्तव में सन् 1600 में मरा था 15 वर्ष वाद दिखलाई है, केवल इसलिए कि वह एमीरावर्ट तथा एलीजाबेथ के बीच वार्तालाप की आयोजना करना चाहता था। उपन्यासकार अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास को लेकर स्वतंत्रता बरतते है उन्हें यह अवांछनीय स्वतन्त्रता बरतनी चाहिए या नही, यह एक पृथक विषय है और इस पर विपय प्रवेश के अंतर्गत विचार किया जा चुका है।

धनी वर्ग किस प्रकार, किस सीमा तक राज्य को प्रभावित करते है यह श्रेष्ठि धनदत्त की कथा से पता चलता है। आधुनिक युग में भी सरकार, श्रीमानों से प्रभावित दिखलाई पड़ती है। इरावती की अहिंसा-वृत्ति भी आधुनिक युग का प्रभाव है।[3] उपन्यास के रचनाकाल में गाँधी को अहिंसा जोरो पर थी उसमें नारी का भी

1. भारतीय इतिहास एक दृष्टि : डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन (पृष्ठ 103-108)
2. प्रसाद की कला : गुलाबराय
3. इरावती : पृष्ठ 40, 67

पूर्ण योग था अत. इरावती पर गांधी जी को इसी अहिसा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

जय यौधेय : राहुल सांकृत्यायन

हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकारो मे राहुल सांकृत्यायन का महत्वपूर्ण स्थान है। राहुलजी ने कहानियाँ भी लिखी है और उपन्यास भी, जीवनियाँ भी लिखी है तो यात्राएँ भी। चूंकि राहुलजी ने विदेशो की यात्राएँ एक लम्बे अर्से तक की थी अत: उनका ज्ञान व्यापक था, अनुभव विशाल था। राहुलजी ने, 'जीने के लिए,' 'सिह सेनापति,' 'जय यौधेय,' 'मधुरस्वप्न' आदि उपन्यासों का सृजन किया जो ऐतिहासिक उपन्यासों की श्रेणी मे आते है। यहाँ सभी उपन्यासों पर विचार करना न तो सम्भव ही है और न हमारा ध्येय ही। अत: हम यहाँ केवल 'जय यौधेय' पर ही विचार करेंगे।

भारत के इतिहास में गुप्तवंश, वर्धन वंश आदि 'विशेष आकर्षक' रहे हैं। सम्भवत: इनकी शूरवीरता और पराक्रम ही इसका कारण है। यद्यपि 'जय यौधेय' की अधिकारिक कथा 'जय' नामक यौधेय से सम्बद्ध है तथापि प्रकारान्तर से चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य) की कथा भी इस उपन्यास के माध्यम से कह दी गयी है। 'जय' की शूरवीरता के साथ चन्द्रगुप्त का पराजय भी तो प्रकट हो ही जाता है। जैसा कि 'जय योधेय' (1944) उपन्यास के प्राक्कथन से प्रकट होता है, उपन्यास का काल सन् 550-400 ई० है।[1] 'यौधेय' प्रदेश की स्थिति सतलज और जमुना के बीच बतलायी जाती है। श्री सच्चिदानन्द भट्टाचार्य के अनुसार यौधेयो का निवास सतलज घाटी में था और बाद में उनका विस्तार मथुरा प्रदेश तक हो गया था।[2] यद्यपि चन्द्रगुप्त जैसे पात्रों को छोडकर, पुरुष पात्रों में 'जय' अज्जु का सिहवर्मा तथा नारी पात्रों में बासन्ती, श्यामा, तरुणी, नन्दा, वसुनन्दा सभी कल्पित है किन्तु देशकाल और वातावरण के आधार पर उपन्यास का स्वरूप ऐतिहासिक ठहरता है।

इतिहास के अनुसार 'समुद्रगुप्त' का काल 328-378 ई० है तथा समुद्रगुप्त ने मालव, अर्जुनायन यौधेय, माद्रक, आभीर आदि गणराज्यों से अपनी अधीनता

---

1. जय यौधेय : राहुल सांकृत्यायन (प्राक्कथन—पृष्ठ 1)
2. ······They (Yaudheyas) probably lived at first in the vallay of satlej and later on expanded as far as the Mathura-region they had a republican form of Government.

Dictionary of Indian History (P. 859)

स्वीकार करायी थी। इस बात के प्रमाण ऐतिहासिक ग्रन्थों मे मिलते हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का काल इतिहास मे सन् 379 से 414 ई० दिखलाया गया है।[1] सम्भवत: इसका कारण यही रहा होगा, जैसा कि घटनाओ से ज्ञात होता है कि इसने अपने बड़े भाई का जो भीरू प्रकृति का था वध कर दिया। उसे राज्य करने का अवसर ही नही दिया। जो हो, राहुल जी ने उपन्यास का जो काल बतलाया है वह इतिहास मे बतलाए गये चन्द्रगुप्त के काल से मेल खाता है। उपन्यास मे यौधेयों का गुप्त राजाओं से जो युद्ध दिखलाया गया है और अन्त में यौधेय की पराजय दिखलायी है वह भी इतिहासानुमोदित है।[2]

उपन्यास के नायक जय का, जो कि यौधेय गणराज्य का सेनापति है, 'उदात्त' रूप प्रस्तुत किया गया है उसके चरित्र मे दोष नही के बराबर हैं जबकि गुणो का वह आगार है। वह, क्रान्तिकारी है, समाज के विकास का हामी है इसी से सम्भवत: उन धार्मिक विश्वासों से उसे प्यार नही है जो उसके विकास में बाधक सिद्ध होते है। वह साम्राज्यवाद का विरोधी है। उसका यह कथन कि 'मै भरत खण्ड को इसी तरह स्वतन्त्र गणों का स्वच्छन्द संघ देखना चाहता हूँ...[3] इस बात का प्रमाण है। वस्तुत: यौधेय जय अनेकता में भी एकता का स्वप्न देखता है। श्यामा (शबर कन्या) से उसका प्रेमक्रीड़ा करना किन्तु उसे छोडकर चले जाना और वसुनन्दा से विवाह करना उसके चरित्र को निर्बल बनाने वाली बात है किन्तु उस युग में जब सम्राटों और सामन्तों के यहाँ दासियों और सौतों की अच्छी खासी सख्या होती थी इस बात को ध्यान में रखते हुए तथा यौधेय प्रदेश के रीति रिवाजों को ध्यान में रखते हुए यह कमजोरी उसके चरित्र को दोष-मुक्त कर देती है।

समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त दोनों मे चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का व्यक्तित्व अधिक उभर कर सामने आता है। यों दोनों में ही साम्राज्यवादी प्रवृति है जिसके फलस्वरूप दोनो ही यौधेयों पर आक्रमण करते हैं किन्तु समुद्रगुप्त स्वयं को सफल न होते देख सन्धि कर लेता है जब कि चन्द्रगुप्त विजय प्राप्त करता है। स्वय जय के शब्दों में, उसमे चन्द्रगुप्त मौर्य का युद्ध कौशल है और कूटनीति में वह कौटिल्य के कान काटता है।[4]

---

1. भारतीय इतिहास एक दृष्टि : डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन
2. Dictionary of Indian History : Sacehidanand Bhattacharya (Page 859)
3. जय यौधेय : राहुल सांकृत्यायन (पृष्ठ : 347)
4. वही (पृष्ठ 238)

'जय यौधेय' यद्यपि चौथी शताब्दी के अन्तिम चरण का चित्र उपस्थित करता है तथापि उसमे कुछ इस प्रकार के उदाहरण भी देखने को मिलते है जो सामान्य कथन होते हुए भी आधुनिक युग की छाप लिए हुए है। राजतन्त्र मे भावनाओ के दमन और गणतन्त्र मे भावनाओ के सम्मान तथा जाति-पाति की व्यवस्था समाप्त न होने तक देश के विकास के प्रयत्नों के अपूर्ण रहने की बात जो कही गयी है[1] वह इस बात का प्रमाण है। इस दृष्टि से गाँधी जी को अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन अथवा हरिजन आन्दोलन का प्रभाव उपन्यास पर माना जा सकता है। भारत मे विदेशी साम्राज्य का उन्मूलन करके, प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली की स्थापना, गणतन्त्र में व्यक्तिगत भावनाओं के सम्मान वाली बात को प्रमाणित करती है।

उपन्यास में आधुनिक युग का स्वर

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जय यौधेय की रचना (सन् 1944) समयानुकूल है। सन् 1947 के पूर्व भारत परतन्त्र था और साम्राज्यवादी विदेशी सत्ता के पंजो मे जकड़ा हुआ था। ऐसे समय में यदि यह कहा जाए कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध गणराज्य का विरोध दिखलाने वाले उपन्यास की रचना कर राहुल जी ने हर भारतीय नौजवान को 'जय' बनने की प्रेरणा प्रदान करने का प्रयास किया, तो गलत नहीं होगा। इसके लिए तर्क किया जा सकता है कि तब उपन्यास मे साम्राज्यवाद की विजय क्यो दिखलायी गयी? इसका एकमात्र उत्तर यही है कि अव्वल तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद सचमुच में शक्तिशाली था ही किन्तु राहुल जी का साम्राज्यवाद की विजय दिखलाने का उद्देश्य इतिहास की रक्षा करना था। सम्भवत: इतिहास को पलट देना उन्होंने उचित नहीं समझा। यह ठीक भी है क्योकि हमारे विचार में जैसा कि हमने प्रारम्भिक अध्याय के अन्तर्गत व्यक्त भी किया है कि ऐतिहासिक उपन्यासकार को इतिहास की रक्षा करनी चाहिए। इस दृष्टि से 'जय यौधेय' को पूर्ण सफलता मिली है।

दिव्या : यशपाल (1945)

यशपाल के उपन्यास साहित्य में ही नही बल्कि हिन्दी उपन्यास साहित्य मे भी दिव्या (1945) को एक सराहणीय प्रयास स्वीकारा गया है। दिव्या को ऐतिहासिक उपन्यासों की श्रेणी में ही रखा जाता है बावजूद इसके कि स्वयं कृतिकार के शब्दो मे वह मात्र ऐतिहासिक कल्पना है। एक तो जिस काल का चित्र बनाने का उपन्यासकार ने प्रयास किया

दिव्या : एक ऐतिहासिक कल्पना

---

1. जय यौधेय (पृष्ठ 206)

है उसका इतिहास यथेष्ट प्राप्य नहीं होनें से दूसरे 'प्राप्य' पर लेखक का अधिकार न होने से उसने कल्पना ही की है।[1] वस्तुत: यह लेखक का स्वयं के प्रति तटस्थ दृष्टिकोण है। डॉ० त्रिभुवन सिंह ने अपनी पुस्तक "हिन्दी उपन्यास और यथार्थ-वाद" में ऐतिहासिक उपन्यासों की दो कोटियो की चर्चा की है—शुद्ध ऐतिहासिक तथा इतिहासाश्रित प्रथम कोटि के उपन्यासों मे इतिहास की घटनाओं, पात्रों और परिस्थितियों का पूर्ण विवरण और अकन रहता है जब कि दूसरी कोटि के उपन्यासों में प्रच्छन्न रूप में देश-काल का उल्लेख मात्र रहता है।[2] दिव्या की गिनती दूसरी श्रेणी के उपन्यासों में आती है। दिव्या का यह वर्गीकरण लेखक के स्वयं के कथन के आधार पर ठीक भी है तथापि हमने दिव्या को ऐतिहासिक उसन्यासों की श्रेणी मे ही रखना उचित समझा है। जिस प्रकार कसौटी के अभाव में स्वर्ण की शुद्धता को चुनौती देना न्याय संगत नही है उसी प्रकार तत्कालीन इतिहास उपलब्ध न होने मात्र से उपन्यास की ऐतिहासिक प्रकृति को नकार देना न्याय संगत नही है दूसरे, यह भी ध्यान में रखने की बात है कि कोई भी उपन्यास कितना भी ऐतिहासिक क्यों न हों, कल्पना विहीन नही हो सकता, तब दिव्या की कल्पना ही क्यों तिरस्कार योग्य समझी जाए? तीसरी बात यह है कि दिव्या के माध्यम से तत्कालीन इतिहास की प्रामाणिकता का अनुमान न लगे उसके माध्यम से अभिव्यक्त आधुनिक इतिहास की अभिव्यक्ति ध्वनित रूप में उपलब्ध होती है।

अस्तु, उपन्यासकार ने दिव्या में बौद्धयुगीन वातावरण को कल्पना के आधार पर अधिक से अधिक यथार्थ रूप में उभारना चाहा है। इतने प्राचीन ऐतिहासिक काल में व्याप्त वातावरण, धर्म-रूढ़ियों रीति-रिवाजों, आचार व्यवहार और सामाजिक बुराइयों को कल्पना के आधार पर उभारने का जो सफल प्रयास 'दिव्या' में हुआ है उसी के कारण "दिव्या" का स्वरूप (मात्र ऐतिहासिक कल्पना होते हुए भी) ऐतिहासिक ही प्रतिभासित होता है।

सागल, मद्र साम्राज्य का गणराज्य है। वहाँ के नियमों के अनुसार तक्षशिला और मगध से शस्त्र और शास्त्र की विद्या सीखकर आए युवकों की नियुक्ति के लिए प्रतियोगिता होती है इन प्रतियोगियों में उच्च और निम्नवर्ण के उम्मीदवार भाग लेते हैं। पृथुसन योग्य होते हुए भी दास-पुत्र होने के कारण तिरस्कृत होता है। नारियों की कला प्रतियोगिता में दिव्या (द्विज कुल) विजयी होती है। यही दिव्या आगे चलकर

---

1. दिव्या—प्राक्कथन : यशपाल (पृष्ठ 5)
2. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : डॉ० त्रिभुवनसिंह (चतुर्थ संस्करण 1965 पृष्ठ 303)।

पृथुसेन से प्रेम करती है, पृथुसेन के युद्ध में जाने के पूर्व वह उसके साथ संभोग करती है और गर्भवती हो जाती है। पृथुसेन के लौटने पर उसके चाहने पर भी पृथुसेन का पिता दिव्या से उसका विवाह न कर सीरो (गणपति की कन्या) से विवाह करना तय करता है। परिस्थितिवश यही होता भी है। दिव्या असह्य वेदना में तड़पती है वह दारा, फिर अशुंमाला आदि के रूप मे भटकती है। अन्त मे गणराज्य का आभिजात्य वर्ग दासपुत्र पृथुसेन का पतन करके ही छोड़ता है। यह भिक्षु हो जाता है मारिश, रुद्रधीर आदि अन्य व्यक्ति भी दिव्या के जीवन में आते है किन्तु अन्त में वह मारिश को आत्मसमर्पण कर देती है। गणराज्य में द्विजकुलवर्ण की मर्यादा पुनः स्थापित हो जाती है।

दिव्या में आधुनिक युग की अभिव्यक्ति

दिव्या मे सभी पात्र कल्पित है, घटनाएँ कल्पित है केवल सम्बन्धित देशकाल मे व्याप्त वातावरण यथार्थ-सा है। इसमे इतिहास का अभाव है। तब प्रश्न उठता है कि ऐसी रचना करने का ध्येय क्या है? इसका उत्तर यशपाल स्वयं देते है—"उस समय के चित्रमय ऐतिहासिक काल के प्रति लेखक का मोह"।[1] यह बात तो यहाँ समाप्त हुयी। किन्तु इसके आगे भी विचार करने की आवश्यकता है। यशपाल ने निष्पक्ष रूप से यह स्वीकार किया कि "चित्रमय ऐतिहासिक काल के प्रति उनको मोह है। यह तो ठीक है किन्तु वस्तुतः यशपाल के मन में अज्ञात रूप से मोह का दूसरा चोर भी बैठा है जिसे सूदूर अतीत में विलीन बौद्ध युद्ध से नही, आधुनिक युग से मोह है। जिस युग में लेखक जी रहा है उससे उसका प्रभावित होना अनिवार्य है, स्वाभाविक है। स्वाधीनता की लड़ाई में योग देने वाले क्रान्तिकारियों में यशपाल का नाम उल्लेखनीय है।[2] जो व्यक्ति अपने युग की गतिविधियों में इतना सक्रिय रहा हो उसके लिए यह अनिवार्य है कि उसके मन में ऐतिहासिक काल के प्रति मोह कम आधुनिक काल के प्रति मोह अधिक हो। इसके प्रमाण हमें दिव्या में ही उपलब्ध होते हैं।

'दिव्या' के विवेचन से पता चलता है कि उसमें दास प्रथा, वर्ग भेद या जाति भेद, वेश्यावृति तथा बहु पत्नी प्रथा आदि पर तत्कालीन युग की पृष्ठ भूमि में विस्तार से प्रकाश, डाला गया है। साथ ही निम्न वर्ण में विकसित होती हुई चेतना तथा नारी जागरण के उभरते हुए चिन्ह भी स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं।

---

1. दिव्या (प्राक्कथन) पृष्ठ : 5
2. भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास : मन्मथनाथ गुप्त

पृथुसेन गणराज्य मे रहने वाला दासपुत्र है। योग्य होते हुए भी, अभिजात वंश के साथ शिविका में कन्धा देने का अधिकार उसे नही है तो सिर्फ इसलिए कि वह दासपुत्र है।[1] किन्तु फिर भी चूंकि वह योग्य है अतः उसमे सोचने का सामर्थ्य है, विचारने की शक्ति है। वह दिव्या से कहता है, "कोई नही सोचता—पुष्पमित्र हो या केन्द्रस, मद्र में वर्णाश्रम की स्थापना के लिए अपना रक्त बहाने नही आएगा।" उन्हे प्रयोजन है अपने साम्राज्य विस्तार से, मद्र की भूमि का धन द्रव्य पाने से।[2] पृथुसेन शोषित वर्ग का होते हुए भी चेतनानुप्रमाणित है। उसमे परिस्थितियो को देखकर भविष्य का अनुमान करने की सामर्थ्य है। यही दास पुत्र आगे चलकर गणपति की कन्या सीरो से विवाह कर लेता है और महासेनापति बनता है तब हाटों, पण्यो और मार्गों पर खड़े लोग नमस्कार की मुद्रा में जयघोष करते है—"महादेवी सीरो की जय। महासेनापति पृथुसेन की जय।" ये वस्तुतः निम्नश्रेणी में गिने जाने वाले लोगो की मिटती हुई निम्नता के लक्षण है।

दिव्या का;प्रकाशन काल सन् 1945 है अतः इसका लेखन काल दो-चार वर्ष पूर्व का रहा होगा। यह काल देश की स्वाधीनता की लडाई का काल था। यों तो जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है लेखक का स्वयं का इस लड़ाई में योगदान रहा है तथापि वह क्रान्तिकारी के रूप में था और यहाँ चर्चा हो रही है सुधारात्मक रूप की, समाज के परिप्रेक्ष्य में। ये समाज-सुधार के कार्य समाज सुधारकों द्वारा तथा कांग्रेस द्वारा किए गए थे जिसका कार्य रचनात्मक (Constructive) था जब कि क्रान्ति के समर्थक ध्वंसात्मक (Destructive) दृष्टिकोण के थे किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि क्रान्तिकारी विचारों का व्यक्ति समाज के कार्यक्रम के रचनात्मक स्वरूप को पसन्द न करे।

उस समय देश में 'दिव्या' उपन्यास में वर्णित सभी सामाजिक बुराइयों के प्रति आन्दोलन हो रहे थे उनका उन्मूलन करने का प्रयास हो रहा था। सन् 1892 मे वैश्यावृत्ति का विरोध किया गया था।[3] सन् 1920 में कुली प्रथा का अन्त हो गया था।[4] सन् 1930 में उपसमितियाँ बनायी गयी थीं जिनके माध्यम से सुधारात्मक कार्य किए गए थें। अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन भी जोरों पर था।[5] इसके अतिरिक्त

1. दिव्या : पृष्ठ 22
2. दिव्या : पृष्ठ 67
3. कांग्रेस का इतिहास : पृष्ठ 54
4. कांग्रेस का इतिहास : पृष्ठ 108
5. कांग्रेस का इतिहास : पृष्ठ 175

सन् 1917 में स्त्रियों के लिए समानाधिकारों की माँग की गयी थी ।[1] राजा राममोहन राय के ब्रह्म-समाज तथा स्वामी दयानन्द के आर्य समाज ने नारी वर्ग में चेतना उत्पन्न की, ब्रह्म मैरिज एक्ट "के अन्तर्गत बहु विवाह" पर रोक लगा दी गयी थी ।[2] ये सब ऐसे सुधारात्मक प्रयास थे जिनकी अच्छाई मे किसी को भी सन्देह नही हो सकता फिर चाहे वह क्रान्तिकारी हो अथवा अहिसावादी । यशपाल जी का भी इन आन्दोलनों और कार्य क्रमो से प्रभावित न होना अथवा असहमत होना सम्भव नही था ।

यह बड़ी विचित्र-सी बात है कि जिस समाज मे अभिजाज्य-वर्ग, पृथुसेन को दासपुत्र कह कर परित्यक्त कर दे उसी दासपुत्र के साथ 'द्विज कुल' की दिव्या प्रेम सम्बन्ध तो स्थापित कर ही ले साथ ही निकट भविष्य में विवाह की योजना भी बना ले ।[3] आज के युग मे भी हम बहुत से समाजो मे इस वर्ग भेद और जाति भेद के कारण विवाह सम्बन्ध होते नही देखते तब उस युग की तो बात ही और थी । फिर क्या कारण था कि कल्पित कहानी में लेखक को ऐसी योजना करनी पड गयी । वस्तुतः यह मिटती हुई जाति प्रथा, मिटते हुए वर्गभेद का आग्रह था ।

यहाँ हमें प्रेमचन्द के गोदान और उसके पात्र मातादीन और सिलिया का स्मरण हो जाता है । प्रेमचन्द के समय में भी सामाजिक चेतना का उदय हो चुकी थी । किन्तु चूँकि वह प्रारम्भिक अवस्था थी, निम्न वर्ग का सामाजिक और वैधिक स्तर उठ नहीं पाया था इसलिए प्रेमचन्द ने मातादीत (ब्राह्मण) को ही नीचे उतारा क्योंकि समाज की दशा को देखते हुए सिलिया के लिए इतना ऊपर उठना सम्भव नहीं था । किन्तु यशपाल तक आते-आते जाति भेद और वर्ग भेद मे शिथिलता आ गयी थी । नारी स्वातन्त्र्य बढ़ चला था निम्न वर्ग का स्तर ऊँचा उठ गया था । अतः यहाँ हम स्थिति उल्टी देखते हैं । यहाँ निम्न वर्ग (दासपुत्र) ऊपर उठकर दिव्या (द्विज) से सम्बन्ध स्थापित करता है । यद्यपि न तो प्रेमचन्द का मातादीन ही सिलिया को विधिवत अपनाने का साहस बटोर सका और न पृथुसेन ही पिता के आग्रह का विरोध कर सका ।

रुद्रधीर नामक युवक का अंशुमाला (दिव्या) के प्रति उसकी प्रशंसा में यह कथन कि—भद्रे ! कांचन की खान से लौह उत्पन्न नही हो सकता—मनुष्य न 'कुल' दे सकता है न छीन सकता है ।[4] आभिजात्य मनोवृति का पोषक है किन्तु अंशुमाला

1. कांग्रेस का इतिहास (पृष्ठ 55)
2. कांग्रेस का इतिहास (पृष्ठ 8-9)
3. दिव्या : यशपाल (पृष्ठ 69)
4. वही (पृष्ठ 243)

द्वारा उसके ठुकराये जाने की इस मनोवृति में अभिजात्य वर्ग के प्रति मिटती हुई आस्था के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं ।

सीरो गणपति की कन्या है जो पृथुसेन की सेवा-सुश्रुषा करके दिव्या के अस्तित्व को हटाकर अपना प्रभाव जमाती है और पृथुसेन उससे विवाह कर लेता है । किन्तु विवाह के पश्चात् वह पृथुसेन को दो टूक उत्तर देती है । उसका स्वतन्त्र दृष्टिकोण और वाणी स्वातन्त्र्य जो आज की नारी से भी कही अधिक आगे बढा हुआ है, नारी चेतना का परिणाम है । सीरों के चरित्र में अपने को आधुनिक कहने वाली आज की नारी से कही अधिक उच्छृखलता है । जब पृथुसेन उससे व्यथित होता है तो सीरों उसे उत्तर दे देती है - "मै तुम्हारी क्रीत दासी नही हूँ । ·· ··कितनी दासियाँ तुम्हारी पर्यक सेवा के लिए है ? मेरे लिए संसार मे केवल तुम ही एक पुरुष नही हो ।······मै तुम्हारे वश की धुरी खींचने के लिए वछडे उत्पन्न करने वाली गैया नही हूँ······[1]"

सामन्त मद्र से म्लेच्छो और शूद्रों के शासन का अन्त करने के उपाय पर विचार करते है । उसका उपाय था अचेत अवस्था में विध्वस । उनके अनुसार जागती हुई चीटी की शक्ति हाथी से अधिक है ।[2] सांमन्तो का यह विचार पृथुसेन के प्रति है जो निम्न वर्ग के उठते हुए बौद्धिक व सामाजिक स्तर का प्रमाण है । वेश्यावृति को लेकर तो उपन्यास में पर्याप्त विवेचन हुआ है जिसमें वेश्यावति को धिक्कारा गया है ।[3] वहु विवाह जैसी सामाजिक बुराई पर प्रकाश डालने के लिए लेखक ने पृथुसेन और सीरो का सहारा लिया है । एक दिन भावावेश की अवस्था में सीरो को अंक में लेकर पृथुसेन ने दिव्या को सपत्नी रूप में स्वीकार करने का अनुरोध किया । सीरो नागिन की भाँति फुंकार कर दूर जा खडी हुई ।··· · इसके पश्चात् सीरो ने जम्बूदीप के आर्यो की कुत्सित बहुपत्नी प्रथा के प्रति घृणा प्रकट की [4]······ इस विवेचन से यह स्पष्ट हो आता है कि यद्यपि लेखक को चित्रमय एतिहासिक काल ने मोह अवश्य लिया हो परन्तु साथ ही ज्ञात, अज्ञात रूप से उसे आधुनिक युग के इतिहास ने भी प्रभावित अवश्य किया है जिसकी अभिव्यक्ति दिव्या में परोक्ष रूप से हुई है ।

बाणभट्ट की आत्मकथा : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (1946)

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी की गणना हिन्दी के श्रेष्ठ आलोचकों में होती है

---

1. दिव्या : पृष्ठ 251
2. दिव्या : पृष्ठ 257
3. दिव्या : पृष्ठ 183-184, 226
4. दिव्या : पृष्ठ 126

किन्तु 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की रचना करके द्विवेदीजी ने अपना स्थान श्रेष्ठतम उपन्यासकारों की पंक्ति में भी सुरक्षित कर लिया है। कम से कम मेरे विचार में तो हिन्दी में विशेष रूप से ऐतिहासिक उपन्यासों मे इसकी जोड़ का दूसरा उपन्यास नहीं है। पाठक इस उपन्यास को एक बार पढ़े, दो बार पढ़े, तीन बार पढे किन्तु अघाएगा नही। उच्चकोटि के उपन्यास का यही लक्षण है। यों द्विवेदीजी ने आत्मकथा के बाद चारु-चन्द्रलेख (1963) की रचना की है किन्तु आत्मकथा की अपेक्षा इसे कम ही सफलता मिली है। जो हो, हमारी अध्ययन सीमा के अन्तर्गत आत्मकथा ही आती है अत: यहाँ हम उसी का विवेचन करेंगे।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' (1946) मध्य-काल के 'वर्धन वश' और मौखरिवश से विशेष रूप से सम्बन्ध रखती है। अधिकारिक कथा का सम्बन्ध प्रभाकरवर्धन के पुत्र हर्षवर्धन से ही है। उक्त उपन्यास मे ऐतिहासिक और काल्पनिक दोनो प्रकार के पात्र हैं और दोनों ही प्रकार की घटनाओं का चयन किया गया है। उपन्यास मे कल्पना और इतिहास का अपूर्व सम्मिश्रण है। जहाँ तक 'बाणभट्ट' का प्रश्न है वह ऐतिहासिक व्यक्ति है। बाणभट्ट हर्षवर्धन का कवि था साथ ही उच्चकोटि का विद्वान भी। इसी 'बाणभट्ट' के मुख से उत्तम पुरुष शैली मे, उपन्यासकार ने हर्षवर्धन के समय की कथा कहलवायी है।

बाणभट्ट की आत्मकथा में हर्षवर्धन व कृष्णवर्धन स्थाणीश्वर राज्य से सम्बन्ध रखते हैं। कान्यकुब्ज का सम्बन्ध मौखरिवंश से था जिसके राजा ग्रहवर्मा का हर्षवर्धन की बहिन राजश्री से विवाह हुआ था अत: मौखरियों और वर्धनों में मित्रता स्थापित हो गयी थी। महामाया और 'छोटे महाराज' का सम्बन्ध भी मौखरिवंश से है। महामाया वाग्दान के आधार पर स्वयं को 'आघोर भैरव' की पत्नी ही मानती है किन्तु ग्रहवर्मा से सम्बन्ध होने से वह मौखरिवंश में आ गयी। यशोवर्मा का सेवक विग्रह वर्मा भी मौखरि है और कान्यकुब्जी ब्राह्मण भवुशर्मा मौखरियों का गुरु है।

एक अन्य वर्ग तुवर मिलिन्द और उसकी कन्या भट्टिनी (चन्द्र दीधिति) का है। भट्टिनी के मुख से ही आदित्यसेन के नाम पर भी प्रकाश पड़ा है जिसके सैनिकों ने दस्युओं के आक्रमण के समय भट्टिनी की जी जान से रक्षा करने का असफल प्रयास किया था।

तीसरा वर्ग आभीर सामन्त लोरिक देव का है जिसका हर्षवर्धन से खिचाव-तनाव है, जो केवल इस आधार पर कि आज गुप्तवंश निर्बल हो गया है, बनियों (हर्षवर्धन—जो कि पुष्यमूर्ति वैश्य-क्षत्रिय वंश का था) का आधिपत्य स्वीकार नहीं कर सकता।

एक अन्य व्यक्ति ईश्वरसेन है जो गुप्त सम्राट का विश्वासभाजन है। इसके अतिरिक्त बाणभट्ट तथा निपुणिका, भट्टिनी की सुरक्षा की दृष्टि से परिस्थितियो को अनुकूल बनाते हुए चलने वाले पात्र है। सुचरिता-विरतिवज्र, वसुभूति, वैंक्टेशभट्ट उडपति भट्ट आदि अन्य ऐसे पात्र है जो राजनीति को प्रभावित करते है।

बाणभट्ट की आत्मकथा मध्यकालीन इतिहास से सम्बद्ध है। इतिहास के अनुसार सन् 606-647 ई० मे हर्षवर्धन नामक सम्राट हुआ था जिसने अपनी राजनीति के बल पर सम्पूर्ण उत्तरापथ में अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया था। मौखरियो से उसकी शत्रुता थी किन्तु मौखरि वंश के ग्रहवर्मा से राज्यश्री का विवाह हो जाने से यह वैमनस्य मिट गया था।

बाणभट्ट की आत्मकथा : आंशिक ऐतिहासिकता

मालवराज महासेन गुप्त के तीन पुत्र थे—देवगुप्त, कुमार-गुप्त और माधवगुप्त। देवगुप्त ने ग्रहवर्मा का वध कर दिया था अतः वह स्वय भी हर्ष के बड़े भाई राज्य वर्धन के द्वारा मारा गया था और ग्रहवर्मा का राज्य हर्षवर्धन ने अपने राज्य में मिला लिया था (देवगुप्त का भाई माधवगुप्त हर्षवर्धन का अन्तरग मित्र था) आत्मकथा मे जो छोटा महाराज है वह मौखरिवंश का है और ग्रह वर्मा के कुल ने होने से उसके राज्य का वह अधिकारी है अतः इसी भय से लम्पट होते हुए भी उसे हर्षवर्धन ने आश्रय दे रखा है।

दस्युओं द्वारा अपहृत भट्टिनी इस छोटे महाराज के अन्तःपुर मे कैद है और चूँकि वह बाह्लिक विमर्दन देवपुत्र तुवर मिलिन्द की कन्या है इसलिए आर्यावर्त की हर छोटी बड़ी शक्ति उस कन्या को अपनी सुरक्षा में लेकर तुवर मिलिन्द से मित्रता स्थापित करना चाहती हैं। हर्षवर्धन के महासन्धि विग्रहिक कुमार कृष्णवर्धन द्वारा बाणभट्ट के लिए तीन पत्र[1] भेजना तथा आभीर सामन्त द्वारा पत्र अस्वीकार करना और समुद्रगुप्त के वंशजों का अनुगत्य ही स्वीकार करना[2] इस बात के प्रमाण है।

इतिहास साक्षी है कि मध्यकाल में हूणो (ये ही सम्भवतः म्लेच्छ कहे गए हैं) के अनेक बार आर्यावर्त पर आक्रमण हुए। हर्षवर्धन के समय में धर्म का राजनीति मे इतना अधिक हस्तक्षेप था कि सम्राट तक उससे भय खाते थे और उसी के अनुकूल चलते थे। सुचरिता और विरतिवज्र के बौद्धधर्म से वैष्णव धर्म में दीक्षित होने पर बौद्ध पडित वसुमति के सकेत पर श्रेष्ठी धनदत्त का 'ऋण' सम्बन्धी षडयन्त्र तथा परिस्थिति बिगड़ते देख बाणभट्ट के भाई उडपति भट्ट को काशी से बुलाकर, बौद्ध

1. बाणभट्ट की आत्मकथा : हजारीप्रसाद द्विवेदी (पृष्ठ 189-190)
2. वही (पृष्ठ 234, 246)

पंडित से उसका शास्त्रार्थ कराना फिर ब्राह्मणधर्म की विजय की घोषणा करके हर्ष-वर्धन द्वारा अपनी भी आस्था बदली हुई दिखलाकर राजनीति को मोड़ना इस बात के ही प्रमाण है ।[1] इन सभी घटनाओं के मूल में भट्टिनी है जिसकी सुरक्षा के आधार पर ही आर्यावर्त पर निकट भविष्य में होने वाले म्लेच्छवाहिनी के आक्रमण का सामना करने के लिए देवपुत्र तुवर मिलिन्द की सहायता ली जा सकती है ।

द्विवेदी जी ने आत्मकथा मे मध्यकालीन भारत का चित्रण ऐतिहासिकता के आवरण मे किया है जिसमें कल्पना का अपूर्व मिश्रण है । बाणभट्ट की आत्मकथा मे मध्यकालीन इतिहास के साथ-साथ द्विवेदी जी ने परोक्ष रूप मे भारत के आधुनिक इतिहास की जो झाँकी प्रस्तुत की है उसके सम्बन्ध में बहुत कुछ कहना शेष है । अपने युग से प्रभावित होना साहित्यकार के लिए स्वाभाविक है । अतः जहाँ एक ओर एक मध्यकालीन इतिहास के प्रांगण से उपन्यासकार ने हर्षवर्धन, बाणभट्ट, राज्यश्री और मौखरिवंश, सामन्तवाद, वौद्ध और वैष्णव धर्म, स्थाणीश्वर और कान्यकुब्ज राज्य में व्याप्त विलासिता और पापाचार तथा पारस्परिक फूट और मतभेद के सजीव चित्र उपस्थित किए हैं वहाँ परोक्ष रूप से अपने युग को भी अभिव्यक्ति प्रदान की है ।

बाणभट्ट की आत्मकथा सन 1946 मे प्रकाशित हुई अतः यह तो स्पष्ट ही है कि उपन्यास सन् 1946 के पूर्व के तीन चार वर्षो के दौरान लिखा गया होगा । उपन्यास में उपसंहार के अन्तर्गत पत्र रूप में जो सामग्री है, उसमें युद्ध की चर्चा हुई है; लम्बे काल तक चलने वाले युद्ध की तथा युद्ध मे बम गिरने की भी बात आगे कही गयी है[2] जिससे आभास मिलता है कि उपन्यास का रचनाकाल द्वितीय महायुद्ध (1938-1945) के आसपास बल्कि उसके बाद का रहा होगा । यह काल भारत की स्वाधीनता प्राप्ति के पूर्व का काल है और उस समय भारत मे स्वाधीनता की लडाई चल रही थी, यह लड़ाई के उत्कर्ष का काल था । यहाँ इतना कहने के पश्चात् अब हम आत्मकथा के कुछ प्रसंगों की चर्चा करते हैं जिनका सम्बन्ध परोक्ष रूप से भारत के आधुनिक इतिहास से है ।

उन्पयास में आधुनिक इतिहास की झलक

उपन्यास के चतुर्दश उच्छवास में स्थाणीश्वर के अधिकारी विद्वान कुछ मन्त्रणा में लगे दिखलायी पडते हैं और अन्त में सभा सुचरिता और विरतिवज्र के सम्बन्ध में अपने निश्चय को प्रकट करती हैं । जब यह कहा जाता है कि······परन्तु दुर्घट काल में राज्य व्यवस्था में किसी प्रकार का शैथिल्य न आवे इस विचार से हमने यह निश्चय किया है कि दस विद्वानों का एक समुदाय महाराजाधिराज से इस अन्याय का

1. वही (पृष्ठ 296)   2. वही (उपसंहार : पृष्ठ 306–307)

प्रतिकार करने का प्रयत्न करे[1]......" तो हमारा ध्यान तुरन्त 1942 के आसपास की परिस्थितियो की ओर जाता है। 1939 में महासमर छिड़ चुका था जिसमे ब्रिटेन भी सम्मिलित था।[2] अत: कांग्रेस ने सितम्बर 1939 से अक्टूबर 1940 तक ब्रिटेन को परेशानी मे न डालने की नीति अपनायी थी।[3] दस आदमियो का समुदाय आधुनिक समय मे सत्ताधारियो से मिलने जाने वाले डेपुटेशन या डेलीगेशन का रूप है। विद्वानो की इसी सभा के सभापति से महामाया का यह कह कर कि— 'आर्य सभापति, मे सभा को सम्वोधन करके दो-चार वाक्य बोलना चाहती हूँ—"[4] एक भाषण दे डालना आधुनिक भारत मे, प्रजातन्त्र वाक-स्वातन्त्र्य का प्रभाव है साथ ही महामाया जैसी नारी का ऐसा निर्भय गर्जन मध्यकालीन भारत की नारी का नही, आधुनिक भारत की नारी का चित्र उपस्थित करता है जो बीसवी सदी में चेतनानुप्राणित हो चली थी।

महामाया अपने भाषण मे कहती है—राजा से भय दुर्बलचित्त का विकल्प है। प्रजा ने राजा की सृष्टि की है।......भारत के युग धर्म की रक्षा अनुनय विनय से नही होगी।[5]......यदि तुम नही समझते कि न्याय प्राप्ति मनुष्य का धर्म सिद्ध अधिकार है और उसे न पाना अधर्म है तो भारतवर्ष का भविष्य अन्धकार से आच्छन्न है।[6]......"

महामाया के उपर्युक्त कथनो का प्रारम्भिक अंश स्पष्ट रूप से प्रजातन्त्र का आधारभूत सिद्धान्त है। उससे आगे जो अनुनय-विनय की बात कही गयी है वह कांग्रेस की ओर संकेत माना जा सकता है। कांग्रेस की नीति अनुनय-विनय की ही रही थी। महामाया का न्याय पाने सम्बन्धी कथन तिलक के 'स्वतन्त्रता जन्मसिद्ध अधिकार" की ओर ध्यान आकर्षित करता है। स्वतन्त्रता का अपहरण अन्याय ही है उसे प्राप्त करना न्याय और धर्म है। इसी प्रकार भट्टिनी के कथन भी भारतीय इतिहास की ओर संकेत करते है।

स्वाधीनता प्राप्ति के पूर्व कांग्रेस और मुस्लिम लीग स्वतन्त्रता के लिए संयुक्त रूप से प्रयासशील थी किन्तु आगे चल कर दोनो मे मतभेद हो गया था और साम्प्र-

1. वही (पृष्ठ 197)
2. कांग्रेस का इतिहास : पृ० 340
3. वही पृष्ठ 428
4. बाणभट्ट की आत्मकथा पृष्ठ 197-198
5. वही पृष्ठ 199
6. वही पृष्ठ 201

दायिकता घर कर गयी थी। भट्टिनी का बाणभट्ट मे यह कथन कि"...तुम यदि किसी यवन कन्या से विवाह करो तो इस देश मे भयकर सामाजिक विद्रोह नाना जाएगा[1]......पनपती हुई साम्प्रदायिकता की ओर सकेत करता है। भट्टिनी जब यह कहती है कि "तुम इस म्लेच्छ कही जाने वाली निर्दय जाति के चित्त में संवेदना का सँचार कर सकते हो, उन्हें स्त्रियों का सम्मान करना सिखा सकते हो, बालको को प्यार करना सिखा सकते हो[2]......और यह इसीलिए सम्भव है कि इस नरलोक से किन्नर लोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है।[3] तो प्रतीत होता है मानों भट्टिनी गाँधी जी के हृदय परिवर्तन के सिद्धान्त से प्रभावित है।

ऊपर बाणभट्ट की आत्मकथा में आये विभिन्न प्रसंगों और भारत के आधुनिक इतिहास या उसकी प्रवृत्तियों के मध्य सामंजस्य दिखलाने की चेष्टा की गयी है वह सम्भवत सुनने या पढ़ने वालों को कुछ अटपटी लगे, किन्तु यदि उपन्यास के अन्त में उपसहार को पढ़कर यह मान लिया जाए, जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि 'व्योम' के नाम दीदी के पत्र के बहाने उपन्यासकार ने युद्ध, घृणित नरसहार तथा बम गिरने आदि की बात कह कर[4] स्पष्ट संकेत कर दिया है कि कथानक 1939-1945 के समय का बल्कि उससे कुछ पूर्व का है, तो कदाचित इस प्रकार के सामंजस्य की सार्थकता सिद्ध हो जाएगी।

पत्र से यह स्पष्ट है कि दीदी छः वर्ष से आस्ट्रिया के दक्षिणी भाग मे निराशा और पस्तहिम्मती की जिन्दगी बिता रही है। आस्ट्रिया का अर्थ जर्मनी का पडोसी राज्य और दीदी के छः वर्षो का अर्थ 1939 से 1945 का महायुद्ध जिसमें जर्मनी और मित्रराष्ट्र तक जूझ रहे थे। अतः यह स्पष्ट ही है कि उपन्यासकार ने बाणभट्ट की आत्मकथा में मध्यकालीन भारत में इतिहास के साथ-साथ आधुनिक भारत के इतिहास को भी परोक्ष रूप से प्रस्तुत किया है। कल्पित कथानक वह भी मध्यकालीन इतिहास की घटनाओ पर आधारित और उसके माध्यम से भी आधुनिक इतिहास को प्रस्तुत करना कुशल उपन्यासकार के ही बस की बात है। इस प्रकार प्रस्तुत किया गयाइतिहास जो ध्वनित होता है वह अधिक प्रभावोत्पादक होता है।

---

1. बाणभट्ट की आत्मकथा : पृष्ठ 269
2. वही पृष्ठ 270
3. वही पृष्ठ 271
4. वही उपसंहार पृष्ठ 306, 307

चीवर : रांगेय राघव (1951)

चीवर (1951) उपन्यास का कथानक सम्राट हर्षवर्धन से सम्बन्धित है। इतिहास के अनुसार "वर्धन वंश" का संस्थापक पुष्यभूति नामक (वैश्य) क्षत्रिय था। नर वर्धन और आदित्यवर्धन इसी परम्परा में थे। प्रभाकरवर्धन आदित्यवर्धन का उत्तराधिकारी था, जिसके दो पुत्र, राज्यवर्धन और हर्षवर्धन तथा एक पुत्री राज्य श्री थी।[1] कन्नौज का मौखरिवंश, एक पृथक वंश था जिसका सम्बन्ध मगध से था। इस पर मौखरियों का शासन था जो कि सामन्तवर्ग के थे। ग्रहवर्मा इसी मौखरिवंश का था जिसने हर्षवर्धन की बहिन राज्यश्री से विवाह किया था······[2] इस सम्बन्ध से मौखरिवंश और वर्धनवश का पारस्परिक द्वेष समाप्त हो गया था।

इसी काल में एक दूसरे की विरोधी शक्तियाँ पनप रही थी। मालवराज देवगुप्त और गौड़ के नरेन्द्र गुप्त शशांक का मौखरियों के ग्रहवर्मा और कान्यकुब्ज के प्रभाकर वर्धन से वैर था। अतः प्रभाकरवर्धन की एकाएक मृत्यु हो जाने पर देवगुप्त और शशांक परिस्थितियो का लाभ उठाकर विजय का स्वप्न देखते है। शशांक देवगुप्त से सन्धि कर लेता है। मालवा का शासक देवगुप्त भी ऐतिहासिक व्यक्ति है। यह बात-विवादग्रस्त रही है कि महासेनगुप्त के दो पुत्र थे या तीन। दो पुत्र होने के प्रमाण तो मिलते हैं जिनका उल्लेख कुमारगुप्त और माधवगुप्त के रूप में हुआ है किन्तु कुछ विद्वानों ने देवगुप्त को भी महासेनगुप्त का पुत्र बताया है और वह भी ज्येष्ठ पुत्र। हर्षवर्धन के एक ताम्रपत्र मे राज्यवर्धन का देवगुप्त नामक राजा को परास्त करना लिखा है।[3]·· देवगुप्त द्वारा मौखरिवश के ग्रहवर्मा की हत्या और उसका बदला लेने के लिए राज्यवर्धन द्वारा देवगुप्त की हत्या इतिहासानुमोदित है। हर्ष चरित मे इसका उल्लेख है। राज्यवर्धन को गौड़ के राजा ने धोखे से मार डाला था, इसकी चर्चा भी हर्ष चरित मे हुई है यद्यपि स्पष्ट नाम शशांक नही है किन्तु राज्यवर्धन थे शै-शंग-किया (शशांक) द्वारा मारे जाने की बात ह्वेनसांग के विवरण में भी मिलती है।[4]

उपन्यास के ये सभी पात्र ऐतिहासिक हैं। उपन्यास का सम्पूर्ण कथानक भी इतिहास की सीमा का उल्लंघन नही करता। देवगुप्त की नीयत का पता उसके इस

---

1. भारतीय इतिहास एक दृष्टि : डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन (पृष्ठ 154)
2. वही (पृष्ठ 153)
3. शशांक : राखालदास वंद्योपाध्याय : (अनु० रामचन्द्र वर्मा) भूमिका पृष्ठ 10-11
4. वही पृष्ठ 12

उपन्यास का कथानक भी इतिहासानुमोदित है—

कथन से चल जाता है—'यही समय है जब वर्धनो और मौखरियो का नाश किया जा सकता है···'[1] स्पष्ट है कि देवगुप्त मौखरियो से और वर्धनो से जलाभुना बैठा था. उसने षड़यत्र रचकर ग्रहवर्मा को मारा और राज्यश्री को ले गया। राज्यवर्धन ने जब देवगुप्त को पराजित करके मार दिया तो बाद में शशांक ने, जिसने राज्यवर्धन से भी सन्धि कर ली थी राज्य वर्धन की हत्या कर दी।[2] इसके प्रतिशोध लेने के लिए हर्ष वर्धन ने शशाक (नरेन्द्र गुप्त) पर कई बार आक्रमण किया किन्तु शशांक उसकी पकड मे नही आया। किन्तु इतना अवश्य है कि हर्षवर्धन ने सारे आर्यावर्त को एक सूत्र में बाँध दिया था। हर्ष वर्धन का यह कथन कि राष्ट्र को एक सूत्र में बाँध कर आया हूँ। देश मे शान्ति स्थापित करके आया हूँ इतने दिन से आर्यावर्त असुरक्षित था।[3] इस बात का प्रमाण है।

राज्य श्री, राज्यवर्धन और हर्षवर्धन की बहिन थी। गृह वर्मा और देवगुप्त मारे गये थे। अत: हर्षवर्धन ने राज्यश्री को राज्य (कान्यकुब्ज) देना चाहा किन्तु वह वीतराग हो गयी थी और हर्ष के साथ ही रहने लगी थी अत. कान्यकुब्ज का शासन भी हर्ष ने सम्भाल लिया था। हर्षवर्धन के राज्य मे अमन चैन कायम हो गए थे अत: लोग धर्म की ओर अधिक उन्मुख थे। हर्ष के स्वभाव और चरित्र का जो रूप इतिहास में उपलब्ध होना है वही उपन्यास मे भी मिलता है। यद्यपि उसके राज्य मे बौद्ध और ब्राह्मणों में परस्पर विरोध था, (यह उसी के समय मे नही बल्कि दीर्घ काल से चले आने वाला विरोध था) तथापि वह स्वयं सभी धर्मो का समान रूप से आदर करता था। राज्यश्री ने तो बौद्ध धर्म में दीक्षा लेकर "चीवर" धारण कर ही लिया था[4] अपनी दानी प्रवृति के कारण अन्त में अपने शरीर का वस्त्र दान करके हर्ष वर्धन भी 'चीवर' धारण करके भिक्षु श्रेणी में आ जाता है।[5] बौद्ध पण्डित के कहने से कश्मीर से भगवान का 'दन्त' लाकर प्रतिष्ठित करने की बात उसके पूर्व से ही बौद्ध धर्म के प्रति आकर्षित होने को प्रमाणित करती है।[6] हर्ष के समय में उच्चस्तर पर शास्त्रार्थ होता था। ब्राह्मण पण्डित माधव और चीन के पण्डित यु आन च्वाग का शास्त्रार्थ साधारण विवाद नही था। वह उत्तरापथ का भाग्य निर्णय करने वाला शास्त्रार्थ था।[7] हर्ष के राज्य में सच पूछा जाय तो बौद्ध धर्म ही अधिक उन्नति कर

---

1. चीवर : रांगेय राघव पृष्ठ 23
2. वही 58
3. वही 146
4 वही पृष्ठ 132
5. वही पृष्ठ 277
6. वही पृष्ठ 149
7. वही पृष्ठ 227

रहा था। इस बात से उसके राज्य का अर्जुन नाम का सामन्त चिढ़ गया था। अर्जुन बौद्ध धर्म का विरोधी था इसके अलावा राज्यश्री के कारण सामन्तवाद की जड़े जो खुदनी प्रारम्भ हुयी तो उससे भी अर्जुन मन ही मन हर्ष वर्धन से वैर रखने लगा था। उसने कई बार उसकी हत्या कराने का षड्यन्त्र भी रचा था।[1] अर्जुन इतिहास का व्यक्ति है रांगेय राघव की कल्पना की उपज नही। हर्ष के साथ ही उसके वंश और साम्राज्य का अन्त हो गया था। उपन्यास मे राज्यवर्धन की पत्नी चयनिका और राज्यश्री दोनो ही हर्षवर्धन को विवाह कर लेने के लिए कहती है। क्योकि उनके ध्यान में आगे वश चलने न चलने वाली बात थी। किन्तु हर्षवर्धन ने विवाह नही किया। वरना उस जैसे वीर की सन्तान भी वीर होती। किन्तु ऐसा न होने से उसके वंश का अन्त हो गया और इतिहास के अनुसार उसके मन्त्री अर्जुन ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया।[2]

हर्षवर्धन और पुलकेशिन के सम्बन्ध में उपन्यास और इतिहास में मतभेद

चीवर उपन्यास मे एक अन्य प्रसिद्ध ऐतिहासिक पात्र पुलकेशिन द्वितीय है। हर्षवर्धन की धाक सम्पूर्ण उत्तरी भारत में थी। उसकी इच्छा दक्षिण विजय करने की हुई। वह सेना लेकर चला किन्तु दक्षिण मे प्रवेश न कर सका चूँकि दक्षिण में पुलकेशिन द्वितीय उससे भी कही अधिक शक्तिशाली बैठा हुआ था। इतिहास के अनुसार पुलकेशिन द्वितीय (608-643 ई०) कीर्तिवर्मन प्रथम का ज्येष्ठ पुत्र था जो दक्षिण में चालुक्य राज्य का स्वामी था।[3] उपन्यास में रांगेय राघव ने हर्ष वर्धन और पुलकेशिन का युद्ध दिखलाया है और अन्त में भिक्षुणी राज्यश्री व कवि बाणभट्ट की सहायता से दोनो सम्राटों के बीच सम्मानजनक सन्धि करवा दी है।[4] किन्तु इतिहास के अनुसार पुलकेशिन द्वितीय ने हर्ष पर विजय प्राप्त करने के वाद परमेश्वर उपाधि धारण की थी।[5] बौद्ध धर्म मे दीक्षित राज्यश्री का अहिसा मे विश्वास रखना स्वाभाविक ही है। पुलकेशिन और हर्षवर्धन के बीच हिसा रोकने और अहिसा का प्रतिपादन करने का श्रेय राज्यश्री को ही है। हर्षवर्धन के समय में दान धर्म और पूजापाठ को जो प्रोत्साहन मिला वह भी राज्यश्री के ही कारण। त्रिवेणी के संगम पर प्रति पाँचवें वर्ष हर्ष वर्धन

---

1. वही पृष्ठ 275
2. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन पृष्ठ 156
3. वही पृष्ठ 281
4. चीवर : रांगेय राघव : पृष्ठ 253
5. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि : पृष्ठ 282

सत्सग का आयोजन कर दान देता था, वहाँ अनुष्ठान होता था किन्तु इस अवसर पर अनेक पर चेष्टाएँ करने पर भी सामाजिक अपराध होते ही थे। स्त्रियाँ अपहृत होती थीं बालक मर जाते थे और विधवाएँ साधुओं से गर्भ धारण करा लेती थीं।[1] हर्ष-वर्धन द्वारा प्रयाग में प्रति पाँचवे वर्ष अनुष्ठान कराना भी इतिहास सम्मत है।[2] ऐसे अवसर पर सामाजिक बुराइयों का होना स्वाभाविक है। मेलों, तीर्थों, उत्सवों मे बालकों का मर जाना स्त्रियों का अपहृत हो जाना सम्भव था, आज भी ऐसा होता है।

चीवर उपन्यास की रचना स्वाधीनता प्राप्ति के वाद हुई है। उपन्यासकार अपने युग से प्रभावित रहा है अतः हर्षवर्धनकालीन इतिहास पर तो उपन्यास आधारित ही है किन्तु इसके साथ ही इसमें आधुनिक युग का प्रभाव भी परिल-क्षित होता है। राज्यश्री द्वारा बेगारी में घिरे वृद्ध को मुक्त कर देना तथा वृद्ध का यह कथन कि—"सामन्त तुम भी मनुष्य हो भगवान से डरो"[3] प्रजातन्त्र मे स्वतन्त्रता और वाक् स्वातन्त्र्य के उदाहरण हैं। सामन्त अर्जुन के शब्दों मे यह सामन्त व्यवस्था को पलटना होगा। वस्तुतः यह सामन्तवाद के उन्मूलन के चिन्ह है जो आधुनिक युग का आग्रह है। हर्ष वर्धन और पुलकेशिन का हाथ मिलाना[4] हर्ष का पुलकेशिन से राज्यश्री का परिचय कराना[5] तथा ब्राह्मणों द्वारा दूसरो को पौरोहित्य प्रदान करना आदि[6] आचार निश्चित रूप से आधुनिक युग का प्रभाव लिए हुए है। भारत मे अछूतोद्धार और अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन, हरिजनो के मन्दिर प्रवेश के प्रभाव ने ही ब्राह्मणो द्वारा हूणो को पौरोहित्य दिलवाया है।

आधुनिक इतिहास की अभिव्यक्ति

सोमनाथ : चतुरसेन शास्त्री

हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में आचार्य चतुरसेन शास्त्री का विशेष स्थान है। जिस प्रकार 'वैशाली की नगर वधू' 'वयं रक्षामः' आचार्य जी के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास हैं वैसे ही 'सोमनाथ' भी प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है। आचार्य चतुरसेन के उपन्यासों की संख्या अत्यधिक है और सबका विवेचन यहाँ सम्भव नहीं। अध्ययन विधि को दृष्टिगत करते हुए यहाँ हम केवल "सोमनाथ" (1954) के आधार पर ऐतिहासिक विवेचन करेंगे।

---

1. चीवर : रांगेय राघव : पृष्ठ 158
2. इतिहास एक दृष्टि : डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन पृष्ठ 156
3. चीवर : रांगेय राघवः पृष्ठ 169
4. वही : पृष्ठ 253
5. वही : पृष्ठ 254
6. वही : पृष्ठ 263

सोमनाथ (1954) उपन्यास का कथानक ऐतिहासिक है। महमूद गजनवी ने भारत को सत्रह बार आक्रान्त किया था। उसका अन्तिम आक्रमण गुजरात के 'सोमनाथ' के मन्दिर को लूटने की दृष्टि से ही हुआ। जहाँ तक उपन्यासकार का अपना कथन है उसके अनुसार उसने ऐतिहासिक सत्यो की परवाह नही की। उसने इतना ही पर्याप्त समझा कि महमूद ने सोमनाथ को आक्रान्त किया था। गुजरात की लाज उसने लूटी थी।[1] किन्तु देखना यह है कि क्या इस उपन्यास में मात्र इतना ही ऐतिहासिक सत्य है? क्या उपन्यासकार के परवाह न करने पर भी ऐतिहासिक सत्य बलात् उपन्यास में आकर समाविष्ट नही हो गया है? 'सोमनाथ' उपन्यास का आकार विशाल है। पाँच सौ चौतीस पृष्ठों के इस उपन्यास मे उत्तरी पश्चिमी भारत के एक बहुत बड़े भाग को समेटने का सफल प्रयास किया गया है। महमूद गजनवी के आक्रमण के समय इस भाग मे राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्र मे इतना अधिक विघटन हो चुका था कि भारत विदेशी आक्रान्ताओं के लिए बिना द्वार का दुर्ग हो गया था।

सोमनाथ का कथानक: विहंगम दृष्टि

प्रारम्भ में महमूद छद्म वेश में सोमनाथ के मन्दिर मे आता है और वहाँ 'चोला' को देखकर, उसकी अपार सौन्दर्य राशि पर मुग्ध होकर उसका अपहरण करना चाहता है और इस कारण भीम देव से उसका सामना होता है। मन्दिर के गंग सर्वज्ञ बीच बचाव करके शान्ति स्थापित करते है।[2] गंग सर्वज्ञ यह जानते हुए भी कि यह महमूद है उसे चीरंजीवी होने का आशीर्वाद देते है। भीम देव इसे अच्छा नही समझता क्योंकि "सोलह बार इस दैत्य ने तीस बरस से भारत को अपने घोड़ो की टापो से रौदा है, और भारत को आग और तलवार की भेंट किया हैं।" गंग सर्वज्ञ इसमें महमूद का नही देशवासियो और उनकी शक्तिहीनता का दोष देखते हैं जो अपने राष्ट्र की रक्षा नही कर सकते और एक विदेशी आक्रमण को बिना प्रतिकार किए सीमा में घुस आने देते हैं।[3]

महमूद अपने जासूसो को छद्मवेश में, साधु वेश में छोड़कर गजनी जाता है और फिर पूरी तैयारी के साथ विशालवाहिनी लेकर भारत को आक्रान्त करने चल देता है। भारत की सीमा में प्रवेश करते ही सर्वप्रथम जब उसे सिन्धु के मुख पर स्थित अति प्राचीन मुल्तान से गुजरना पड़ता है और वहाँ का राजा अजयपाल भयभीत होकर ही उसे मार्ग दे देता है तो महमूद का हौंसला बढ़ जाता है।[4] अजयपाल

1. सोमनाथ : चतुरसेन शास्त्री (आधार : पृष्ठ 8)
2. सोमनाथ: चतुरसेन शास्त्री : पृष्ठ 9 3. वही : पृष्ठ 30
4. वही : पृष्ठ 101

और अन्य अनेक राजाओं को उपन्यास मे भीरु और लोभी रूप में चित्रित किया गया है जो युद्ध से कतराते किन्तु बदले मे अपनी अयोग्यता को छिपाकर महमूद से सन्धि करते, उसे सम्मान देते और उसके लौटते समय राज्य प्राप्ति या राज्य विस्तार की आशा करते है। उनमे स्वाभिमान का अभाव है। महमूद के आक्रमण के समय जहाँ अनेक स्वतन्त्र राजाओ ने उससे भयभीत हो, आगे बढने के लिए मार्ग दे दिया वहाँ कुछ छोटे-छोटे राजाओ ने उसे निर्भय होकर चुनौती दी और उसका सामना किया। ऐसे राजाओ मे घोघागढ के घोघा वापा (मरुस्थली के द्वार पर) लोहकोट मे भीमदेव और सपादलक्ष (अजमेर और साभर) मे धर्म गजदेव का नाम उल्लेखनीय है। इन राजाओ ने अपने और राज्य के सर्वनाश की तनिक चिन्ता नही की। महमूद के दूतो का इन सभी के यहाँ तिरस्कार किया गया और उसे चुनौती दी गयी।[1] दूसरी ओर देश के भीतर जो राजनीति चल रही थी वह एकदम दूषित थी, षडयन्त्रो का जाल बिछा हुआ था। अनहिल्ल पट्टन के चामुण्डराय जो कि निर्बल राजा था के विरुद्ध ऐसे ही षड़यन्त्र चल ही रहे थे। गुर्जरेश्वर चामुण्डराय शक्तिविहीन न था। राजस्व सचिव (विमल देवशाह) उसके आदेश का स्पष्ट उलघंन कर देता था। उसका कहना था कि वह राजा का चाकर नहीं राज्य का चाकर है और राज्य का ही चाकर राजा भी है।[2] घोघा वापा की पराजय के बाद महमूद को धर्म गजदेव से टक्कर लेनी पड़ती है जिसके पराक्रम के आगे गजनी का अमीर शिकस्त पाता है और सन्धि करके गजनी लौटने का विचार कर लेता है किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, मध्यकालीन भारत के छोटे-बड़े सभी राज्या मे स्वार्थी लम्पट और विभीषणो की कमी नही थी। अतः ऐसे ही विश्वासघाती के कारण युद्ध मे सपादलक्ष के धर्मगजदेव की विजय पराजय मे बदलती है। युद्ध का सजीव वर्णन उपन्यास मे मिलता है[3] वो पुष्कर के उस पार हुआ था। इस युद्ध मे मुल्तान का अजयपाल महमूद के साथ था जो अपनी कायरता का पाठ पढ़ाने के लिए धर्मगज देव के पास भी आता है किन्तु व्यग-वाणो की बौछारो से अजयपाल को आहत करते हुए जब धर्मगज देव कहता है—" और अब महाराज अजयपाल आप जा सकते है।...[4] तब धर्म गजदेव का चरित्र हमारे सन्मुख उभर कर सामने आता है। उपन्यास मे कुछ ऐसे भी राजाओं का वर्णन मिलता है जिन्होंने महमूद की विशालवाहिनी के सन्मुख अपनी शक्ति की लघुता विचार कर युद्ध की बात तो न सोची किन्तु उसे मार्ग देने की बात स्वप्न मे भी नही विचारी और लडाई में चली जाने वाली चालों का सहारा लेकर महमूद के अभियान को

---

1. सोमनाथ : पृष्ठ 107
2. वही : पृष्ठ 159
3. वही : पृष्ठ 184-189
4. वही : पृष्ठ 177

विफल करने के सफल प्रयास किये। ऐसे ही राजाओं मे मान्दौल का दुर्लभराय था जिसने प्रजा को माल असबाब लेकर पर्वतों में जाने का आदेश देकर शहरों को उजाड़ दिया, आग लगा दी, यातायात के साधनों को नष्ट कर दिया।[1] दुर्लभदेव और अन्य छोटे-छोटे राजाओं ने महमूद को सोमनाथ की ओर जाने का मार्ग दिया किन्तु जूनागढ़ के राय तो यदि अमीर सोमनाथ पर चढ़ाई करे तो अपना जीवन ही धिक्कार मानते हैं। जिन राजाओं में पुरुषत्व था, स्वाभिमान था, वे युद्ध मे काम आए। उन्होंने महमूद की विशाल वाहिनी का सहार किया तो, किन्तु फिर भी बचे हुए सैनिकों को लेकर महमूद आगे बढ़ता ही गया। जब सोमनाथ पट्टन पर उसके आक्रमण का खतरा बढ़ गया तो वहाँ की प्रजा को स्त्री-पुरुषों को, धन सम्पत्ति को जहाज द्वारा खम्भात भेज दिया गया।[2] महमूद जब सोमनाथ के मन्दिर तक पहुँच गया तो वहाँ भी भयंकर युद्ध हुआ जिसमें कई बार महमूद ने मुँह की खायी किन्तु धर्म की चोट खाये दासपुत्र फतह मोहम्मद जैसे लोगो की प्रतिशोध की भावना तथा उसके प्रेम मे पड़ी शोभना की अज्ञानता, सोमनाथ के ज्योतिर्लिंग के सम्मान की रक्षा में बाधक और महमूद के आक्रमण में साधक हुई। उसकी अपार धन राशि को बचाया नही जा सका। मूर्तिभंजक महमूद ने गग सर्वज्ञ के साथ-साथ सोमनाथ के ज्योतिर्लिंग के भी तीन टुकड़े कर दिए।[3] उसने कोष की चाबी लेकर धन, हीरे जवाहिरात लूटे। इस सारी लूट के पश्चात् महमूद खम्भात जाता है चौला देवी को पाने की नियत से और देवा स्वामी (फतह-मोहम्मद) इस कार्य मे सहायक बनने के लिए चौला देवी के खम्भात जाते समय शोभना को उसके साथ रहने की बात कहता है किन्तु खम्भात में शोभना के देश, जाति, धर्म और प्रेम की अवहेलना करने वाला फतह मोहम्मद अपनी प्रेमिका के हाथ से मौत के घाट उतरता है और चौला देवी शोभना की सहायता से ही बच निकलती है। महमूद को चौलादेवी प्राप्त नही होती उसे मिलती है शोभना। अपनी इच्छा के अनुसार जैसा कि उपन्यासकार के अन्त मे 'आधार' के अन्तर्गत लिखा है—" अतः मैंने अपनी सम्पूर्ण साहित्यिक कोमलता, भावुकता और प्रेम की सम्पन्नता उसे (महमूद) प्रदान कर दी। मुझे यह याद ही न रहा कि वह मनुष्यों का शत्रु खूनी और डाकू है। अन्ततः वह मनुष्य है यह मै कैसे भूल सकता था···[4] अत्याचारी, क्रूर, निर्दयी महमूद का खम्भात जाने से पूर्व ही उपन्यासकार ने हृदय परिवर्तन कर दिया है। 'हृदय-परिवर्तन' का यह कार्य बहुत कुछ सीमा तक कृष्ण स्वामी की पत्नी रमाबाई द्वारा कराया गया है। रमाबाई के व्यक्तित्व से ही प्रभावित

---

1. वही : पृष्ठ 206-208
2. सोमनाथ : पृ० 267
3. वही : पृ० 369
4. सोमनाथ (आधार) : पृ० 10

होकर महमूद जब यह कहता है कि···बहुत लोग मुझसे अपने राज्य और दौलत के लिए लड़े लेकिन इन्सान के लिए आज तक मुझसे कोई न लड़ा···" और तत्काल देवपट्टन को छोड़ कर कूच करने का आदेश देता है[1] तो ऐसा लगता है जैसे रमाबाई के उपदेश के रूप मे उसने खुदा का पैगाम सुना हो और उसकी 'मानवता' जाग उठी हो। लौटते हुए महमूद की रही सही तबाही ताहर की गढ़ी मे 'कच्छ के महारन' मे हो गयी। घोघा बापा के बीर पुत्र ने महमूद और उसके सैनिको को कच्छ के महारन मे ऐसा भटकाया कि उसका सर्वनाश हो गया। धन और जन की अपार हानि हुई उसके स्वय के प्राण संकट मे पड़ गए और वह जीवित न बचा होता यदि, अमीर को दैत्य समझने वाली शोभना ने उसे प्यार न किया होता उसको जान न बचाई होती।[2] शोभना ने अपने स्वयं के चौला देवी न होने की बात भी स्पष्ट कर दी किन्तु सब कुछ जीत कर भी हारा हुआ महमूद जिसकी सारी दानवी प्रवृत्तियो का ह्रास हो गया है, मानस का सारा कलुष धुल गया है। अपनी तलवार भी शोभना की गोद में डाल कर उसे गजनी की सल्तनत की स्वामिनी स्वीकार करता है और शोभना के हाथों केवल एक टुकड़ा रोटी की अपेक्षा करता है।[3]

जैसा कि प्रारम्भ मे कहा गया, उपन्यासकार यह कह कर कि, ऐतिहासिक सत्य की मैने परवाह नही की······तथा,·· ···जब मुझे इस बात की परवाह नहीं थी कि मै इतिहास से इधर-उधर हो जाऊँगा तो क्या होगा ?·· "इतिहास निर्वाह से उत्तरदायित्व से बहुत कुछ मुक्त हो गया है, उसने अपने दायित्व को हल्का कर लिया है किन्तु फिर भी 'सोमनाथ' मे इतिहास का समावेश पर्याप्त मात्रा में हुआ है, यह तो स्वीकार करना ही होगा।

सोमनाथ में इतिहास की अभिव्यक्ति

हूणों और यवनों जैसी बर्बर जातियों ने भारत भूमि को दीर्घकाल से, अनेक बार आक्रान्त किया। अरबो को भारत विजय की प्रेरणा देने वाला मोहम्मद बिन-कासिम था जिसने प्रथम बार मुलतान और सिन्धुघाटी को विजय किया। इसी प्रकार महमूद का आक्रमण था। महमूद सुबुक्तगीन नामक गुलाम का लड़का था जिसने अवसर का लाभ उठाकर उसे खुरासान के प्रान्त का शासक बना दिया था। सुबुक्तगीन पहला मुसलमान था जिसने पहली बार उत्तर पश्चिम मार्ग से भारत पर आक्रमण करके पंजाब के अजयपाल को हराया था।[4] महमूद, सुबुक्तगीन का पुत्र था।

1. वही पृ० : 376-377 2. सोमनाथ : पृ० 521
3. वही पृ० : 529
4. मध्यकालीन भारत : (मूल लेखक-स्टैनले लेनपूल) : पृ० 12

जिसका काल इतिहास के अनुसार 997 के 1030 ई० का था। 1000 से 1026 ई० के दौरान उसने कई बार भारत पर आक्रमण किए और वह सिन्ध और गंगा के मैदान तक आया। ये आक्रमण उसने खैबर दर्रे के मार्ग से आ कर किए। वह 'मूर्ति ध्वसक' था। इतिहास के अनुसार उसने अन्तिम आक्रमण 1025-26 ई० में गुजरात पर किया और सोमनाथ पर विजय पायी। उसने मन्दिरो और मूर्तियो को नष्ट करके खूब लूट-मार की। वह लाखो रुपये के हीरे जवाहरात लूट कर ले गया।[1]

उपन्यास मे देखने को मिलता है कि प्राय: राजा लोगो ने उसकी विशाल वाहिनी से ही भयभीत होकर हथियार नही उठाए और उसे मार्ग दे दिया। इस बात को इतिहास का समर्थन प्राप्त है। इतिहास के अनुसार कभी-कभी महमूद को लड़ाई भी लड़नी पड़ी परन्तु प्राय: उसकी धाक से ही राजा हथियार डाल देते थे।[2] महमूद का हजारो की संख्या मे गुलाम बनाकर लोगों को ले जाना और बहुत ही सस्ते दाम पर बेच देने का जो विवरण उपन्यास में मिलता है वह भी इतिहासानुमोदित है।[3] उपन्यास मे आए अजयपाल जैसे पात्र ऐतिहासिक पात्र है। किन्तु कही-कही उपन्यास की घटनाऍ इतिहास की घटनाओं से मेल नही खाती।

उपन्यास में इतिहास विरोधी घटना

उपन्यास मे अजयपाल के हारने पर महमूद के साथ शामिल होकर अजमेर आने तथा वहाँ सपादलक्ष के धर्म गजदेव को महमूद की वकालत करते हुए, नीति की आड़ में गजनवी से मैत्री का व्यवहार करने का सुझाव देने का विवरण मिलता है।[4] किन्तु इतिहास में यह घटना इससे भिन्न है। इतिहास के अनुसार अजयपाल ने बिना लडे ही महमूद को मुलतान नही सौपा था। अजयपाल ने पराजित होने पर मदमूद से सन्धि भी नही की थी और अपने वंश के गौरव की खातिर अपमानजनक जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा चिता में कूदकर प्राण देना उचित समझा था।[5]

इतिहास मे अनेक स्थलों पर महमूद को उदार प्रकृति का बतलाया गया है। स्टैनले पूल की पुस्तक मध्यकालीन भारत मे यह कहा गया है कि महमूद निर्दयी राजा न था। वह सन्धि होने पर पराजित राजा और उसके भाई-बन्धुओं आदि को मुक्त कर देता था।...एक मनुष्य जो केन्द्र की अपनी राजधानी को सभ्यता का केन्द्र

1. वही : पृ० 18
2. मध्यकालीन इतिहास : स्टैनले लेनपूल पृ० 17
3. वही : पृ० 18
4. सोमनाथ : पृ० 174
5. मध्यकालीन भारत : स्टैनले लेनपूल : पृ० 13

बनाने योग्य था कभी भी बर्बर नहीं हो सकता[1] महमूद योग्य राजा, विद्या का प्रेमी उदार हृदयवाला और विश्वसनीय मनुष्य था।[2] सम्भवत: कुछ इस प्रकार के विवरणों को भी ध्यान में रखकर चतुरसेन शास्त्री ने महमूद के चरित्र का निर्माण किया होगा।

उपन्यास में आधुनिक इतिहास की अभिव्यक्ति

मध्यकालीन युग की इस प्राचीनता में उपन्यासकार ने किंचित आधुनिकता का भी समावेश किया है। उपन्यास में युद्ध, लूटपाट और आगजनी की घटनाओं के वर्णन भारत के विभाजन के समय होने वाले साम्प्रदायिक दंगों के समय के भीषण और हृदयद्रावक दृश्य है।[3] प्राचीन युग में जो व्यवहार दासों के साथ होता था वही व्यवहार उन्नीसवीं शताब्दी तक भारत में अस्पृश्य और शूद्र कहे जाने वालों के साथ होता था। आगे चलकर इसके विरुद्ध भारत में आन्दोलन हुए सुधार कार्य हुए जिसके फलस्वरूप शूद्र और पराधीन, गुलामी में जकड़ा निम्न वर्ग चेतनानुप्राणित हुआ और वह अपने स्वाभिमान का मूल्यांकन स्वयं करने लगा। कृष्णस्वामी से उत्पन्न दासी पुत्र देवास्वामी स्वयं कृष्णस्वामी द्वारा किया गया अपमान नहीं सहन करता और मुसलमान (फतह मोहम्मद) बन जाता है। वह कृष्ण स्वामी की बाल विधवा पुत्री शोभना से कहता है, 'हमारे बेटे पोतों का धर्म ऐसा होगा जहाँ सब समान होंगे, कोई छोटा-बड़ा नहीं होगा।[4]······वह मुसलमान बनकर अमीर की प्रशंसा के पीछे इस्लाम की प्रशंसा करता हुआ कहता है····'वे एक तलवार, अमीर की उस अकेली तलवार का मुकाबिला नहीं कर सकती जो केवल एक ईश्वर को मानता है जिसका एक धर्म, एक जाति, एक ईश्वर और एक ईमान है।······[5] कृष्ण स्वामी द्वारा किया गया अपमानजनक व्यवहार ही उसे इस अवस्था तक ले आया है वह दामो महता से कहता है "······पर शूद्र हूँ, दासी पुत्र हूँ, संस्कृत पढ़ना मुझे निषिद्ध है, इसकी सजा मौत है।[6]······'दामो महता के यह पूछने पर कि इस्लाम में तुम्हें कुछ मिला'? वह उत्तर देता है—'जी हाँ। समानता, उदारता, जीवन, आशा, आनन्द, दौलत।[7] 'देवास्वामी के, इस रंग में रंगकर इस प्रकार व्यवहार करने के पीछे आधुनिक युग की, वर्ग भेद और जाति भेद की समस्या है निम्न वर्ग भारत में धार्मिक विषमता और

1. वही : पृ० क्रमश: 13 और 31
2. वही : पृ० 22 (निजा अल-मुल्क की पुस्तक 'शासन कला' से उद्धृत)
3. सोमनाथ : (आधार : पृ० 7)
4. वही पृ० 274
5. वही पृ० 274
6. वही पृ० 315
7. सोमनाथ : पृ० 316

अत्याचार से या तो ईसाई धर्म स्वीकार कर बैठा या इस्लाम में दीक्षित होने लगा था। अतः इसी के पीछे दयानन्द का आर्यसमाज सचालित हुआ। अन्य समाज सुधार का कार्य करने वाली सस्थाएँ जन्मी और अम्बेदकर जैसे विद्वान व्यक्ति ने अस्पृश्य कहे जाने वाले वर्ग को सुविधाएँ प्रदान करायी, उन्हे ऊपर उठाने का भरसक प्रयास किया।

उपन्यास मे अनहिल्लपट्टन के चामुण्डराय के राजस्व सचिव का निर्भय होकर उसका विरोध करना और यह मत प्रकट करना कि 'राजा भी राज्य का चाकर है'[1], उखडते हुए राजतन्त्र के लक्षण और प्रजातन्त्र की बुनियाद की और सकेत करता है। इसी प्रकार रमाबाई का महमूद को मानवता का पाठ पढाने का निर्भीक प्रयास[2] आधुनिक युग में नारी वर्ग का जागरुकता का प्रभाव है। इसके पीछे परोक्ष रूप में गाँधी जी की अहिंसा का प्रभाव भी प्रतिभासित होता है। और जब महमूद रमाबाई के विचारों का कायल हो जाता है[3] और शोभना के यह पूछने पर कि यदि 'नामदार अमीर जिसे प्यार करते है, वह यदि उन्हें प्यार न करे तो ?' और महमूद जब इसका यह उत्तर देता है कि' · ···वह, जिसे मै प्यार करता हूँ यदि मुझे प्यार न करे तो मै अमीर खुदा का बन्दा, इसी क्षण तलवार से अपने टुकड़े-टुकड़े कर डालूँगा'[4]—तब गाँधी की अहिंसा और हृदय परिवर्तन के सिद्धान्तों का आभास मिलता है। अहिंसा, गाँधीवाद की आधारशिला है। रमाबाई के प्रभाव से ही महमूद मानवोचित गुणों के प्रति आर्कषित होता है। प्रेमी-प्रेमिकाओं का दुनिया मे प्रेमी-प्रेम न मिलने पर प्रायः स्वय को ही यातना देता रहा है। अतः महमूद का ऐसा कहना कोई विशेष बात नही हैं तथापि सुल्तान रूप मे उसके क्रूर स्वभाव को ध्यान मे रखते हुए उसका ऐसा कथन, गाँधीवाद का ही प्रभाव माना जाएगा। गाँधी के दर्शन में किसी दूसरे को नहीं स्वय को यातना देने के उदाहरण मिलते हैं। कभी मन की मुराद पूरी न होती तो गाँधी दूसरे को यातना देने की बात नही सोचते थे क्योकि वह तो हिंसात्मक कार्य होगा वे तो अनशन और आमरण के द्वारा स्वयं को ही तपाते थे। गाँधी जी परपीड़न में नहीं आत्मपीड़न में विश्वास रखते थे। रमाबाई से प्रभावित होकर महमूद का मानवोचित व्यवहार करना 'हृदय-परिवर्तन' का लक्षण है। कितना ही क्रूर और निर्दयी व्यक्ति क्यों न हो उस पर 'हृदय परिवर्तन' का सफल प्रयोग हो सकता है क्योंकि 'नर लोक से किन्नर लोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है।[5]

1. वही पृ० 159
2. वही पृ० 376
3. वही पृ० 377
4. वही पृ० 434
5. बाणभट्ट की आत्मकथा : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : पृ० 271

बेकसी का मजार : प्रतापनारायण श्रीवास्तव

बेकसी का मजार
1956

प्रतापनारायण श्रीवास्तव की ऐतिहासिक उपन्यास सन् 1857 की क्रान्ति पर आधारित है। जिसमें, भारत के इतिहास को एक नवीन मौड़ देने वाली, सन् 1857 की क्रान्ति का, कार्य-कारण के परिणाम दिखलाने वाला विशद वर्णन मिलता है। 'वेकसी का मजार' का लेखनकाल 13 मार्च 1956 से 31 मई 1956 तक का है और इस दृष्टि से उपन्यास सन् 1857 की क्रान्ति के लगभग 100 वर्ष बाद लिखा गया है जिसमें उपन्यासकार के अनुसार कहानी को प्रधानता देकर इतिहास को गौण रखा गया है और प्राय: सभी ऐतिहासिक घटनाओं को एक सूत्र में पिरोकर उन्हें कहानी का अंग बनाने की चेष्टा की गयी है।[1] इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि 552 पृष्ठों के इस विशद उपन्यास को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें कल्पना और इतिहास दोनों को ही पर्याप्त मात्रा में स्थान मिला है। उपन्यासकार के उपर्युक्त कथन के बावजूद भी जहाँ इतिहास मिलता है वहाँ गौण रूप में नहीं प्रधान रूप में मिलता है और शेष की पूर्ति के निमित्त जहाँ कल्पना को अवसर प्राप्त हुआ है वहाँ कल्पना भी चरम बिन्दु का स्पर्श करती प्रतीत होती है।

भारत में सन् 1857 की क्रान्ति जो कि पूर्वनियोजित थी समय के पूर्व ही प्रारम्भ हो गयी थी। इस क्रान्ति का प्रारम्भ मेरठ से ही हुआ था अत: सम्भवत: इसी से उपन्यासकार ने उपन्यास का प्रारम्भ मेरठ छावनी (मैं गुलशन नामक नर्तकी के नृत्य) से प्रारम्भ किया है। गुलशन को उपन्यासकार ने महिला गुप्तचर के रूप में प्रस्तुत किया है। साथ ही उसे उस चिनगारी के रूप में भी जो वातावरण में अग्नि व्याप्त करने की सामर्थ्य रखती है। हाडसन नामक कैप्टेन (जो कि ऐतिहासिक पात्र है) और गुलशन के बीच प्रश्नोत्तर के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि अन्तिम मुगल बादशाह बहादुर शाह जफर ईस्ट इण्डियन कम्पनी का गुलाम है जो पेन्शन पर जी रहा है और दिल्ली उसकी नहीं है, कम्पनी की है।[2] आगे की घटना जिसका सम्बन्ध प्रमुख रूप से गुलशन, मेरठ छावनी के माताबदलसिंह और हाडसन से है, उपन्यासकार की कल्पना है।

अंग्रेजों ने भारत में आकर वे सभी प्रयत्न किए जिनसे उन्हें अर्थलाभ हो सकता था। प्रारम्भ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अस्तित्व था ही एक व्यापारिक कम्पनी के रूप में। पलासी के युद्ध के बाद जो अंग्रेजी सत्ता की नींव पड़ी तो शनै:-शनै:

---

1. बेक्सी का मजार : प्रतापनारायण श्रीवास्तव (निवेदन: पृष्ठ 3 से)
2. बेकसी का मजार : पृष्ठ 4

बेकसी का मजार : ऐतिहासिक पात्र एवं ऐतिहासिक घटनाएँ अंग्रेजों ने राजकीय मामलों मे हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया और अत्याचार भी करने प्रारम्भ कर दिए। उदाहरण के लिए पेशवा बाजीराव की मृत्यु के बाद नाना साहब को, जो गोद लिए गए थे उत्तराधिकारी मानने से इन्कार करके अंग्रेजों ने उन्हे मिलने वाली पेन्शन बन्द कर दी।[1] यह बात इतिहासानुमोदित है कि बिठूर मे सन् 1951 मे बाजीराव द्वितीय की मृत्यु हो गयी थी और नाना साहब को उत्तराधिकारी न मानकर डलहौजी ने पेन्शन बन्द कर दी।[2] बिठूर के नाना साहब ही इसके शिकार हुए थे सो बात नही है; और भी अनेक रियासतो के साथ इस प्रकार का अत्याचार हुआ था। 'गोद लेने की नीति' को समाप्त करके ऐसे सभी राज्यों को अंग्रेजी राज्य में विलय कर दिया गया था।[3]

बिठूर, सतारा, नागपुर, झांसी आदि रियासतें ऐसे ही उदाहरण है। ढाका के जुलाहो के अगूठे कटवा दिए गए थे। ये कुछ ऐसे ही अत्याचार थे जिनके कारण ऊपर से लेकर नीचे तक के लोगों मे विद्रोह की भावना घर कर गयी थी। ऐसी स्थिति में फौजी क्षेत्र तक मे विद्रोह की अग्नि भड़क उठी थी। फौजी बैरकों में फौजियो मे यह बात फैल गयी कि उन्हे इस्तेमाल के लिए जो कारतूस दिए जाते है उनमें गाय और सुअर की चर्बी होती है। अतः धार्मिक दृष्टि से सैनिको के भड़क उठने के लिए इतना ही पर्याप्त था।[4] इतिहास के विवेचन से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कारतूसो को लेकर इस प्रकार की धटना इतिहास में हुई जो क्रान्ति को जन्म देने का एक बहुत बड़ा कारण थी।[5] क्रान्ति की यह ज्वाला, बनारस इलाहाबाद, कानपुर, लखनऊ, अवध, बरेली, अलीगढ़, इटावा, फर्रुखाबाद, आगरा, झाँसी तथा दिल्ली से कलकत्ता के क्षेत्रों तक व्याप्त हो गयी थी किन्तु रणजीतसिह जैसे वीर के देश पजाब मे, सिखों ने इस क्रान्ति मे भाग नही लिया था, यह आश्चर्य की बात है। इतना ही नही, सिखों ने भारतीयों के विरुद्ध अंग्रेजों का साथ दिया। यह बात केवल उपन्यास तक ही सीमित नही है इसकी सचाई इतिहास से विदित होती है। इस सन्दर्भ में उपन्यास और इतिहास के पृष्ठों को देखा जा सकता है।[6] कुछ इसी प्रकार का रुख सिन्धिया,

---

1. वही पृष्ठ 35
2. भारत का राजनैतिक इतिहास : राजकुमार : पृष्ठ 147
3. बेकसी का मजार : पृष्ठ 288 4. वही : पृष्ठ 73
5. भारत का राजनैतिक पृष्ठ 151
6. बेकसी का मजार : पृष्ठ 111, 270, भारत का राजनैतिक इतिहास पृ० 149

गायकवाड़ और जाटो ने भी अपनाया था। इनको छोड़कर सम्पूर्ण उत्तर भारत मे विद्रोह की आग सुलग रही थी। इस क्रान्ति का प्रारम्भ समय के पूर्व ही हो गया था और सर्वप्रथम इसका लक्षण मगल पाण्डे नामक व्यक्ति मे दीख पड़ा जो बैरकपुर की चौंतीसवी बटालियन का सिपाही था जिसने रोष मे आकर अग्रेज अधिकारियो की हत्या कर दी थी। कारतूसो की घटना को लेकर अग्रेज अधिकारी घबरा गए थे। घबरा तो क्रान्ति के नेता भी गए थे क्यो कि मगल पाण्डे के रोष से पूर्वनियोजित क्रान्ति, समय के पूर्व फूट पड़ी थी जिसका परिणाम स्वय भारत के इन देशभक्तो के ही पक्ष में न था। देश के सभी भागों में इस क्रान्ति को प्रारम्भ करने के लिए 31 मई 1857 का दिन तय हुआ था किन्तु मार्च, अप्रैल मे छोटी-मोटी घटनाओ के होते-होते, 10 मई 1857 को ही क्रान्ति का प्रारम्भ हो गया था।[1] कारतूसो सम्बन्धी भ्रम निवारण करने के विचार से फौजियों को नए कारतूस दिए गए किन्तु जब उनको भी नहीं स्वीकार किया गया तो अधिकारियों ने फौजियों के हथियार रखवा लिए, वर्दियां उतरवा ली और दस-दस वर्ष की कैद की सजा दी जिसके परिणामस्वरूप विद्रोह की आग जो धीरे-धीरे सुलग रही थी ज्वाला के रूप में भड़क उठी। जेलखाने तोड़ डाले गए, अंग्रेज अधिकारी मार डाले गए, उनके बंगलों और कोठियो मे आग लगा दी गयी, रेल और तार की लाइने भी काटी गयी। क्रान्ति की ये लपटें मेरठ से दिल्ली तक फैल गई थी।[2] इन सारी घटनाओं में कल्पना या अतिशियोक्ति का सहारा नही लिया गया है, इनमे सचाई है, सभी घटनाओं का अनुमोदन इतिहास करता है।

जिस प्रकार वर्मा जी ने अपने उपन्यास 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' मे 'लक्ष्मीबाई' का केन्द्र बनाकर सारी ऐतिहासिक घटनाओं को उपन्यास में स्थान दिया है उसी प्रकार प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने 'बेकसी का मजार' में तैमूर वंश के अन्तिम चिराग बहादुर शाह को केन्द्र बनाया है। सारी ऐतिहासिक घटनाएँ इस वृद्ध बादशाह के ही चारों ओर घिरी हुई हैं। मेरठ से जो क्रान्ति की लहर दिल्ली आई तो बहादुर शाह जफर भी उसमें शामिल हो गया।[3] यद्यपि बहादुरशाह को जनता ने स्वेच्छा से सत्तारूढ़ किया तथापि उसकी बात नही मानी और उसके मना करने पर भी जनता ने पचास अंग्रेजों की हत्या कर दी उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप अंग्रेजों ने भी निर्दयतापूर्वक

---

1. बेकसी का मजार : पृष्ठ 343, 344
   भारत का राजनैतिक इतिहास : पृष्ठ 152
2. बेकसी का मजार : पृष्ठ 326-326, 334, 343-345, 348, 357
   भारत का राजनैतिक इतिहास : पृष्ठ 152
3. बेकसी का मजार : पृष्ठ 366

प्रतिशोध लिया था। आगजनी और बलात्कार के अतिरिक्त अंग्रेजों ने छोटे-छोटे मासूम बच्चों तक को पेड़ो पर लटका कर फाँसी दे दी थी।[1] कुल मिलाकर स्वाधीनता की यह लडाई लगभग एक वर्ष तक चली किन्तु एक तो अंग्रेजों के मुकाबिले में आधुनिक हथियारों का अभाव दूसरे पारस्परिक मतभेद और देशद्रोहियो की प्रचुरता ने इस सफल होती हुई क्रान्ति को असफल कर दिया। उदाहरण के लिए नीमच और बरेली की सेनाओं में ध्येय एक होते हुए भी मतैक्य न रहना, सिंधिया, गायकवाड और सिखों का अंग्रेजों को सहायता देना आदि कारणों को देखा जा सकता है। मिरजा इलाही बख्श जैसे व्यक्तियो ने स्वार्थ और पदलोलुपता वश अंग्रेजों का साथ दिया था।[2] फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि इन सबकी परवाह न करते हुए भारत के नरेशों और भारत की प्रजा दोनों ने ही मिलकर विदेशी सत्ता को उखाड फेंकने का सच्चा प्रयास किया जिसमें बहादुरशाह जफर, उसकी पत्नी जीनत महल, लखनऊ की हजरत महल, बिठूर के नाना साहब बिहार प्रान्त के शाहाबाद जिले की जगदीशपुर रियासत के कुँवर सिंह, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, फड़नवीस, मंगल पाण्डे आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये सभी ऐतिहासिक पात्र है। इसी प्रकार इनके विरुद्ध जो नाम गिनाए जा सकते हैं, वे हैं—कैनिंग, हेनरी, लारेंस, हडसन और मिरजा इलाही बख्श, ये सब भी ऐतिहासिक पात्र हैं। स्वाधीनता की इस लडाई का, अंग्रेजों ने दमन कर दिया था और बूढे बादशाह बहादुर शाह को कैद करके देश से बाहर रंगून भेज दिया था। यह भी ऐतिहासिक सत्य ही है।[3]

उपन्यास में अस्वाभाविक कल्पना

इसके आगे जिस रूप में कहानी को आगे बढ़ाया गया है वह नितान्त काल्पनिक और अस्वाभाविक है। उसका स्वरूप बहुत कुछ 'रोमांस' का स्वरूप है। ऐसे कमजोर और अस्वाभाविक घटनाओं वाले स्थल उपन्यास में कई हैं। यद्यपि उपन्यासकार ने 'निवेदन' में कहानी को प्रधान और इतिहास को गौण बनाने सम्बन्धी बात कह कर अस्वाभाविकता की मात्रा को कम कर दिया है तथापि जो सच्चाई है वह तो रहेगी ही। काल्पनिक कथा यद्यपि आकर्षक ढंग से प्रस्तुत की गयी है तथापि पाठक उस पर विश्वास नहीं कर सकता। 'विक्ट्री' नामक जलयान पर गुलनार और अजीमुल्ला का सवार होना और जहाज में रक्तपात से सबके मर जाने की आयोजना कर

1. भारत का राजनैतिक इतिहास : पृष्ठ 155-156
2. बेकसी का मजार : पृष्ठ 448, 451
3. बेकसी का मजार : पृष्ठ 507-509
   भारत का राजनैतिक इतिहास : पृष्ठ 163

देना एकदम अस्वाभाविक है।[1] इसके अतिरिक्त शाह साहब की अलौकिक शक्ति, बहादुर शाह की पत्नी, गुलशन और गुलनार द्वारा खजाने की खोज तथा गुलशन के 'लिंग परिवर्तन' आदि की घटनाओं को पढ़ कर ऐसा लगता है कि बेकसी का मजार आधुनिक युग की रचना होते हुए भी प्राचीन चमत्कारी, तिलस्म और ऐयारी से पूर्ण उपन्यासों की शैली से प्रभावित है। उपन्यासकार द्वारा गुलशन के लिंग परिवर्तन की घटना की आयोजना अवश्य कथा साहित्य में नवीन प्रयास है। अभी तक ऐसी घटनाऐं समाचार पत्रों तक ही सीमित हैं, कथा साहित्य में उन्हें स्थान अभी नहीं मिला है। एक बार एक बात को प्रस्ताव या उपाय के रूप में पात्रों से कहलवाकर फिर कार्यरूप में परिणित करते समय या उसके बाद उसी की पुनरावृत्ति, वर्णन रूप में कई जगह की गयी है। उदाहरण के लिए हाडसन के कोप से बचने के लिए माताबदल सिंह को उपाय बताया गया[2] और इसी विवरण को माताबदल सिंह हाडसन की उपस्थिति में पुनः प्रस्तुत करता है।[3] इस प्रकार घटना का आगे से आगे संकेत मिल जाता है क्योंकि विवरण की पुनरावृत्ति हो जाती है। इन सब अस्वाभाविकताओं के रहते हुए भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि श्रीवास्तव जी ने 'बेकसी का मजार' के माध्यम से भारत की स्वाधीनता की महत्वपूर्ण लड़ाई के यथार्थ और सजीव चित्र विस्तृत पटल पर चित्रित कर इतिहास की रक्षा की है।

माधवजी सिंधिया : वृन्दावनलाल वर्मा

हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों को पुष्ट करने का बहुत कुछ श्रेय वृन्दावनलाल वर्मा को है जिन्होने इतिहास को आधार बनाकर डेढ़ दर्जन से भी अधिक उपन्यासों की रचना की है। वर्मा जी के उपन्यासो का आधार भारतवर्ष का इतिहास ही है। डॉ० त्रिभुवनसिंह, ने अपनी पुस्तक हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद मे वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास 'झाँसी की रानी' को ही विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों की श्रेणी में रखा है और आगे यह कहते हुए कि शुद्ध इतिहास का आधार लेकर सफल उपन्यासों की रचना हिन्दी में नही हुई है, वर्मा जी को इतिहास का विद्वान नही माना है।[4] किन्तु मेरे मत में इस प्रकार की धारणा पूर्णतः सत्य नही है। वस्तुतः उनके उपन्यास इतिहास के रंग रेशे से सम्मत हैं, उसके सन्दर्भ में है।[5]

---

1. बेकसी का मजार : पृष्ठ 534
2. बेकसी का मजार : पृष्ठ 31 3. वही : पृष्ठ 57
4. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : डॉ० त्रिभुवन सिंह (पृष्ठ 303)
5. झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई : वृन्दावनलाल वर्मा (परिचय–पृष्ठ 4)

चूँकि उन्होने उपन्यास लिखे है, इतिहास नही अतः इतिहास के कंकाल में मांस और रक्त (कल्पना) का संचार भी किया है। वर्माजी के उपन्यासो में निसन्देह कल्पना मिलती है किन्तु वह अतिरिक्त तत्व है उससे इतिहास विकृत नही हुआ है।

वर्माजी ने ऐतिहासिक उपन्यास लिखे है उनमे बहुत से ऐतिहासिक व्यक्तियो के चरित्र को प्रधानता देकर लिखे गये है। इनमें भी नारी पत्रो को आधार बनाकर लिखे गये उपन्यास अधिक हैं जैसे झाँसी की रानी, लक्ष्मीबाई मृगनयनी, विराटा की पद्मिनी, अहिल्याबाई आदि। इसी प्रकार पुरुष पात्रों को आधार बनाकर भी वर्मा जी ने उपन्यास रचे हैं, किन्तु ऐसे उपन्यासों की संख्या कम है। ऐसे उपन्यासों में भुवन विक्रम, 'मुसाहिब जू' और माधव जी सिन्धिया का नाम उल्लेखनीय है। ऐतिहासिक-नारी पात्रों पर आधारित उपन्यासों में जो स्थान झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई का है, मेरे विचार में वही स्थान, ऐतिहासिक पुरुषों पर आधारित उपन्यासों में 'माधव जी सिन्धिया' का हैं। झाँसी की रानी एक तो माधव जी सिन्धिया के बाद हुई अतः उनकी स्मृति अधिक ताजा है, दूसरे जिस ढंग से उन्होने वीर गति पायी वह भी एक प्रधान कारण है कि उनको ख्याति अधिक मिली जब कि 'माधवजी सिन्धिया' से जन साधारण परिचित नही है बावजूद इसके कि भारत के इतिहास में माधवजी सिन्धिया महत्वपूर्ण व्यक्तियों में से एक है, यह माधवजी सिन्धया उपन्यास से यह ज्ञात होता है। अतः सिन्धिया के प्रति सम्मान का भाव होना स्वाभाविक है। वर्मा जी के तीनो पुरुष प्रधान उपन्यासों में कथानक के आधार पर 'भुवन विक्रम' का स्वरूप बहुत कुछ 'प्रागैतिहासिक'-सा है। जिस प्रकार रांगेय राघव का मुर्दो का टीला है वैसा ही कुछ भुवन विक्रम भी और 'मुसाहिबजू' को यदि उपन्यास की अपेक्षा बड़ी कहानी (Epic story) कहें तो उचित है।[1] अतः इन दोनों की अपेक्षा 'माधवजी सिन्धिया' की ओर ही हमारा विशेष आकर्षण रहा है।

'माधवजी सिन्धिया' (1956) उपन्यास में आट्ठारहवी शताब्दी की विषम राज-नैतिक परिस्थितियों का चित्रण करते हुए माधव जी सिन्धिया के चरित्र और व्यक्तित्व को एक राजदर्शी के रूप मे उभारा गया है। मुसलमान, सिख, मराठे, जाट, परस्पर लड़ रहे थे, हिन्दू रियासतों के राजा परस्पर लड़ रहे थे। दिल्ली सुल्तान की दशा काफी शोचनीय हो गयी थी। मुसलमान मुसलमान ही आपस मे लड़ बैठे थे।[2]···राज-पूतों को झगड़ा फिसाद और जमीन चाहिए। वे लोग आपस में बेतरह लड़ते हैं। जय-पुर, जोधपुर, बूँदी सब एक दूसरे के दुश्मन।[3]···नादिरशाह चीथ-नोच कर चला गया

1. वृन्दावनलाल वर्मा : साहित्य और समीक्षा (सियारामशरण प्रसाद) पृ० 129
2. माधवजी सिन्धिया : वृन्दावनलाल वर्मा : पृ० 25 3. वही पृ० 29

था अब अहमदशाह अब्दाली तैयार हो रहा था। इधर जाट, गूजर, मेवाती रूहेले काटने कपटने में लगे थे।[1] ताराबाई मराठो में फूट का कारण बनी रही। इधर विदशी, अंग्रेज, और फ्रामीसी शक्तियाँ घुसी बैठी थी। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत मे अराजकता और विद्रोह एव अशान्ति व्याप्त थी। एक ओर हैदरावाद के निजामुल मुल्क की मृत्यु के वाद उसका लड़का शिहाबुद्दीन दिल्ली का शासक बनने की चेप्टा में था, दूसरी ओर रुहेलो और अवध के नवाब में लड़ाई चल रही थी। जाटों के राजा सूरजमल और ताराबाई (मराठी) का अपना ही अस्तित्व था। ताराबाई अपने क्रोधी स्वभाव के कारण फूट फैला रही थी। पंजाब में भी अराजकता फैली हुई थी। दक्षिण में हैदर अली अंग्रेजों से जूझ रहा था, तो फ्रांसिसी भी अपना सिक्का जमाने में प्रयत्नशील थे। मराठों-मराठो में आपस मे मनमुटाव था। ऐसी विषम परिरिथतियो मे माधव जी सिंधिया अपने कर्तव्य को पहिचानता हुआ आगे बढ़ आया था, जिसने अनेकता में एकता, विषमता मे समता और विभिन्नता मे एकरूपता लाने की चेप्टा की। माधव जी सिंधिया सच्चे अर्थो मे राजदर्शी था जिसका विशाल स्वप्न भारत की सारी शक्तियों को अंग्रेजो के विरुद्ध एकता मे बाँधने का था।[2]'···माधवजी व्यक्तिगत तौर पर सरल और नम्र हृदय व्यक्ति था किन्तु राष्ट्रीय एकता के प्रश्न को लेकर एकदम कठोर था, फौलादी था। सम्भवत: इसी कारण सर जान मालकम ने अपनी पुस्तक 'मेमोयर्स आफ सेन्ट्रल इण्डिया' में माधव जी सिंधिया को' स्टील अण्डर वेल्वेट ग्लोव' कहा है[3]। इस दृष्टि से यदि हम यह कहें कि माधव जी सिंधिया मे तुलसी के राम का गुण समाहित था तो अनुचित न होगा।[4] माधवजी सिंधिया के ऐसे ही दुर्लभ व्यक्तित्व को पाकर वर्मा जी ने उपन्यास की रचना उसी के व्यक्तित्व के चारो ओर राजनैतिक परिस्थितियों का ताना-बाना बुनकर की है। माधव जी ने वर्तमान को तो भरसक अनुकूल बनाने की चेष्टा की ही किन्तु उससे अधिक उन्होंने प्राथमिकता दी भविष्य को; उन्होने अस्थायी लाभ की अपेक्षा स्थायी लाभ को ही अधिक महत्व दिया। प्रसाद जी का सिहरण (चन्द्रगुप्त) अतीत के लिए सोच नही करता, भविष्य की चिन्ता नहीं करता और वर्तमान को अनुकूल बनाने की क्षमता उसमें है[5] किन्तु यह राजदर्शी का लक्षण नहीं है। राजदर्शी तो आने वाली पीढ़ी के कल्याण की बात सोचता है।

1. माधवजी सिंधिया : वृन्दावनलाल वर्मा : पृ० 39
2. वही पृ० 5 (परिचय) 3. वही पृ० 2 (परिचय)
4. काग भुशुण्ड जी के शब्दों में रामचन्द्र जी का चरित्र देखिए—
'कुलेसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि'—(रामचरित मानस उत्तरकाण्ड: दोहा 42) 5. चन्द्रगुप्त : जयशंकर प्रसाद

वर्मा जी ने उपन्यास का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है वह अधिकांश स्थलों पर ऐतिहासिक है। जिस प्रकार रांगेय राघव के उपन्यास 'चीवर' (जिसकी चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है) में प्रारम्भ का विवरण एकदम ऐतिहासिक है जिसे उठाकर इतिहास में रख लिया जाए तो भेद करना कठिन हो जाए; वैसा ही विवरण माधव जी सिन्धिया में मिलता है।[1] परिस्थितियो के वर्णन लम्बे-लम्बे किए गए है और चूँकि वे पात्रों द्वारा कथोपकथन के रूप में नही है उपन्यासकार की ओर से है अतः इतिहास के लघु अंश प्रतीत होते है। फिर भी कल्पना का पर्याप्त प्रश्रय लिया गया है। उपन्यास में वातावरण, देश काल ऐतिहासिक है, माधव जी, तुकौजी, होल्कर, पेशवा, फडनवीस, हैदरअली, टीपू, ताराबाई, गन्नाबेगम और सूरजमल व जवाहरसिंह आदि सभी ऐतिहासिक नाम है। उपन्यास मे जिन युद्धो की चर्चा की गयी है वे भी ऐतिहासिक सत्य की परिधि में है। यहाँ विस्तार से सम्पूर्ण उपन्यास में अभिव्यक्त इतिहास पर प्रकाश डालना सम्भव नही होगा किन्तु फिर भी कुछ घटनाओं का उल्लेख आवश्यक है।

उपन्यास में वर्णित युद्ध : इतिहासानुमोदित

उपन्यास में जनवरी 1761 मे हुई पानीपत की लड़ाई की चर्चा हुई है। यह युद्ध भाऊ और अब्दाली के बीच हुआ था। भाऊ की सेना मे हिन्दू, मुसलमान सभी थे। भाऊ के सैनिकों ने पर्याप्त वीरता दिखायी किन्तु विजय का सेहरा अब्दाली के ही सिर बँधा। चूँकि उपन्यास अपने स्वभाव के कारण अधिक विस्तार से कुछ कह सकने मे समर्थ होता है अतः लड़ाई का ब्यौरा भी विस्तृत दिया गया है। उपन्यास मे वर्णित युद्ध सम्बन्धी दिए गए तथ्य इतिहासानुमोदित है।[2] इसी प्रकार उपन्यास मे, पानीपत की लडाई के चार वर्ष पूर्व हुए प्लासी के युद्ध की चर्चा की गई है वह भी इतिहासानुमोदित है; सन् 1757 में बंगाल के नवाब सिराजुदौला और क्लाइब की सेना में प्लासी गाँव में मुठभेड़ हुई थी[3], जिसमें क्लाइब की विजय हुई इससे अंग्रेजों का प्रभुत्व और भी जम गया थी।

मराठो के योग्यतम पेशवा माधवराव की क्षयरोग से सन् 1772 में मृत्यु हो गई थी (चूँकि उसका कोई उत्तराधिकारी न था इसलिए) वह नारायणराव को पेशवा

---

1. माधव जी सिन्धिया : तृतीय सस्करण : 1960 मयूर प्रकाशन झाँसी : पृ०–4
2. भारत का राजनैतिक इतिहास : पृ० 68 (राजकुमार)
   माधव सिंधिया : पृ० 262
3. भारत का राजनैतिक इतिहास (राजकुमार) पृ० 39-40
   माधवजी सिंधिया पृ० 293

नियुक्त कर गया था राघोवा (माधवराव का चाचा) जिसने अंग्रेजों से मिलने का प्रयत्न किया माधवराव द्वारा कैद कर लिया गया था। किन्तु मरते समय माधवराव ने उसे कैद से मुक्त करके उसका समर्थन प्राप्त कर लिया था। स्वार्थ में अन्धे राघोवा ने नारायणराव की पड़यन्त्र रचकर हत्या करवा दी और स्वयं पेशवा बनने का प्रयास करने लगा। किन्तु माधवराव पेशवा के मन्त्री नानाफड़नीस (फढ़नवीस) ने जो कि राघौवा के विरुद्ध था ऐसा नही होने दिया क्योंकि वह चाहता था कि नारायणराव की विधवा पत्नी जो गर्भवती थी के प्रसव तक प्रतीक्षा की जाए। उसने पुत्र को जन्म दिया अत: नानाफड़नवीस और माधव जी आदि ने उस नवजात पुत्र को पेशवा बनाना तय किया।[1] यह घटना पूर्णत: ऐतिहासिक है। नारायण राव, माधव राव का छोटा भाई था जिसे माधव राव ने पेशवा नियुक्त किया था और राघोवा (चाचा होने के नाते) के संरक्षण में छोड़ दिया था। किन्तु राघोवा ने विश्वासघात करके इसकी हत्या करवा दी और स्वयं पेशवा बनने की चेष्टा करने लगा था। राघोवा चाहता था कि माधवजी सिंधिया आदि का समर्थन प्राप्त करके ही पेशवा बने। इसके लिए वह अंग्रेजों तक की सहायता लेने के लिए तैयार हो गया था और बदले में उन्हे सालसिट और बसीन के टापू देने के लिए तैयार हो गया। किन्तु माधव जी यह सब नही चाहते थे, न फड़नवीस ही चाहता था।[2] इन तथ्यों के अतिरिक्त जो कि ऐतिहासिक हैं। बड़गाँव में मराठों द्वारा अंग्रेजों की पराजय, वड़गाँव की सन्धि (1779) बनारस के राजा चेतसिंह पर तथा अवध की बेगमों पर अत्याचार की घटनाएँ[3] भी इतिहास सम्मत हैं।

उपन्यास और इतिहास की घटनाओं में कही-कहीं अन्तर भी परिलक्षित होता है। यह अन्तर सम्भवत: उपन्यासकार की कल्पना का ही परिणाम प्रतीत होता है।

चर्चित उपन्यास और इतिहास की घटनाओं में मतभेद

वर्मा जी ने उपन्यास में अंग्रेजों से माधव जी सिन्धिया का बड़गाँव में युद्ध दिखलाने से पूर्व राघोवा को, माधव जी द्वारा समझा-बुझाकर अंग्रेजों के जाल से निकाल कर अपनी ओर मिला लेना दिखलाया है।[4] किन्तु इतिहास के अनुसार राघोवा की सेना अग्रेजों की तरफ थी। राघोवा माधवजी के विरुद्ध था और युद्ध

1. माधवजी सिंधिया : पृ० 427, 429, 430, 442
2. भारत का राजनैतिक इतिहास : (राजकुमार) पृ० 69, 70, 75, 76
3. माधव जी सिंधिया : पृ० 468 (बड़गाँव की संधि 469 : चेतसिंह और अवध की बेगमें) भारत का राजनैतिक इतिहास : (राजकुमार) क्रमश: पृ० 77-81
4. माधव जी सिन्धिया : पृ० 468

में अंग्रेजों के साथ राघोवा भी घिर गया था। अंग्रेज पराजित हुए थे और उन्होंने सालसिट टापू वापस करने, राघोवा को पेशवा के सुपुर्द करने, मरुन्च माधव जी को देने सम्बन्धी शर्तें स्वीकार की थीं जो बड़गाँव की सन्धि के नाम से जानी जाती है।[1] यह अलग बात है कि आगे चलकर इस सन्धि का पालन नही हुआ। सम्भवतः वर्मा जी ने माधव जी सिन्धिया की पटुता और व्यवहार कुशलता मे वृद्धि के लिए ही ऐसा किया है। इतिहास के अनुसार माधवजी कूटनीतिज्ञ भले ही न था किन्तु अनुपम वीर और कुशल सेनापति था। उत्तर भारत में मराठों की उखड़ी हुई शक्ति का सिक्का उसने ही जमाया था।[2] उपन्यास मे माधव जी के चातुर्य और उनकी व्यवहार कुशलता के अनेक उदाहरण मिलते हैं। उदयपुर के घेरे के सम्बन्ध मे माधव जी का होल्कर को उत्तर[3] तथा विराट आयोजन करके पेशवा का अभिनन्दन और नये जूते देकर उसके पुराने जूते बगल में दबा लेने आदि की घटना इस बात के प्रमाण है।[4]

पेशवा के अभिनन्दन की घटना से आधुनिक युग में अभिनन्दन पत्र आदि भेंट करने के लिए ख्यातिप्राप्त महत्वपूर्ण लोगो के लिए होने वाले आयोजनों की झलक मिलती है। माधव जी का राष्ट्रीय आदर्श उनके इस कथन से ही पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है कि "मै तो भारत भर के ऊपर सदादर्शों के राज्य को स्वराज्य कहता हूँ। मुल्क गीरी अव्यवस्था का दूसरा नाम है।[5]

आधुनिक इतिहास : ध्वनित रूप में

यद्यपि 'माधवजी सिन्धिया उपन्यास में अठारहवी शताब्दी को अभिव्यक्त किया गया है। उसमें अभिव्यक्त हुआ इतिहास आज से लगभग 200-250 वर्ष पुराना है किन्तु चूँकि उसका रचयिता आज के युग में रह रहा है अतः आधुनिक युग के इतिहास की छाप भी उपन्यास में यत्र-तत्र देखने को मिलती है। गन्ना बेगम उर्फ गुनीसिंह के माधव जी के प्रति कहे गए कथन में कि—मुसलमान जनता को हरी-हरी फुलवाड़ियो का मोह दिखलाकर भ्रान्त किया जा रहा है......स्वार्थी लोग उन्हें गुमराह करके अपना मतलब पकाना चाहते है,[6] भारत के विभाजन के पहले स्वार्थी दलों और जिन्ना तथा मुस्लिम लीग द्वारा मुसलमानों को भड़काने का चित्र उपस्थित होता है। उपन्यास में हमें अन्य स्थलों पर भी इसी प्रकार के आधुनिक इतिहास का प्रभाव देखने को

---

1. भारत का राजनैतिक इतिहास : राजकुमार (पृ० 77)
2. भारत का राजनैतिक इतिहास : राजकुमार (पृ० 87)
3. माधवजी सिन्धिया पृ० 373
4. वही पृ० 543-544
5. वही पृ० 333
6. वही पृ० 453

मिलता है। बादशाह का गुलाम नजफ से रुपये की वसूली के लिए आकर उसके यहाँ धरना देने की धमकी देता है। देखिए गुलाम ने नजफ मे निवेदन किया—मुझे हुकुम हुआ है कि मैं हुजूर के यहाँ धरना दूं।[1] वह धरना देता है और कहता है—'कसम तो हुजूर कई बार खा चुके हैं······आपको जहाँपनाह ही से जाकर यह सब कहना चाहिए। मैं तो धरना देने के लिए आया हूँ। न कुछ खाऊँगा न आपको खाने दूँगा।[2] गुलाम की धरना देने की क्रिया जहाँ एक ओर गांधी जी के पिकेटिंग का प्रभाव है वहाँ दूसरी ओर उसका निर्भयता पूर्ण वाक् स्वातन्त्र्य मिटते हुए वर्ग भेद, टूटती हुई दास प्रथा और बढ़ती हुई सामाजिक चेतना का प्रभाव है।[3] अन्य कई स्थलों पर उपन्यास में गांधी जी की अहिंसा और हृदय परिवर्तन के सिद्धान्तों की छाप भी देखने को मिलती है। माधव जी सिन्धिया के व्यक्तित्व पर भी गांधी जी के व्यक्तित्व का प्रभाव परिलक्षित होता है। नाना (फड़नवीस) के इस कथन के उत्तर में कि······ हिन्दू मुसलमानों से त्रस्त होकर डरने लगे हैं। लोग सोचते हैं तुम मुसलमानों का बहुत पक्षपात कर रहे हो,[4] माधव जी द्वारा हृदय-परिवर्तन की बात कही जाती है। उनका कहना है कि······हमको न तो उनसे डरना है जिनके हाथ में छुरी है और न उनसे जिनके दिल मे छुरी है। मैं मुसलमानों का पक्षपात नहीं करता हूँ, मै उनको अपना कहलाने योग्य बना रहा हूँ।[5] इसी प्रकार रामलाल के प्रति माधव जी का यह कथन कि······रामलाल मैं मुसलमानों को हिन्दुओ का हितू बनाना चाहता हूँ। इसलिए उनसे घृणा नही करता।[6]······माधव जी सिन्धिया की 'हृदय परिवर्तन' के सिद्धान्त में आस्था को प्रकट करता है। उपन्यास मे एक ओर जहाँ इतिहास का बड़े स्तर पर निर्वाह हुआ है वहाँ दूसरी ओर गन्नाबेगम उर्फ गुनीसिंह तथा माधव जी के प्रेम वार्तालाप के प्रसंगों द्वारा कल्पना का समावेश हो जाने से इतिहास में शिथिलता उत्पन्न हो गयी हैं। कुल मिलाकर उपन्यास का कथानक इतिहास की विशाल भूमि पर खड़ा किया गया है।

☐☐☐

1. माधवजी सिन्धिया : पृ० 465 2. वही पृ० 466
3. विस्तृत विवरण के लिए कांग्रेस का इतिहास देखिए
4. माधवजी सिन्धिया : पृ० 541 5. वही पृ० 541
6. माधव जी सिन्धिया : पृष्ठ 565

चौथा अध्याय

इतिहास-प्रभावित उपन्यास

पिछले अध्याय में हमने 'ऐतिहासिक उपन्यास' शीर्षक के अन्तर्गत कुछ प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासो के माध्यम से इतिहास का सिंहावलोकन किया है। हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार है, जैसे सामाजिक, व्यक्तिवादी, आचलिक आदि। इस दृष्टि से ऐसे उपन्यासों के इतिहास से प्रत्यक्ष या परोक्ष संबध की कल्पना भी नही की जा सकती। किन्तु यह सत्य है कि ऐसे ही अनैतिहासिक उपन्यासों में भी प्रत्यक्ष या परोक्ष अथवा धवनित रूप में अल्पाधिक मात्रा में व्यवस्थित ढंग का इतिहास उपलब्ध होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यासकार अनैतिहासिक उपन्यास की रचना करते समय भी अपने राष्ट्र अथवा राष्ट्र के इतिहास के प्रति उदासीन नही रह पाता। यदि ऐसा होता तो कोई भी उपन्यासकार जैनेन्द्र के त्याग पत्र और उदयशंकर भट्ट के 'सागर लहरें और मनुष्य' के समान ही अपनी कृति को इतिहास से पूर्णतः मुक्त कर देता। जिन उपन्यासकारों ने किसी कारणवश इतिहास को आश्रय नही भी दिया है तब भी उनके उपन्यासों में इतिहास प्रत्यक्ष परोक्ष अथवा ध्वनित रूप में आ ही गया है या कहें कि इन उपन्यासों पर इतिहास का गहरा असर पड़ गया है। यही कारण है कि ऐसे उपन्यासों को हमने 'इतिहास-प्रभावित उपन्यास' की संज्ञा दी है और उनके माध्यम से भारत के इतिहास को देखने, परखने का प्रयास किया है।

इतिहास-प्रभावित उपन्यासों के अन्तर्गत हमने प्रेमचन्द, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, सेठ गोविन्द दास, अनन्त गोपाल शेवड़े, अमृतलाल नागर, भगवतीचरन वर्मा, गुरुदत्त, अज्ञेय, यशपाल, रामेश्वर शुक्ल अंचल, रागेय राघव, अमृतराय नागार्जुन फणीश्वरनाथ रेणु के चुने हुए प्रमुख उपन्यासों को सम्मिलित किया है और उनके उपन्यासों के माध्यम से भारत के इतिहास का सिंहावलोकन किया है।

प्रेमचन्द के चार प्रमुख उपन्यास

हिन्दों में सशक्त और जानदार उपन्यासो का अविर्भाव प्रेमचन्द की अवतारणा के फलस्वरूप हुआ। प्रेमचन्द पूर्व के उपन्यास कम से कम आज तो श्रीहीन प्रतीत

होते हैं, अतः इस दृष्टि से प्रेमचन्द को हम 'क्रान्तिकारी कह सकते है; यह बात अलग है कि प्रेमचन्द के भी प्रारम्भिक उपन्यासों और बाद के उपन्यासों मे पर्याप्त फासला है। 'वरदान' व 'प्रतिज्ञा', सेवासदन से तथा 'सेवासदन' व कायाकल्प', प्रेमाश्रम, कर्मभूमि, 'रंगभूमि' और गोदान से सौन्दर्य एवं प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से क्षीण है। यहाँ विषय को दृष्टिगत करते हुए हम प्रेमचन्द के अन्तिम चार उपन्यास—प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि और गोदान को दृष्टिगत करते हुए ऐतिहासिक विवेचन करेंगे।

इस विवेचन के अन्तर्गत हम प्रेमचन्द के सम्बन्ध में अधिक न कहकर, प्रेमचन्द-कालीन परिस्थितियों पर प्रकाश डालेंगे जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध इतिहास से है। 'उपन्यास' एवं 'इतिहास' सम्बन्धी विचार प्रारम्भिक अध्याय में स्पष्ट किये जा चुके है किन्तु चूँकि चर्चित उपन्यासों के सन्दर्भ में इतिहास का आलोक अपेक्षित है इसलिए प्रारम्भ में, इतिहास के सम्बन्ध में संक्षिप्त रूप से कुछ कह देना पुनरोक्ति दोष नही माना जाना चाहिए।

आज भी लोग इस भ्रान्तिपूर्ण धारणा के शिकार हैं कि इतिहास मात्र राजाओ द्वारा लड़ी गयी लड़ाइयों का ब्यौरा है। वे आज भी सिकन्दर और चन्द्रगुप्त शेरशाह और हुमायूँ की लड़ाई तक ही इतिहास को सीमित रखते है। किन्तु आज इतिहास की सीमाओं मे काफी फेर बदल हो चुका है। वह राजाओं और सम्राटों को पीछे छोड़ पानीपत और वाटरलू के युद्ध क्षेत्रो से होता हुआ जनसाधारण के सामूहिक क्रिया-कलापों में, समाज और राष्ट्र के विकास में समा गया है।

वास्तव में इतिहास को उसका अस्तित्व प्रदान करने मे अतीत अर्थात् भूतकाल का प्रमुख रूप से हाथ रहता है, बिना अतीत का आवरण ओढ़े इतिहास नही बन सकता। भविष्य में घटित होने वाली घटनाएँ, एक समय आयेगा जब इतिहास की वस्तु बन जायेंगी। प्रेमचन्द का जन्म 30 जुलाई सन् 1880 को और स्वर्गवास 8 अक्टूबर सन् 1936 को हुआ था। अतः हम कह सकते हैं कि सन् 1857 की क्रान्ति प्रेमचन्द के लिए इतिहास की वस्तु बन गयी थी किन्तु जलियांवाला बाग का हत्या-काण्ड और असहयोग आन्दोलन उनको भविष्य में देखने को मिले और आज वे घटनाएँ भी अतीत के गर्त में समा गयी हैं। जब हम उनकी ओर दृष्टिपात करते हैं तो वे हमारे सम्मुख इतिहास के आवरण में अपने को प्रस्तुत करती है।

घटनाएँ किसी भी युग की हों, वे अपने समय के साहित्यकार को भी प्रभावित अवश्य करती हैं। बल्कि कहना यह चाहिए कि साहित्यकार का बुद्धि पक्ष और हृदय-पक्ष सामान्य जनता से अधिक प्रबल होता है अतः वही सर्वाधिक प्रभावित होता है। साहित्यकार के चारों ओर वातावरण में अग्नि व्याप्त हो और उसकी गर्मी उस तक

साहित्यकार और उसका युग : आदान-प्रदान

न पहुँचे यह असम्भव है। कहने का अर्थ यह कि वह अपने युग की परिस्थितियों से प्रभावित होता है। यही कारण है कि उसके साहित्य के माध्यम से सारा इतिहास बोलता है, सस्कृति बोलती है फिर चाहे इतिहास और संस्कृति की, अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष ही क्यों न हो। प्रेमचन्द के साथ भी यही बात लागू होती है। हाँ कुछ साहित्यकार अर्थात् कहानीकार और उपन्यासकार अपने वर्तमान की अपेक्षा अतीत से अधिक प्रेम करते है जिसके परिणामस्वरूप वे इतिहास की ओर प्रवृत्त होते हैं। किन्तु प्रेमचन्द बीती को बिसार कर वर्तमान की सुध लेते थे उन्हे मरे मुर्दे उखाड़ने में दिलचस्पी नही थी। प्रेमचन्द की कृतियों में प्राचीन नही बल्कि तत्कालीन इतिहास का सशक्त एवं स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है। इस बात का प्रमाण हमें मिल सकता है यदि हम उनके समय के समाज, राष्ट्र और परिस्थितियों को दृष्टिगत करते हुए उनकी कृतियों का अध्ययन करें।

प्रेमचन्द और कांग्रेस : समवय-स्कता के दौर में

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है प्रेमचन्द का काल सन् 1880 से 1936 तक 56 वर्ष का काल है। संयोगवश यह समय भारत में एक महान उथल-पुथल और जागरण का काल रहा है। प्रेमचन्द के जन्म के पाँच वर्ष बाद ही कांग्रेस का जन्म हुआ और उनकी मृत्यु के ग्यारह वर्ष उपरान्त ही, यह तो नही कहा जा सकता कि काग्रेस भी मर गयी पर हाँ उसने नया जीवन पा लिया, उसका कायाकल्प हो गया। ऐसा लगता है मानो प्रेमचन्द अपने साथ इस महान संस्था रूपी वृक्ष की शक्ति प्रदान करने वाला खाद लाए थे और जव देखा कि वह वृक्ष अब उनकी खाद के बिना भी जीवित रह सकेगा, उसने अपनी जड़ें जमा ली है और जब वह वृक्ष अपनी मनमानी के साथ जिधर चाहे बढ़ रहा है तो जैसे वे उसे छोड़कर संसार से कूच कर गए। वास्तव में इस खाद का भण्डार उनके मन और मस्तिष्क में सुरक्षित था जिसने साहित्य के रूप में प्रकट होकर इस वृक्ष को समूचे राष्ट्र पर अपना साया करने की अपार शक्ति प्रदान की, उसे व्यापक रूप प्रदान किया। वे उसकी जड़ों को कमजोर बनाने वाले सामाजिक दोषो रूपी जन्तुओं पर भरसक प्रहार करके उन्हें नष्ट करते रहे।

प्रेमचन्द के उपन्यास : रचना काल

प्रेमचन्द जी न तो स्वयं ही अभी इतने पुराने हुए हैं न ही उनका साहित्य इतना पुराना हुआ है कि उनकी कृतियो के लेखन व प्रकाशन के समय को एक मत से न स्वीकारा जा सके। घनानन्द ने अमुक रचना अमुक काल में लिखी या अमुक काल में, बिहारी की सतसई रचना का काल अमुक नही है, चन्दबरदायी ने रासो की रचना अमुक काल में की या फिर चासर ने 'केन्टर बरी टेल्स' अमुक वर्ष में लिखना

प्रारम्भ किया आदि पर मतभेद होना तो सम्भव है किन्तु प्रेमचन्द की कृतियो के सम्बन्ध मे एकमत न होना खेद का विषय है। प्रेमचन्द के उपन्यास 'प्रेम' का प्रकाशनकाल मदनगोपाल ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द' मे 1904 माना है तो ईसराज रहबर ने इस उपन्यास का रचनाकाल सन् 1906 माना है। सेवा सदन का प्रकाशन काल शिवनारायन श्रीवास्तव और शिवदान सिह चौहान ने 1918 व श्रीमती शचीरानी गुर्टु ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द और गोर्की' मे सन् 1907 माना है। जो हो, इससे यद्यपि हमारा प्रतिपाद्य विषय प्रभावित नही होता तथापि सही स्थिति को समझने मे किंचित व्यवधान अवश्य उपस्थित होता है। उपन्यासो के लेखन व प्रकाशन आदि के सम्बन्ध मे चर्चा करने का हमारा उद्देश्य यह दिखलाना है कि अपने युग के वातावरण परिस्थितियो, शीर्षको व शोषितों, समाज में व्याप्त दोषो आदि को देख सोच और समझकर जो प्रतिक्रिया प्रेमचन्द के मन और मस्तिष्क पर हुई, कथा-साहित्य के माध्यम से प्रेमचन्द ने उसकी अभिव्यक्ति सन् 1904 से प्रारम्भ की और तब से मृत्यु पर्यन्त करते ही रहे।

प्रेमचन्द ने प्रेमाश्रम सन् 1918-19 में लिखा किन्तु प्रकाशन इसका सन् 1922 मे हुआ। इससे यह स्पष्ट है कि जिन सामाजिक एव राष्ट्रीय घटनाओ, समस्याओ ने प्रेमचन्द के हृदय और मस्तिष्क मे उथल-पुथल मचाई, प्रेमचन्द को प्रेमाश्रम लिखने की प्रेरणा दी, वे सन् 1918 व उसके कुछ पूर्व की रही होंगी। लगभग 1917-18 के आस-पास की और लिखते समय की अर्थात् 1918-19 की घटनाओ, समस्याओ और परिस्थितियों का भी यथोचित स्थान पाना स्वाभाविक है।

यों तो प्रेमचन्द के समय का समूचा इतिहास भारत की स्वाधीनता की लड़ाई का इतिहास है किन्तु सन् 1917 का वर्ष अपना विशेष महत्व रखता है क्योकि इस वर्ष समूचा देश राष्ट्रीय भावना एवं चेतना से अनुप्राणित हो उठा था, आन्दोलन जोरो पर थे। गोरे किसानों ने चम्पारन के किसानों की भूमि पर अपना आधिपत्य कर लिया और फिर उन्ही किसानो से अपने लिए खेती करवाना प्रारम्भ कर दिया। जिन किसानों की थोड़ी बहुत अपनी भूमि थी उसके कुछ भाग पर भी उन्हें नील की खेती करने को विवश किया जब कि इन किसानो को उससे कोई लाभ नहीं था, वह मात्र 'बेगार' थी। भारतीय किसान विवशता और दवाव में ऐसा करते थे। इस बेगार से पीछा छुड़ाने का कार्य गांधी जी ने किया। सरकार के विरोध की परवाह न करके भी उन्होंने सन् 1917 में किसानों की पैरवी की और उनका लगान कम करा दिया, नील की खेती से भी उनका पीछा छुड़ाया।

प्रेमाश्रम की रचनाकाल और समसामयिक परिस्थितियाँ

इसी प्रकार सन् 1918 में जब कि फसलों के खराब होने से खेती चौपट हो गयी थी और सरकार ने खेड़ा के किसानों की विवशता का ख्याल न कर लगान की

माँग जारी रखी तो गांधी जी ने सत्याग्रह का मार्ग अपनाया। फलस्वरूप गिर-फ्तारियाँ और सजाएँ हुई, किन्तु जीत अन्त मे गांधीजी और उनके सत्याग्रह की हुई, किसान लगान से मुक्त कर दिये गये।[1] टूटी हुई कांग्रेस पुन: एक हो गयी थी। यहाँ तक कि मुस्लिम लीग ने भी कांग्रेस से समझौता कर लिया था। इधर गांधीजी सन् 1917 से ही नियमित तौर पर भारत की राजनीति मे क्रियाशील हो गये थे सन् 1917 मे ही रूसी क्रान्ति हुई जिसमें भारतीय कृषक को, भारतीय कृषक की सच्ची वकालत करने वाले प्रेमचन्द को एक नवीन व सशक्त दृष्टिकोण प्रदान किया। सन् 1919 में गांधी जी के नेतृत्व में रोलट एक्ट को लेकर सत्याग्रह आन्दोलन चला। यह एक आम बात हो गयी थी कि जब भी सरकार अपने विरुद्ध कोई कार्यवाही होते देखती, तुरन्त दमन और गिरफ्तारियों का आश्रय लेती और परिणाम यह होता था कि हिंसा का साम्राज्य छा जाता था। फिर भी गांधी जी ने सत्याग्रह की घोषणा कर दी, आन्दो-लन ने जोर पकड़ा। सन् 1919 में गुजरानवाला और कसूर मे हिंसात्मक कार्रवाईयाँ हुई; जलियाँ वाला बाग का हत्याकाण्ड तो अत्यन्त हृदय विदारक घटना थी जिसके कारण गांधीजी के हृदय को चोट लगी। उन्होने सत्याग्रह स्थगित कर दिया हाँलाकि इन हिसात्मक घटनाओं के लिए उन पर तिलभर भी आरोप नही लगाया जा सकता। गांधीजी ने तो अमृतसर कांग्रेस (1919) के अवसर पर भी यही कहा 'पागलपन का जबाब पागलपन से मत दो, बल्कि पागलपन के मुकाबले में समझदारी से काम लो और देखो कि सारी बाजी आपके हाथ में है। कोई व्यक्ति या कोई राष्ट्र अहिंसा के त्याग द्वारा जो शक्ति उत्पन्न कर सकता है उसका मुकाबला कोई नही कर सकता।[2]

1920 में पुन: कांग्रेस का नरम दल कांग्रेस से अलग हो गया और इधर गाँधी जी ने असहयोग आन्दोलन को पुन: क्रियान्वित करने की योजना बनायी। उन्होंने सरकारी उपाधियों और सम्मान को व नीचे दर्जे की नौकरियों को छोड़ने की सलाह दी, स्कूलों तथा कालेजों से छात्रो को निकालने, विदेशी माल का बहिष्कार करने तथा स्वदेशी वस्त्रों को तैयार करने व अपनाने की भी सलाह दी। 1921 में मिलमालिको से वस्त्रों की कीमत न बढ़ाने का अनुरोध किया गया तथा युवराज के आगमान पर उनके स्वागत में सहयोग न देने व शामिल न होने की सलाह दी गयी। नवम्बर 1921 मे युवराज के आगमन पर विदेशी वस्त्रों को जलाया गया। इस अवसर पर लोग संयम खो बैटे, गाँधी जी की सलाह को भूल गए। परिणाम यह हुआ कि मुठभेड़ हुई, दंगे हुए और हिंसा ने भयंकर रूप धारण कर लिया।

---

1. कांग्रेस का इतिहास : डॉ० प० सीतारामय्या (पृष्ठ 113-115)
2. कांग्रेस का इतिहास : डॉ० प० सीतारामय्या (पृष्ठ 103)

संक्षेप में 1917 से 1921 तक की यही ऐतिहासिक गतिविधियाँ है जो किसी भी साहित्यकार को अपनी ओर आकर्षित किये बिना नही रह सकती, हाँ कुछ अपवाद तो मिल ही सकते है। यह अवश्यक नही था कि प्रेमचन्द तत्कालीन सभी गतिविधियो को अपनी कृति मे स्थान देते। बल्कि मै तो यही कहूँगा कि कोई भी लेखक या कथाकार अपनी कृति को सशक्त रूप देने के लिए अनेक के स्थान पर एक ही समस्या और घटना को शक्तिशाली रूप मे उतारना अधिक उचित समझेगा जिसे उसने अपनी मनः स्थिति के अनुकूल पाया हो, जिससे वह सर्वाधिक प्रभावित हुआ हो। हाँ अन्य घटनाएँ व समस्याएँ गौण रूप मे, या मुख्य घटना की सहायतार्थ अवश्य आ सकती हैं।

अतः यहाँ देखना यही है कि प्रेमचन्द ने प्रेमाश्रम की रचना के समय की गतिविधियों को किस सीमा तक चित्रित किया है। अस्तु, सन् 1917 से 1921 तक की ऐतिहासिक गतिविधियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल की गतिविधियों मे रूसी क्रान्ति, चम्पारन सत्याग्रह, खेड़ा सत्याग्रह और अहमदाबाद के मिल मालिक व मजदूरों के झगड़े के कारण हुए सत्याग्रह सम्बन्धी घटनाएँ ही ऐसी है जो अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण व व्यापक प्रभाव वाली है।

जहाँ तक, प्रेमाश्रम (1922) का प्रश्न है, उसे आदि से अन्त तक पढ़ जाने वाला पाठक मेरे इस मत से सहमति प्रकट करेगा कि प्रेमचन्द देश में जमीदारो के अत्याचार, बेरहमी और इसके विपरीत किसानों की असहाय अवस्था, उनकी विवशता, निर्धनता और पिछड़ेपन से मन ही मन व्यथित होकर प्रेमाश्रम की रचना करने के लिए बाध्य हुए। चम्पारन और खेड़ा सत्याग्रह तथा रूसी क्रान्ति प्रेमाश्रम की रचना के प्रेरणास्रोत रहे हैं ऐसा मेरा मत है। इस बात के प्रमाण, कि प्रेमचन्द रूसी क्रान्ति से प्रभावित थे, अमृतराय की पुस्तक 'कलम का सिपाही' तथा शिवरानी देवी की पुस्तक 'प्रेमचन्द घर में' से उपलब्ध होते है। रूसी क्रान्ति के फलस्वरूप रूस के कृषकों के जीवन मे नवीन मोड़ आया। उसको लेकर प्रेमचन्द के मस्तिष्क में विचारों की उमड़-घुमड़ बहुत समय तक बनी रही। 'रूसी क्रान्ति' सन् 1917 की बात है जब कि सन् 1928 तक भी प्रेमचन्द अपनी विचारों की दुनिया में जमीदारों से जूझते और कृषको के प्रति सहानुभूतिपरक दृष्टिकोण अपनाते दीख पड़ते है—तभी तो वे एक प्रश्न के उत्तर में शिवरानी देवी से कहते है "······हाँ, रूस है जहाँ कि बड़ों को मार-मार कर दुरूस्त कर दिया गया है। अब वहाँ गरीबों को आनन्द है। शायद यहाँ भी कुछ दिनों के बाद रूस जैसा ही हो[1] शिवरानी देवी के यह प्रश्न करने पर कि 'मान लो

प्रेमाश्रम के कथानक का आधार

1. प्रेमचन्द घर में—(शिवरानी देवी) पुस्तक से उद्धृत।

कि जल्दी हो जाय (रूस जैसी व्यवस्था) तब आप किसका साथ देंगे ?' तब प्रेमचन्द उत्तर देते है कि—'मजदूरो और काश्तकारो का—मै पहले ही सबसे कह दूँगा कि मैं भी मजदूर हूँ[1]...... '

प्रेमचन्द के उक्त कथन को उद्धृत करने का उद्देश्य यहाँ यही दिखलाना है कि रूसी क्रान्ति से प्रभावित कृषक जीवन और भारतीय किसान की शोचनीय दशा उनके मन मस्तिष्क मे घर कर गयी थी। चम्पारन और खेड़ा जैसे सत्याग्रहों ने पहले से ही व्यथित प्रेमचन्द को और भी झकझोर दिया क्योंकि इन सत्याग्रहो के मूल में किसानो का शोषण था। अतः प्रेमाश्रम का आधार प्रमुख रूप से ये ही सत्याग्रह बने। यहाँ आगे कुछ कहते से पहले हम राजेश्वर गुरू का मत 'प्रेमाश्रम' की रचना के सम्बन्ध मे उद्धृत करना चाहेगे। राजेश्वर गुरू का कहना है कि 'प्रेमाश्रम की मूल कथा किसान जमीदार संघर्ष की कल्पना लेकर चलती है।' आगे वे कहते हैं कि किसानो का कोई अयोजित आन्दोलन उस समय तो क्या उसके अनेक वर्षो बाद तक भी कभी देश मे न हुआ था।[2] इस सम्बन्ध मे हमे कहना यही है कि प्रेमचन्द क्या, किसी भी लेखक के लिए यह आवश्यक नही है कि वह किसी आन्दोलन या घटना को अपनी कृति में तभी उतारे जब वह घटित हो चुकी हो। साहित्यकार युग दृष्टा होता है वह वर्तमान परि-स्थितियों को देखकर भूत और भविष्य की कल्पना करने में समर्थ होता है। रूसी क्रान्ति को जाने दीजिए चम्पारन और खेड़ा के सत्याग्रह प्रेमचन्द के अपने देश की घटनाएँ है वे आन्दोलन न सही, आन्दोलन को जन्म देने वाले बीज अवश्य है। सच पूछा जाय तो 'प्रेमाश्रम' का बीज भी ऐसे ही सत्याग्रहो मे छिपा हुआ था।

चम्पारन और खेड़ा सत्याग्रह की चर्चा संक्षेप मे ऊपर की जा चुकी है। चम्पारन सत्याग्रह की घटना से इस बात की स्पष्ट झलक मिलती है कि जमीदारों की मूर्खता और स्वार्थपरता के कारण जिले के किसान दुखी थे। नील की खेती और उससे मिलने वाली मजदूरी ने किसान को किसान न रहने दिया था, वह दरिद्र असहाय मजदूर बन गया था। उसके मन की व्यथा सुने कौन ? जिससे वे शिकायत करके चुप रह जाते। ऐसी अवस्था मे गाँधीजी ने उनकी वकालत की। धारा 144 के अन्तर्गत गाँधीजी को नोटिस दिया गया किन्तु अन्त मे जीत उन्ही की हुई। किसानों का लगान कम हुआ, नील की खेती समाप्त हुई। सन् 1918 के खेड़ा सत्या-ग्रह की घटना भी इस बात पर प्रकाश डालती है कि भारतीय किसान बढ़े हुए लगान, बेदखली और अकाल के समय भी लगान की अनिवार्यता से परेशान था जिसका अन्त भी गिरफ्तारियों और मुकदमों के बाद गाँधीजी की सहायता से हुआ।

1. वही
2. प्रेमचन्द एक अध्ययन : राजेश्वर गुरू (पृष्ठ 155)

प्रेमचन्द ने इन घटनाओं से यह अनुमान लगा लिया कि भारतीय कृषकों मे जो असन्तोष और विरोध है वह बिना किसी सशक्त सम्बल के नही जी सकता, उसकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि गाँधी जैसा पथ-प्रदर्शक व नेतृत्व करने वाला व्यक्ति इस काम में हाथ डाले और इसी विचार ने लखनपुर गाँव के किसानों के बीच प्रेमशंकर जैसे सुशिक्षित व्यक्ति का अमरीका से आगमन दिखलाया है जो चम्पारन में गाँधी जी के नेतृत्व के समान ही नेतृत्व करता है। वह हाईकोर्ट में जाकर उन सब किसानों की वकालत करता है जो कारिन्दे गोसरवाँ की हत्या के अपराध में मनोहर के साथ-साथ बाँध लिए जाते है। यही नही प्रेमाश्रम में मजिस्ट्रेट ज्वाला सिह की अवतारणा और उसके द्वारा जमीदार ज्ञानशंकर के कहने पर लगान मे वृद्धि न करने आदि की घटनाएँ हमारा ध्यान अनायास ही चम्पारन में गाँधी जी पर चलने वाले मुकदमें की ओर खीचती है। यहाँ भी मुकदमा वापस ले लिया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेमचन्द को हल्के पुल्के संकेत इन सत्याग्रहों से मिल गए। बस ! इतना पर्याप्त था, शेष पूर्ति उन्होने अपनी कल्पनाशक्ति से कर ली। गाँधी जी के चम्पारन सत्याग्रह के समय मोतीहारी गाँव में प्रवेश के समय उन्हे 144 धारा के अन्तर्गत जिले को छोड़कर बाहर चले जाने का नोटिस मिला था, किन्तु वे नही गए। तो इधर प्रेमचन्द ने भी जमीदार ज्ञान शकर को एक उपाय सुझा दिया प्रेम शकर को परास्त करने का। वह प्रेम शकर को वह लेख अखबार में छपा हुआ दिखलाता है जो उसके विदेश मे रहकर धर्मभ्रष्ट होने के विरोध में छपे है। ज्ञान शकर चाहता है कि प्रेमशंकर रूपी गाँधी इलाका छोड़कर चला जाये और उसकी जमीदारी पर आँच न आए किन्तु प्रेम शंकर भी गाँधी के समान जमा रहता है इलाका छोड़कर चला नही जाता।

प्रेमचन्द ने यह भी देखा कि चम्पारन और खेड़ा के सत्याग्रह में गांधी जी की विजय हुई और सरकार व उनकी कठपुतलीवत् जमीदारों ने शिकस्त पायी,—तो उनका प्रेमशंकर भी क्यों पराजित हो। इसके सम्मुख विरोधी शक्तियों को झुकना पड़ता है। ज्ञान शकर द्वारा आत्महत्या दिखलाकर तो जैसे प्रेमचन्द ने जमीदारी का समूल उन्मूलन कर दिया है।

हमने ऊपर 'प्रेमाश्रम' के रचना स्रोत के सम्बन्ध मे जो बात कही है उससे पाठक यह न समझें कि हमने चम्पारन और खेड़ा के सत्याग्रह की घटनाओं और रूसी क्रान्ति को ही प्रेमाश्रम का प्रेरणा स्रोत मान लिया है—कथाकार ऐसी घटनाओं से मात्र आभास प्राप्त करता है उनसे अपनी कथा की रूपरेखा और घटना चक्र के निर्माण में सहायता भर लेता है।[1]

1. देखिए रामेश्वरप्रसाद मेहरोत्रा द्वारा अनूदित वी० एस० वेसक्रवनी का लेख : प्रेमचन्द्र और गोर्की, पृष्ठ ८६-८७

'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर पर गाँधीजी के व्यक्तित्व की पर्याप्त छाप है। जिस प्रकार गाँधी जी ने किसानों के अधिकारों के लिए सन् 1917-18 में अंग्रेजों और जमींदारों से लड़ाई लड़ी उसी प्रकार प्रेमशंकर भी किसानो के हित के लिए प्रयासशील दिखलाई पड़ता है। वह कहता है— '······किसी को यह अधिकार नही है कि वह दूसरों की कमाई को अपनी जीवन-वृति का आधार बनाए।······भूमि उसकी है जो उसको जोते। शासक को उसकी उपज में भाग लेने का अधिकार इसलिए है कि वह देश में शाँति और रक्षा की व्यवस्था करता है······किसी तीसरे वर्ग का समाज में कोई स्थान नही है।[1]······प्रेमशंकर के प्रभाव से जमीदार मायाशंकर का प्रभावित होकर यह कहना कि—'मै अपनी प्रजा को अपने अधिकारों के बन्धन से मुक्त करता हूं। वे न मेरे आसामी है न मै उनका ताल्लुकेदार हूँ······आज से वह अपनी जोत के स्वयं जमीदार हैं।[2] मायाशंकर पर गाँधी जी के हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त के प्रभाव की ओर संकेत करता है।

मायाशंकर का हृदय परिवर्तन

प्रेमाश्रम में आयी उक्त सभी घटनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रेमाश्रम में भारत के आधुनिक इतिहास की अभिव्यक्ति परोक्ष रूप में ही हुई है।

'रंगभूमि (1928) प्रेमचन्द की बृहद्तम कृति तो है ही साथ ही उनकी महत्व-पूर्ण कृतियों में गिनी जाने वाली भी है। किन्तु इसके रचना काल एवं प्रकाशन मे भी अन्तर दृष्टिगोचर होता है। विभिन्न आलोचकों ने रंगभूमि का रचनाकाल एवं प्रकाशन काल भिन्न-भिन्न बतलाया है। उदाहरण के तौर पर, हंसराज रहबर, जहाँ एक ओर इस उपन्यास का सन् 27-28 में लिखा जाना बतलाते हैं,[3] वहाँ डॉ० प्रतापनारायन टण्डन ने अपने शोध प्रबन्ध में उसका प्रकाशन काल सन् 1922 बतलाया है।[4] एक प्रतिष्ठित ख्यातिप्राप्त उपन्यासकार के उपन्यासों की रचना के काल में इतना अन्तर उत्पन्न करना सचमुच बडे दुख की बात है; फिर प्रेमचन्द तो इतने पुराने नही हो गए कि उनकी रचनाओं के काल निर्णय मे इतनी उलझन पैदा हो।

रंगभूमि : रचना काल

श्रीरामचरण महेन्द्र ने अपने एक लेख 'प्रेमचन्द और उनका नाट्य साहित्य' में प्रेमचन्द के नाटक 'कर्बला' का रचना या प्रकाशन काल 1924 दर्शाया है[5] और

1. 'प्रेमाश्रम : प्रेमचन्द (पृष्ठ 142) 2. वही : प्रेमचन्द (पृष्ठ 383)
3. प्रेमचन्द और गोर्की (रंगभूमि और मंगल सूत्र : हंसराज रहबर) : पृ० 332 (सम्पादित)
4. हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास : डॉ० प्रतापनारायण टण्डन पृ० 284 5. प्रेमचन्द और गोर्की (शचीरानी गुर्टू) : पृ० 249

चूँकि कर्बला की चर्चा प्रेमचन्द ने रंगभूमि में की है[1] अतः इससे यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि रगभूमि कर्बला (1924) के बाद ही लिखा गया और इस दृष्टि से डॉ० प्रतापनारायन टण्डन का यह कथन गलत सिद्ध हो जाता है कि रंगभूमि का प्रकाशन सन् 1922 में हुआ। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने भी अपने एक लेख 'स्वर्गीय प्रेमचन्द' मे रंगभूमि का लेखन कार्य 1924 में प्रेमचन्द द्वारा जारी रखना बतलाया है।[2] जो हो, यहाँ हमारा उद्देश्य उपन्यासों के रचना-प्रकाशन काल की प्रामाणिकता पर विचार करना नही है हमे तो रंगभूमि या किसी भी उपन्यास के रचनाकाल पर विचार करने का कारण उस रचनाकाल के प्रकाश में तत्कालीन इतिहास का अवलोकन करना है।

रंगभूमि का कथानक अपनी परिधि में सन् 1921-22 से लेकर 1928 तक की गतिविधियों को गूँथे हुए है। हम और भी स्पष्ट और खुलासा रूप में तो यहाँ तक कह सकते हैं कि रंगभूमि में प्रेमचन्द ने अधिकांशतः यथार्थ व्यक्तियो का नाम परिवर्तित कर तत्कालीन सत्य घटनाओ पर कल्पना का भीना आवरण डालकर उन्हें हमारे सम्मुख ला उपस्थित किया है। इस दृष्टि से रंगभूमि का कथानक, काव्य में 'अन्योक्ति' कहे जाने वाले अलंकार का स्मरण कराता है।

रंगभूमि : एक गद्यात्मक अन्योक्ति

अनेक आलोचक एक मत से यह स्वीकार कर चुके हैं कि रंगभूमि का सूरदास गाँधी जी का प्रतीक है।[3] सूरदास सही अर्थो में गाँधी के सिद्धान्तों और उनकी

1. "तीसरे पहर का समय था विनय और इन्द्रदत्त दोनों रुपये की चिन्ता मे मग्न बैठे हुए थे। सहसा सोफिया ने आकर कहा—"मै एक उपाय बता दूँ ?
   इन्द्रदत्त : 'भिक्षा माँगने चलें ?'
   सोफिया : 'क्यों न एक ड्रामा खेला जाय। ऐक्टर हैं ही, कुछ परदे बनवा लिए जाएँ, मैं भी परदे बनाने में मदद दूँगी।'
   विनय : 'सलाह तो अच्छी है लेकिन नायिका तुम्हें बनना पड़ेगा'
   सोफिया : 'नायिका का पार्ट इन्दुरानी खेलेंगी, मै परिचारिका का पार्ट-लूँगी'
   इन्द्रदत्त : 'अच्छा कौन-सा नाटक खेला जाय ? भट्ट जी का दुर्गावती नाटक ?'
   विनय : 'मुझे तो प्रसाद का अजात शत्रु बहुत पसन्द है,'
   सोफिया : मुझे 'कर्बला' बहुत पसन्द आया वीर और करुण दोनों ही रसों का अच्छा समावेश है। —रंगभूमि (1958) पृ० 647
2. प्रेमचन्द और गोर्की : शचीरानी गुर्टू (पृ० 42)
3. प्रेमचन्द जीवन, कला और कृतित्व : हंसराज रहबर पृ० 193 (दूसरा संस्करण)

नीति पर आचरण करता प्रतीत होता है। एक अन्य प्रमुख (नारी) पात्र सोफ़िया है, जिसके सम्बन्ध में स्वयं प्रेमचन्द ने 'जमाना' के सम्पादक दयानारायण निगम के नाम एक पत्र में यह मत व्यक्त किया है कि उसका चरित्र उन्होंने मिसेज एनी बेसेन्ट से लिया है।[1]

जहाँ एक ओर सूरदास और सोफिया मे से प्रथम को गाँधी का प्रतीक आलोचकों द्वारा मान लिया गया वहाँ द्वितीय पर स्वयं प्रेमचन्द ने ही एनी बेसेण्ट के चरित्र का आरोप किया जाना स्वीकार कर लिया है। किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य पात्रो के सम्बन्ध मे भी हम यह कहने में संकोच नही करेंगे कि प्रेमचन्द ने कुँवर भरत सिंह, विजय सिंह, इन्दु आदि के चरित्र निर्माण के उपादान भी मोतीलाल नेहरू, जवाहर लाल नेहरू जैसे कर्मठ व्यक्तियों के जीवन के प्रांगण से चुने हैं। सम्भव है पाठक हमारी इस धारणा से असहमति प्रकट करे इस आधार पर कि वे रंगभूमि के इस प्रमुख पात्रो में उक्त महामानवों के जीवन का यथार्थ, हू-बहू प्रतिबिम्ब न देख सके अथवा एक ही प्रसिद्ध व्यक्ति के चरित्र का आभास उपन्यास के एक से अधिक पात्रो में पा जायें अथवा उपन्यास के एक ही पात्र में दो प्रसिद्ध व्यक्तियों के चरित्र का आभास पाकर भी वे हमारी इस धारणा को निर्मूल सिद्ध करने का प्रयास करे। अतः इस सम्बन्ध में हमे यही कहना है कि वस्तुतः ऐसा होना असम्भव और अस्वाभाविक नही है।

उपन्यासकार की चरित्र निर्माण पद्धति

उपन्यासकार की पात्रों की चरित्र निर्माण पद्धति बहुधा उन स्थानों की-सी होती है जिन्हें हम निद्रावस्था में देखते है। हम बहुधा ऐसे स्वप्न देखते हैं कि हम परीक्षा हाल में बैठे है किन्तु उस परीक्षा हाल में उपस्थित 'इन-विजिलेटर' कोई स्कूल कालेज का अध्यापक न होकर मोहल्ले का व्यक्ति है और परीक्षाकक्ष किसी स्कूल कालेज की इमारत मे न होकर किसी अस्पताल में है, जिसमें कही हमारा परिचित डॉक्टर चिकित्सा करता दिखलाई पड़ता है······और उसके बाद हम ट्रेन में यात्रा कर रहे होते हैं······और फिर भारत की राजधानी मे पहुँचकर भी बंगलौर के लाल बाग का दृश्य देखते हैं।[2]

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार 'स्वप्न' का स्वरूप विभिन्न स्वतन्त्र घटनाओं और दृश्यो से युक्त होता है उसी प्रकार उपन्यासकार का पात्र अपने जीवन

---

1. प्रेमचन्द : जीवन, कला और कृतित्व : हंसराज रहबर (पृ० 193)
2. प्रेमचन्द : व्यक्तित्व और कृतित्व (शचीरानी गुर्टू) में शोधकर्ता का लेख रंग भूमि (त्रिकोणीय विवेचन देखिए) पृ० 351

व चरित्र में अनेक ओर से विविधताएँ जुटाता है। अतः यह आवश्यक नही कि प्रेमचन्द रंगभूमि की 'सोफिया की सृष्टि करते समय श्रीमती ऐनी बेसेन्ट के सम्पूर्ण चरित्र का ही उपयोग कर लेते अथवा सूरदास या विनय सिह की सृष्टि करते समय गाँधी अथवा नेहरू का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उन्हे प्रदान कर देते क्योकि उन्हे श्रीमती बेसेन्ट नेहरू या गाँधी की अवतारणा नही करनी थी उन्हें तो अपने पात्र का निर्माण करना था। वस्तुतः उन्होंने जितने अश का समावेश करना चाहा किया, शेष कथानक के अनुकूल उनकी कल्पना का परिणाम है। उपन्यासकार इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र होता है। वह अपनी आवश्यकतानुरूप उतना ही ग्रहण करता है जितना वह आवश्यक समझता है।

जिस प्रकार उपन्यासकार चरित्रों के निर्माण के उपादान कई तरफ से जुटाता है उसी प्रकार घटनाओ के स्वरूप का निर्माण भी वह कुछ इसी प्रकार करता है। वह घटनाओं को ज्यो का त्यों नही रखता उनमें अपनी कल्पना के बल पर आवश्यकतानुसार नवीन जोड़-तोड़ तथा आगा-पीछा भी कर लेने की स्वतन्त्रता बरतता है। इतिहास मे जो घटना पहले घटित हुई है उसका आभास हम किसी उपन्यास की कथा में पहले और पहले घटित घटना का आभास बाद मे, वह भी कुछ परिवर्तन के साथ, देख सकते है। ऐसे अनेक उदाहरण प्रेमचन्द के कथा साहित्य मे ढूंढ़े जा सकते हैं।

उपन्यासकार की घटना निर्माण एवं संचयन पद्धति

अब देखना यह है कि प्रेमचन्द के 'रंगभूमि' उपन्यास मे इतिहास के दर्शन किस सीमा तक और किस रूप मे होते है। यदि हम आज से लगभग 47 वर्ष पूर्व के इतिहास का सिंहावलोकन करें तो हमें ऐसी अनेक घटनाएँ देखने को मिलेंगी जिन्होने प्रेमचन्द के हृदय को प्रभावित किया और जिनकी अभिव्यक्ति उनके उपन्यासो में हुई। हाँ उनका परिवर्तित रूप में आना स्वाभाविक है। घटनाओं का ज्यों का त्यों चित्रण करना साहित्यकार का कर्म नही इतिहासकार का कर्म है और इतिहास मे वे घटनाएँ उपलब्ध हो ही जाती है। किन्तु प्रेमचन्द साहित्यकार थे और साहित्यकार उन घटनाओं का उपयोग केवल साधन के रूप में करता है क्योंकि उसका साध्य तो साहित्य के प्रयोजन की सिद्धि करना होता है।

सन् 1919 के प्रारम्भ में पंजाब के 'जलियाँवाला बाग' की दर्दनाक घटना घटित हुई, 1920 में 'असहयोग' और खिलाफत आन्दोलन का दौर दौरा रहा जिसका वेग 1921 में और भी तीव्र हो गया। 'विदेशी वस्त्र के बहिष्कार' का दौर चला। सन् 1921 के अन्त में 'असहयोग' के ही कारण युवराज का बहिष्कार

सन् 1919 से 1928 तक की प्रमुख ऐतिहासिक घटनाएँ

हुआ तथा 1921 की अहमदाबाद कांग्रेस मे स्वयसेवक बनने पर जोर दिया गया। सत्याग्रह समिति ने 'कौंसिल प्रवेश' स्कूल कालेज अदालतों तथा अग्रेंजी माल के 'बहिष्कार' की सिफारिश की। अदालतो का बहिष्कार कर पचायतें स्थापित करने की सिफारिश की। इधर सन् 1923 मे हजारों की संख्या मे स्वयसेवको की भरती हुई। इन्ही स्वयंसेवको ने नागपुर मे झण्डा सत्याग्रह किया। सन् 1924 के सितम्वर मास में अनेक स्थानों पर साम्प्रदायिक दंगे हुए जिनमे कोहाट का दंगा सबसे अधिक भयकर था। 1926 के मध्य मे सम्पूर्ण देण में साम्प्रदायिक दंगो ने भीषण रूप धारण कर लिया जिसका प्रभाव 1927 तक बना रहा। फरवरी 1928 मे 'साइमन कमीशन का बहिष्कार' किया गया जिसमें भाग लेने वाली भारतीय जनता को अकारण पीटा गया। इसी प्रकार की घटनाएँ इस आठ-नौ वर्ष के काल में देखने को मिलती है।

प्रेमचन्द का ऐसी घटनाओं से प्रभावित होना स्वाभाविक था। उन पर ऐसी घटनाओं की प्रतिक्रिया बड़ी तीव्र होती थी। इसी प्रतिक्रिया के कारण उन्होने नौकरी से इस्तीफा दे दिया था। अतः ऐसी ही प्रतिक्रिया उनके साहित्य मे भी होनी अनिवार्य थी और हुई भी। किन्तु सम्भवतः प्रेमचन्द यह नही चाहते थे कि घटनाओं का यथार्थ के आवरण में ऐसा उत्तेजक रूप प्रस्तुत किया जाए कि अंग्रेज अधिकारियों के मन में उनकी कृतियो को जब्त कर लेने का विचार उत्पन्न हो। क्योंकि ऐसा होने से उनके लिए, देश के प्रति अपने कर्तव्य निर्वाह मे बाधा उपस्थित होती। पाठक उस सबसे वंचित रह जाता जो प्रेमचन्द उसे देना चाहते। प्रेमचन्द की 'सोरो वतन' पुस्तक जव्त भी की गयी थी यह आरोप लगाकर कि उसमे राजद्रोह भरा हुआ है।[1] इसी से रंगभूमि में उपलब्ध होने वाला इतिहास, जैसा कि ऊपर कहा गया है, 'अन्योक्ति' के रूप मे प्रस्तुत किया गया है।

रंगभूमि में सूरदास, नायक राम व पाण्डेपुर के अन्य नागरिक, जो अन्त तक अपनी जमीन और मकान न छोड़ने के लिए विद्रोह करते है और गैर भारतीय अंग्रेजी सरकार का विरोध करते है। इससे पीछे समस्त भारतीयो की, अंग्रेजों के विरुद्ध जिन्होने भारत भूमि पर कब्जा कर लिया है विद्रोह एवं विरोध की भावना ध्वनित होती है।[2] सूरदास तो स्पस्ट शब्दो में कह देता है कि '……हम जो सत्तर पीढ़ियाँ

1. देखिये रामेश्वरप्रसाद मेहरोत्रा द्वारा अनूदित वेसक्रवनी का लेख (प्रेमचन्द और गोर्की, पृष्ठ 81 संस्करण 1955)
2. नायकराम—तो इधर भी यही तय है कि जमीन पर किसी का कब्जा न होने देंगे, चाहे जान रहे या जाय, इसके लिए मरमिटेंगे…… रंगभूमि : पृ० 93

से यहाँ आजाद है, निकाल दिये जायें और दूसरे यहाँ आकर बस जायें। यह हमारा घर हैं, किसी के कहने मे नही छोड सकते।[1] .....सम्भवतः सूरदास के ऐसे व्यक्तित्व को देखकर हरिभाऊ उपाध्याय रगभूमि की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि '.... .. रगभूमि का सूरदास मेरे हृदय मे बैठ गया था। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह हिन्दुस्तान के स्वराज्य की कुन्जी लेकर आया हो।[2]

जो हो भारत के आधुनिक इतिहास पर दृष्टिपात करने से पूर्व हम रंगभूमि के कथानक में समाये उन तत्वों को देखते है जिन्होंने उसे सुसंगठित रूप प्रदान किया हैं। रंगभूमि के अध्ययन से विदित होता है कि उसमे प्रेमचन्द ने जहाँ एक ओर सोफिया और विनय के प्रणय में बाधक साम्प्रदायिकता का उद्घाटन किया है अनुचित कर भार, बेकारी, अदालतो के थोथे न्याय, अंग्रेज अधिकारियो की कामुकवृत्ति पर आघात किया है वहाँ दूसरी ओर तत्कालीन समाज में विद्यमान तीन वर्गो, देशप्रेमी (जो सरकार की निगाह में देश द्रोही है) राजभक्त एवं सरकारी अधिकारी वर्ग का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। देशप्रेमी वर्ग में भी कुछ ऐसे है जो क्रान्ति पूर्ण विचारों के हैं तो कुछ शान्ति और अहिंसा के समर्थक। देश प्रेमियो के बीच स्वयं-सेवक वर्ग में एक ऐसा वर्ग है जो शनैः शनैः विकास के पथ पर दृढ़ से दृढ़तर होता हुआ, समाज सेवा से राजनीति की ओर बढता हुआ दिखलाई पड़ता है।

यदि हम भारतीय इतिहास का सिहावलोकन करें तो ज्ञात होगा कि रंगभूमि के कथानक का निर्माण करने वाली उपर्युक्त उल्लिखित घटनाओं का उद्गम भी इतिहास की उन्ही घटनाओं से है।

रंगभूमि में साम्प्रदायिकता का चित्रण

जैसा कि ऊपर कहा गया है, तत्कालीन भारत में साम्प्रदायिक भेदभाव जोरो पर था, जिसके कारण दंगा-फिसाद भी होते थे। प्रेमचन्द को साम्प्रदायिक भेद-भाव गवारा न था, वे उसका निराकरण चाहते थे। रंगभूमि में एक ओर सोफिया और विनय के प्रणय में साम्प्रदायिकता के दुष्परिणाम के रूप में उनका दुखद अन्त दिखलाया है[3] तो दूसरी ओर प्रभु सेवक (ईसाई) तथा कुँवरसाहब (हिन्दू) के मुख से इस साम्प्रदायिक संकीर्णता के प्रति विरोध प्रकट करवाया है। बल्कि कहना चाहिए

1. रंगभूमि : पृ० 664
2. प्रेमचन्द चितन और कला : इन्द्रनाथ मदान : पृ० 43
3. सोफिया..... ईसा और कृष्ण में कितनी समानता है पर उनके अनुचरों मे कितनी विभिन्नता ? कैसा अनर्थ है। कौन कह सकता है कि साम्प्रदायिक भेदों ने हमारी आत्माओं पर कितना अत्याचार किया है।......'
(रंगभूमि : पृ० 148)

क वे एक दूसरे के धर्म से सामंजस्य स्थापित करते दिखलाए गए है। प्रभू सेवक भारतीयता के निर्वाह में ही अपनी मुक्ति खोजता है।[1] तो कुँवर भरतसिंह भी धार्मिक संकीर्णता को त्यागते दीख पडते है; यदि विनय सोफिया के प्रणय बन्धन मे बँधता है तो उन्हें कोई आपत्ति नही है।[2] वस्तुत: प्रेमचन्द ने कहना यही चाहा है कि प्रत्येक भारतवासी को फिर चाहे वह मुसलमान हो अथवा ईसाई उसे 'भारतीय' होने की बात सोचनी चाहिए तथा साम्प्रदायिकता के सकीर्ण घेरे से बाहर निकलना चाहिए।

'रंगभूमि' में यदि पात्रों की प्रवृत्ति का अध्ययन करे तो विदित होगा कि उसमे तीन भिन्न प्रवृत्ति के पात्र क्रियाशील है—प्रथम तो वे जो भारतीय है, देश प्रेमी हैं और विदेशी अग्रेजो सरकार तथा उसके समर्थक राजभक्त लोगो से जिनका संघर्ष है ; दूसरा वर्ग उन पात्रों का है जो या तो व्यक्तिगत स्वार्थ की खातिर अथवा सरकार को प्रसन्न रखने की दृष्टि से तथा कुछ अज्ञात कारणों से सरकार के समर्थक, प्रशसक व उपासक है, जिनमें अवसर पड़ने पर प्रथम वर्ग को देश द्रोही कहकर सताने की सामर्थ्य तो है किन्तु सरकार के विरुद्ध बोलने का साहस नही है। तीसरा वर्ग सरकारी वर्ग है जो द्वितीय वर्ग की सहायता से, प्रथम वर्ग को कुचलने, दबाने पर तुला हुआ है।

रंगभूमि में देश-भक्त, राजभक्त एवं देशद्रोही वर्ग की भूमिका

प्रथम वर्ग में पाण्डेपुर के कुछ निवासी हैं जिनका प्रतिनिधित्व अन्धा सूरदास करता है—जो जाति से और व्यवसाय से निम्न कहा जाने वाला होते हुए भी अपने कर्त्तव्य से महान है—जिसे हिन्दू राज परिवार के विनयसिह तथा ईसाई परिवार (राज भक्त) के प्रभु सेवक व सोफिया का समर्थन प्राप्त है।

राजभक्त वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वालों में जान सेवक है जो स्वार्थसिद्धि के लिए अंग्रेजों से मैत्री करके अपनी राजभक्ति का सिक्का जमाने की बात सोचता है।[3]

1. रंगभूमि : पृ० 310
2. कुँवर भरतसिह '······वह धर्म केवल जत्थे बन्दी है जहाँ अपनी बिरादरी से बाहर विवाह करना वर्जित है।······धर्म और ज्ञान एक है और इस दृष्टि से संसार मे केवल एक धर्म है। ···और विनय इतना भाग्यवान हो कि सोफिया को विवाह सूत्र मे बाँध सके तो कम से कम मुझे जरा भी आपत्ति न होगी। (रंगभूमि : पृ० 538)
3. जान सेवक...अंग्रेज इस समय भारतवासियो की संयुक्त शक्ति से चिन्तित हो रहे हैं हम अंग्रेजों से मैत्री करके उन पर अपनी राजभक्ति का सिक्का जमा सकते है मनमाने स्वत्व प्राप्त कर सकते हैं।...हिन्दुस्तानियों में मिलकर हम गुम हो जायेंगे, खो जायेंगे उनसे पृथक रहकर विशेष अधिकार और विशेष सम्मान प्राप्त कर सकते है। (रंगभूमि : पृ० 211)

जिसमें उन्हे अपनी पत्नी (मि० सेवक) से पूर्ण सहयोग प्राप्त होता है। इधर राजा महेन्द्र भी इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं,[1] किन्तु आगे चलकर राजभक्ति मे उनका विश्वास डगमगाने लगता है। राजा कुँवर भरतसिह को कोई अज्ञात शक्ति सेवाकार्य से विमुक्त कर देती है उन्होने सेवा समिति का सगठन किया किन्तु अन्त में उनका निराशा-वाद उन्हें पतन की ओर ले जाता है। जान्हवी और इन्दु के जीवन मे मोड़ आता है और वे 'देशभक्त' वाले वर्ग का प्रतिनिधित्व ग्रहण करती हैं। डॉ० गांगुली की राज-भक्ति में आस्था है किन्तु उनकी यह आस्था सात्विक है जो आगे चलकर स्वयं उन्हें निस्सार प्रतीत होती है।[2]

सरकार की दृष्टि मे देशद्रोही समझी जाने वाली जनता और स्वयं सरकार के बीच संघर्ष स्वाभाविक है। कुँवर साहब और डॉ० गंगूली के प्रयत्नों से स्थापित सेवा समिति एक स्वयसेवक दल का रूप धारण करती है जिसमें वालंटियर्स स्वेच्छा से भरती होते है। इनगें से कुछ वालटियर्स तो हजारों की आय पर लात मार कर सेवा करने की भावना से भरती हुए हैं। इस स्वयंसेवक दल का सचालन देश प्रेमी वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले विनय, गांगुली व प्रभु सेवक है। यह सचालन इन्द्र दत्त द्वारा भी होता है जो कि क्रान्तिपूर्ण विचारों का युवक है। अन्त में इसका संचालन रानी जाह्नवी तथा इन्दु द्वारा होता है। प्रभु सेवक स्वयं दल को सामाजिक क्षेत्र से राजनैतिक क्षेत्र तक ला पहुँचाता है[3] इस सीमा तक, कि अधिकारी वर्ग उसे सन्देह की दृष्टि से देखने लगता है।

प्रेमचन्द ने तत्कालीन परिस्थितियो और वातावरण को दृष्टिगत करते हुए इस बात को समझा कि वास्तव मे अदालतो में न्याय करने की सामर्थ्य नही है, ये मानव जाति के लिए, अभिशाप हैं उनसे कही अधिक न्यायशीलता तो पंचायतों मे मिलती हैं। रंगभूमि का एक पात्र इन्द्रदत्त खुले आम 'अदालत बेईमान है' का नारा

---

1. राजा महेन्द्र के प्रति : रंगभूमि पृ० 241
2. डॉ० गांगुली...आज मेरे दिल से यह विश्वास उठ गया जो गत चालीस वर्षों जमा हुआ था कि गवर्नमेन्ट हमारे ऊपर न्याय बल से शासन करना चाहती है।...आज जो तक कोई मुझे देशी बातें कहता था मै उससे लड़ने पर तत्पर हो जाता था। मैं रिपन, ह्यूम और बेसेन्ट आदि की कीर्ति का उल्लेख करके उसे निरूत्तर करने की चेष्टा करता था पर अब विदित हो गया कि उद्देश्य सबका एक ही है केवल साधनों का अन्तर है।" (रगभूमि पृ० 773)
3. रंगभूमि : पृ० 595

लगाता है। सूरदास भी पंचों के फैसले को ही मान्यता देता है।[1] कौन्सिल की चर्चा भी प्रेमचन्द ने बड़ी ही खूबी से की है।[2]

रंगभूमि मे, साम्प्रदायिकता अथवा धार्मिक मतभेद की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। अहमदाबाद (1921) में, जैसा कि प्रारम्भ में ऐतिहासिक घटनाओं पर विचार करते समय कहा गया है, स्वयंसेवक बनने के लिए लोगो को प्रोत्साहन दिया गया था उनसे प्रतिज्ञाएँ करायी गयी थी। सन् 1923 के जनवरी मास में तो पचास हजार स्वयसेवक भरती करने का निश्चय भी किया गया था।[3] उसी के आधार पर प्रेमचन्द ने रगभूमि में सेवा समिति की अवतारणा की है जिस पर आगे चलकर राजनैतिक रंग चढ़ा दिया गया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, रंगभूमि मे पात्रों के तीन वर्ग परिलक्षित होते है—देशभक्त, राजभक्त तथा सरकारी अधिकारी वर्ग। प्रथम वर्ग का सरकारी वर्ग तथा उसके हितैषियों से संघर्ष चलता है, जिसकी धुरी है अन्धा सूरदास जिसमें नैतिक एवं आत्मिक बल कूट कूटकर भरा है। वह जान दे सकता है परन्तु अपनी जमीन नही दे सकता, झोपड़ी खाली नही कर सकता। वह राज सेवी जानसेवक, राजा महेन्द्र आदि से टक्कर लेता है तो केवल अहिसा और नैतिक बल पर ही। उसके हाथ में और कोई बल नही तो मर जाने का बल तो है।[4] पाण्डेपुर के और भी नागरिक इसी प्रकार सरकार के विरोधी है किन्तु एक ओर उनमे जहाँ सूरदास के-से गुणो का अभाव है वहाँ दूसरी ओर उनमें पारस्परिक फूट, अज्ञान और स्वार्थ का प्राधान्य है। राजभक्त वर्ग के राजभक्त भी दो प्रकार के हैं—एक तो वे जिनमें तामसी-वृत्ति घर किये हुए है[5] जैसे राजा महेन्द्र व जानसेवक। ये अपने व्यक्तिगत लाभ की मंजिल तक पहुँचने अथवा उसे सुरक्षित रखने हेतु सरकार के हिमायती तथा जनता के विरोधी हैं। दूसरे वर्ग में गंगुली जैसे व्यक्ति हैं जिनकी राजभक्ति सात्विक भाव से पूर्ण है, वे मात्र इस ख्याल से कि अपनी इस नीति से वे जनता का अधिक मंगल कर सकते है,[6] सरकार के प्रति श्रद्धापूर्ण रवैया अपनाते है, किन्तु अन्त में उनकी सरकार के प्रति आस्था डिग जाती है।

---

1. कुछ दूर चलकर सूरदास जमीन पर बैठ गया और बोला—"मै पंचों का हुकुम सुनकर तभी आगे जाऊँगा—" (रंगभूमि : पृ० 957)
2. रंगभूमि : पृ० 509
3. कांग्रेस का इतिहास : पृ० 135
4. रंगभूमि : पृ० 664
5. वही : पृ० 211
6. वही : पृ० 773

तीसरा वर्ग विदेशी सरकारी अधिकारियो का है जिसका प्रतिनिधित्व जिलाधीश विलियम क्लार्क तथा पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट मिस्टर ब्राउन करते है। क्लार्क जानसेवक की पुत्री सोफिया पर आसक्त है किन्तु सोफिया उसे उल्लू बनाती है। क्लार्क उसके संकेत पर चलता है यहाँ तक कि उसे प्रसन्न रखने के लिए ही नीति में भी उलट-फेर कर देता है। उसका सोफिया के प्रति प्रेम प्रधान है, सरकार की सेवा गौण। क्लार्क कर्तव्य की अवहेलना कर सकता है पर सोफिया को नही छोड़ सकता।[1] उपन्यास मे ब्राउन को निर्दयी अधिकारी के रूप मे चित्रित किया गया है।[2]

उपर्युक्त घटनाओं के अतिरिक्त रंगभूमि मे गाँधीजी के सिद्धान्तों के परमभक्त सूरदास की अहिंसा तथा सिपाहियो द्वारा जन समूह पर गोली चलाने से इन्कार करने की घटनाओं पर इतिहास की छाप है। इतिहास में ऐसी ही एक घटना घटित हो चुकी थी। सीमा प्रान्त में गढ़वाली सिपाहियों ने, जिन्हें निहत्थी जनता पर गोली चलाने का आदेश किया गया था, गोली चलाने से इन्कार कर दिया था।[3] यही नहीं, यदि हम गौरपूर्वक देखे तो स्पष्ट विदित होगा कि रंगभूमि की उपर्युक्त सभी घटनाएँ ऐसी है जिनमे भारत का इतिहास सुरक्षित है।

प्रेमचन्द के जीवन और साहित्य सम्बन्धी पुस्तको से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रेमचन्द्र गाँधी जी से पर्याप्त रूप से प्रभावित हुए थे। अत: गाँधी जी तथा उनके द्वारा संचालित काग्रेस की गतिविधियों एव मिद्धान्तों के प्रति भी उनका अपना दृष्टि-कोण था। अपने रंगभूमि उपन्यास में प्रेमचन्द ने सूरदास के व्यक्तित्व को महान और प्रभावशाली बनाया है, गाँधी की अहिंसारूपी ढाल हाथ मे देकर जिस पर प्रतिद्वन्दी की प्रत्येक चोट असफल हुई है और सूरदास अटल अडिग मैदान में डटा हुआ है। तत्कालीन गतिविधियों के आधार गाँधी जी के अहिंसा और असहयोग थे जिन्होंने इतिहास को नवीन रूप प्रदान किया। प्रेमचन्द का सूरदास भी गाँधी जी का अनुसरण करता है, उसकी अहिसा में पूरी आस्था है। गाँधी जी अपनी योजना के विपरीत कार्य होते देख 'आमरण' अनशन करने पर उतारू हो जाते थे तो सूरदास भला क्यों न यह रुख अपनाए? उसमें मारने का बल नही किन्तु मर जाने का बल तो है। वह लोगों को जानसेवक के गोदाम पर जब हिंसात्मक भावों के उन्माद में लाठियाँ लिए देखता है तो पत्थर से सर टकरा कर जान देने पर उतारू हो जाता है, क्योकि वह प्रतिद्वन्दी का अहित इसलिए नही करना चाहता कि वह स्वय उसका शिकार हुआ है। वह आतंक

---

1. रगभूमि : पृ० 409
2. वही : पृ० 632-633
3. कांग्रेस का इतिहास : पृ० 206

वादियो को यह सलाह देता है कि वे परमात्मा से दुआ करे कि वे उसका कष्ट हरे और उन लोगों के हृदय में दया धरम उपजे जिन्होने उस पर जुलुम किया है ।[1]

रंगभूमि में स्वयं सेवक दल की प्रतिष्ठा भी 1921 की अहमदाबाद कांग्रेस अधिवेशन की प्रतिक्रिया है जिसको प्रेमचन्द ने पूरे उपन्यास मे आदि से अन्त तक बनाये रखा है । जैसा कि ऊपर कहा गया है देशभक्त, राजभक्त और सरकारी अधिकारी वर्ग भी प्रेमचन्द ने तत्कालीन इतिहास से ही रंगभूमि के कथानक के लिए चुने है । इसी प्रकार सूरदास द्वारा पचो का निर्णय सुने वगैर न जाना तथा इन्द्रदत्त द्वारा अदालत को बेईमान कहलवा कर प्रेमचन्द ने असहयोग के कार्यक्रम मे अदालतो के बहिष्कार का समर्थन किया है । सन् 1921 से 23 तक असहयोग आन्दोलन की गति तीव्र थी और सत्याग्रह समिति ने स्पष्ट तौर पर पचायतो के स्थापन मे लोकमत जागृत करने की बात कही थी । यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है और वह यह कि प्रेमचन्द कभी गाधी जी से एक कदम आगे चलते हुए दिखलायी पड़ते है । गाँधी जी जिस कदम को उठाने की बात सोचते है प्रेमचन्द उसी कदम को उठा चुके होते है । सन् 1919 में गुजरानवाला और कसूर क्षेत्र में होने वाली हिसात्मक कार्यवाहियों ने सत्याग्रह आन्दोलन को दूषित कर दिया था । उसी की ओर गाधी जी ने अपने मार्च 1920 के घोषणा पत्र में संकेत किया और हिंसात्मक कार्यवाहियो को बुरा बतलाया तथा असहयोग का मंत्र फूँका । उस समय उन्होने कहा था कि असहयोग के अन्तर्गत 'सैनिकों से सेना में काम करने से इन्कार करने के लिए कहने का समय अभी नही आया है । यह उपाय अन्तिम है पहला नही ।[2]' गांधी जी के इस कथन को प्रेमचन्द ने रंगभूमि में कार्य रूप में ला रखा । पुलिस अधिकारी ब्राउन के फायरिंग की आज्ञा देने पर भी सिपाही जन-समूह पर गोली चलाने से इन्कार कर देते है । उनका सरकारी अधिकारी के प्रति असहयोग देखते ही वनता है ।[3]

रंगभूमि में स्वयं-सेवक दल की अवतारणा

---

1. रंगभूमि : पृ० 664 2. कांग्रेस का इतिहास : (संक्षिप्त) पृ० 106
3. '.......सुपरिन्टेन्डेन्ट ने दाँत पीसकर चौथी बार फायर करने का हुक्म दिया लेकिन यह क्या ? कोई सिपाही बन्दूक नही चलाता, हवलदार ने वन्दूक जमीन पर पटक दी सिपाहियों ने भी उसके साथ ही अपनी बन्दूकें रख दी
ब्राउन—कोर्ट मार्शल होगा ।
हवलदार –हो जाय ।
ब्राउन—नमक हराम लोग
हवलदार—अपने भाइयों का गला काटने के लिए नही, उनकी रक्षा करने के लिए नौकरी की थी (रंगभूमि : पृ० 683).

रंगभूमि में प्रेमचन्द ने उपर्युक्त ऐतिहासिक घटनाएँ बड़े ही सजीव और सुन्दर ढंग से सजोयी है। पाण्डेपुर की बस्ती के यथार्थ चित्रण द्वारा उन्होंने तत्कालीन अशिक्षित और पिछडे लोगों की दशा पर प्रकाश डाला है जो देश की उन्नति मे कई प्रकार से बाधक सिद्ध होते हैं। उनकी, पारस्परिक फूट, स्वार्थ परायणता, रूढिप्रियता ऐसे दोष हैं जो उनको प्रतिद्वन्द्वी की तुलना में क्षीण कर देते है। उनमे स्वयं सोचने विचारने की शक्ति नही है, वे सूरदास के 'जीवन' को जानते हुए भी उसके साथ दगा करते है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, साहित्यकार स्वतन्त्र होता है। लोग कहते हैं कि 'कवि निरंकुश' होता है किन्तु मेरे विचार में कथाकार भी कम निरंकुश नही होता; अधिक नही तो इतना स्वतन्त्र तो वह अवश्य ही होता है कि पहले घटित घटना को वह अपनी बाद की कृति मे स्थान दे दे और बाद में घटित घटना को पहली कृति में। वह उनमे जोड़-तोड करके कल्पना के सहारे उनका रूप परिवर्तित कर सकता है। प्रायः कथाकार ऐसा करते हैं। प्रेमचन्द ने भी इस स्वतन्त्रता का उपयोग किया है। उनकी रचनाओं के क्रम मे घटनाओ का क्रम विश्रृंखलित हुआ है।

रंगभूमि के पश्चात प्रेमचन्द ने 'कायाकल्प' 'प्रतिज्ञा' 'गबन' जैसे उपन्यासों की रचना की। यो इन उपन्यासो में भी इतिहास की झलक मिल सकती है। गबन में विदेशी कपड़ों की दूकान पर पिकेटिंग करते लोगो का दृश्य देखने को मिलता है किन्तु अध्ययन क्षेत्र की निर्धारित नीति की दृष्टि से, इन उपन्यासों को छोड़ कर हम 'कर्म भूमि' पर आते हैं जिसकी रचना प्रेमचन्द ने 'गबन' के पश्चात की।

कर्मभूमि (1932) के माध्यम से भी प्रेमचन्द ने भारत के आधुनिक इतिहास को प्रस्तुत किया है। अहिंसा पर आधारित तत्कालीन सत्याग्रह आन्दोलन इस उपन्यास की आत्मा है। अमरकान्त, समरकान्त, सलीम, शान्ति कुमार, सुखदा मैना, रेणुका देवी ऐसे पात्र है जिनके द्वारा कथानक का निर्माण हुआ है, घटनाचक्र को गति प्राप्त हुई है। प्रस्तुत उपन्यास देश मे व्याप्त आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक असन्तोष की झाँकी प्रस्तुत करता है। आर्थिक मन्दी के कारण उत्पन्न कृषकों की लगान की समस्या, समाज में व्याप्त छुआछूत एवं निम्न जीवन स्तर वाले लोगों की आवास-समस्या से जूझते हुए ये पात्र संघर्ष को राजनैतिक स्तर तक ले आते हैं। यह संघर्ष अहिंसा के सहारे अग्रसर होता है।

कर्मभूमि का आधार : सत्याग्रह आन्दोलन

उपन्यास का नायक अमरकान्त सम्पन्न परिवार का है किन्तु पिता के अनीति से कमाये धन से उसे घृणा है, अतः शिक्षा के लिए ऐंसे धन का उपयोग न करके वह अपना विद्यार्थी जीवन समाप्त कर देता है। वह कांग्रेस कमेटी का मेम्बर है और चरखे

पर दो घन्टे नित्य सूत कातने तथा खद्दर बेचने का कार्य करता है।[1] अमरकान्त की इच्छा के विरुद्ध न केवल अमरकान्त बल्कि उसकी पत्नी सुखदा भी आन्दोलन मे भाग लेती है तथा सचालन का भार भी अपने ऊपर ले लेती है।

यहाँ हमारे सम्मुख एक प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रेमचन्द ने अमरकान्त के विद्यार्थी जीवन का अन्त क्यो कर दिया। दूसरे उसे सूत कातने और खद्दर बेचने का कार्य ही क्यों सौपा—उसकी पत्नी की भी श्वसुर की इच्छा के विरुद्ध पृथक होकर अछूतोद्धार हेतु आन्दोलनो मे भाग लेने तथा उनका नेतृत्व करने की ओर क्यो प्रवृत किया ?

प्रेमचन्द द्वारा उक्त पात्रो को कर्म-विशेष की ओर प्रवृत करने का कारण तत्कालीन परिस्थितियाँ है। असहयोग और वहिष्कार का दौर दौरा 1921 से ही प्रारम्भ हो चुका था। सन 1921 के प्रारम्भ में देशबन्धुदास की अपील पर हजारों विद्यार्थियों ने अपने कालेजों और परीक्षाओं को ठोकर मार दी थी[2] अनेक स्त्रियाँ एवं विद्यार्थी अपने माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध घर छोड़कर असहयोग के पावन कार्यक्रम मे सम्मिलित होकर योग दे रहे थे। उसी के प्रकाश में प्रेमचन्द ने उक्त पात्रों को चर्खा चलाने, खादी बेचने आदि के कर्म विशेष में प्रवृत करके भारतीयो के उत्साह एवं प्रवृति का चित्रण किया है। अमरकान्त की पत्नी सुखदा का पति की इच्छा के विरुद्ध सामाजिक और राष्ट्रीय कार्यक्रम में भाग लेना नारी वर्ग मे चेतना के उदय का परिणाम है।

उपन्यास में असहयोग आन्दोलन का चित्रण

अपने उपन्यासो में प्रेमचन्द ने लगान की समस्या को भी अनेक स्थलो पर उठाया है। कर्मभूमि मे भी लगान की समस्या विद्यमान है। यों लगान की समस्या पहले से ही मुँह बाये खडी थी किन्तु सन् 1929 की आर्थिक मन्दी ने किसानों की स्थिति और भी शोचनीय कर दी थी। कर्मभूमि का एक पात्र अमरकान्त को सम्बोधित कर कहता है, 'खेती के झंझट मे न पड़ना भैया, चाहे खेत मे कुछ हो या न हो, लगान जरूर दो कभी ओला-पाला कभी सूखा बूड़ा एक न एक बला सिर पर सवार रहती है। उस पर कही बैल मर गया या खलिहान मे आग लग गयी तो सब कुछ स्वाहा।[3] ये तो दैवी प्रकोप की सम्भावनाएँ है। इसके अतिरिक्त किसान को सरकार का प्रकोप भाजन भी बनना पड़ता है क्योकि उसके साथ, दैवी प्रकोप का शिकार होने पर भी रियायत नही होती। इतना ही नही,

लगान की समस्या

1. कर्मभूमि : प्रेमचन्द (पृष्ठ 12, 26; संस्करण 1964)
2. कांग्रेस का इतिहास : (संक्षिप्त) पृष्ठ 117
3. कर्मभूमि : पृष्ठ 150

9

यदि आर्थिक-मन्दी का प्रादुर्भाव हो गया तब तो किसान बेचारा बेमौत मरा समझो क्योंकि एक तो लगान से ऐसी हालत में भी मुक्ति नही दूसरे उसमें सरकार के शुभ-चिन्तक, जमीदारों और कारकुनों का हाथ रहता था जो किसानों पर जुल्म और अत्या-चार करते थे।

कर्मभूमि मे, इलाके के जमीदार महन्त जी है जो धर्म की आड मे स्वय चैन की बन्सी बजा रहे है, और किसानो को लगान के भार से मारे डाल रहे है। जब चाहे बेदखल करें, किसी को बोलने का साहस नही। अक्सर खेती का लगान इतना बढ़ जाता है कि सारी उपज लगान के बराबर भी नहीं पहुंचती।[1] यहाँ तक कि तिनका-तिनका भूसा बेच डालने पर भी लगान केवल एक चौथाई चुक पाता है[2] किन्तु ठाकुर द्वारे के महन्त जी के यहाँ आनन्द उत्सव मनाये जाते है।

ऊपर उल्लिखित बाते हमें प्रेमचन्द के कर्मभूमि उपन्यास से उपलब्ध हुई हैं। इन परिस्थितियो का चित्रण कल्पित नही है। वह आज से 35-36 वर्ष पूर्व के इतिहास पर आधारित है जिसे प्रेमचन्द ने कर्मभूमि मे अभिव्यक्ति प्रदान की है।

आर्थिक मन्दी का किसानों पर प्रभाव

इतिहास साक्षी है कि किसानो की दशा सचमुच शोचनीय थी, वे लगान के भार से दबे हुए थे। सन् 1928 में आर्थिक मन्दी देश मे व्याप्त थी जिसका प्रभाव न केवल भारतवर्ष मे अपितु सम्पूर्ण विश्व मे छाया हुआ था। जिन्सो के भाव इतने गिर गए थे कि किसान की आय लगान की तुलना मे 'शून्य' हो गयी थी किन्तु सरकार की ज्यादतियाँ ज्यों की त्यो थी बल्कि उसके अत्याचार और बढ़ते जाते थे। यह अत्याचार उन सरकारी अफसरों द्वारा और बढ़ाया जाता था जो अपना काम केवल अपने अफसरो की आज्ञा का पालन करना मानते है। फिर चाहे प्रजा को कष्ट होता हो तो हो।[3] सलीम जैसे अफसर इक्के दुक्के ही होते है जो सुबह के भूले शाम को घर लौट आते हैं। सरकार की बला से, किसान खाईं में गिरें तो गिरें उसे तो अपने लगान से मतलब। इसी से नया सरकारी अफसर घोष किसानों के मवेशियों को कुर्क करने तक पर अमादा हो जाता है[4] और परिणाम होता है सलीम और घोष के पक्षों में झगड़ा जिसमें कई लोग मारे जाते हैं।

---

1. कर्मभूमि : पृष्ठ 286-287 2. कर्मभूमि : पृष्ठ 287
3. '……दोनों अफसरों में बहस होने लगी। गजनवी कहता था हमारा काम अफसरो की आज्ञा मानना है। उन्होंने लगान वसूल करने की आज्ञा दी, हमें लगान वसूल करना चाहिए प्रजा को कष्ट होता है तो हो।—कर्मभूमि पृष्ठ360
4. कर्मभूमि : पृष्ठ 362

उपर्युक्त घटना आज से 38 वर्ष पूर्व के इतिहास पटल पर देखी जा नकती है। 1928 मे वारडोली नामक तहसील मे किसानो पर 25 प्रतिशत मालगुजारी की की वृद्धि हुई थी जिसके प्राप्त न होने पर सरकार ने जानवरों को कुर्क करना प्रारम्भ कर दिया था।[1]

उपन्यास में बारडोली की ऐतिहासिक घटना

प्रेमचन्द ने घटना मे तनिक परिवर्तन किया है उन्होने मवेशियों के कुर्क होते समय सरकारी अफसर मिस्टर घोष तथा सलीम व अन्य ग्रामीणो मे संघर्ष दिखलाया है जब कि इतिहास के अनुसार मवेशियो की कुर्की के समय कोई सघर्ष नही हुआ, संघर्ष दिखलाने की बात प्रेमचन्द के मन मे स्वराजियों की इन्क्लावी प्रवृति के कारण उत्पन्न हुई। वे सम्भवत. यह समझने लगे थे कि बिना इन्क्लाब के, और कोई रास्ता नही है।

अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन को भी कर्मभूमि मे सशक्त रूप में उभारा गया है। यो तो जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि भारतीय इतिहास, स्वाधीनता की लड़ाई का इतिहास है तथापि अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन का अपना महत्व है। जिस प्रकार फूल-पौधो की सुरक्षा हेतु आस-पास उगी हुई घास उखाड फेंकी जाती है उसी प्रकार स्वाधीनता की प्राप्ति एवं सुरक्षा के लिए यह आवश्यक था कि अस्पृश्यता रूपी महा रोग का, जो कि भारतीय समाज की जड़े, खोखली किए देता था, समूल नाश किया जाये। यद्यपि अस्पृश्यता निवारण की बात कांग्रेस प्रारम्भ मे ही कहती आयी है, 1921 की अहमदाबाद कांग्रेस तथा 1926 की कानपुर काग्रेस मे साम्प्रदायिकता, अस्पृश्यता आदि सम्बन्धी बाते कही गयी किन्तु 1928 की कलकत्ता कांग्रेस में नशीली चीजो के व्यवहार, सामाजिक कुरीतियों व अस्पृश्यता के विरुद्ध जोरदार आवाज उठायी गयी और तभी से कांग्रेस की कार्य-समिति ने उप-समितियाँ बनाकर अपनी 'कथनी' को करनी का रूप देना प्रारम्भ कर दिया।

कर्मभूमि और अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन

एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य है। अस्पृश्यता या छुआछूत की भावना कई रूप में प्रकट हो सकती है, उदाहरणार्थ स्कूलो में विद्यार्थियों द्वारा अछूत बालकों के साथ बैठने के विरोध द्वारा, पंगत में अछूतो के साथ न बैठने का भाव दिखलाकार तथा अन्य ढंगों से भी किन्तु प्रेमचन्द ने कर्मभूमि में अस्पृश्यता को लेकर होने वाले संघर्ष को 'कथा' से प्रारम्भ करके मन्दिर में अस्पृश्यता के प्रवेश निषेध द्वारा ही दिखलाया है[2] और अस्पृश्यता के समर्थकों की पराजय तथा विरोधियों की विजय दिखलाई है।

---

1. कांग्रेस का इतिहास (संक्षिप्त) पृ० 169-170
2. कर्मभूमि : (संस्करण : 1954) पृ० 199

धर्म के ठेकेदारो को यह गवारा नही कि अछूत उनके मन्दिरो मे प्रवेश करे इसी से संघर्ष तक की नौबत आती है। युवक शान्तिकुमार अछूत कहे जाने वालों को साथ लेकर मन्दिर-प्रवेश के लिए जाता है किन्तु लाला अमरकान्त के साथ ब्रह्मचारी जी और अन्य पण्ड पुजारी लोगो को लाठियो से खदेड़ने लगते है शान्ति कुमार बेहोश हो जाता हैं, यहाँ तक कि फायरिग होता है कई लोग मारे जाते हैं। अमरकान्त के पुत्र अमरकान्त की पत्नी सुखदा अछूतो का नेतृत्व करती है और अन्त मे धर्म के ठेकेदार लाला समरकान्त घोपणा करते है, "मन्दिर खुल गया है। जिसका जी चाहे दर्शन करने जा सकता है किसी के लिए रोक टोक नही।[1]" प्रेमचन्द ने अस्पृश्यता की समस्या को, अछूतो मन्दिर-प्रवेश-निषेध द्वारा ही प्रस्तुत करना क्यो पसन्द किया इसका कारण भी इतिहास से सम्बद्ध है। कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन के बाद उप-समितियो के द्वारा समाज सुधार का कार्य हाथ मे लिया गया था। जिसके अन्तर्गत अस्पृश्यता निवारण का कार्य सेठ जमनालाल बजाज के हाथ मे था जिन मन्दिरो मे अछूतों, दलितो के लिए प्रवेश वर्जित था उन मन्दिरो के द्वार भी अछूतो, दलितो के लिए खोल दिये गये थे।[2] अतः प्रेमचन्द ने भी अस्पृश्यता का वहिष्कार अछूतो का मन्दिर मे प्रवेश कराकर किया है। सयोगवश ही सही, (सेठ जमनालाल बजाज का प्रतिनिधित्व भी अन्त मे प्रेमचन्द से सेठ समरकान्त द्वारा ही कराना उचित समझा है।

जहाँ तक अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन का प्रश्न है उसके लिए यह कहा जा सकता है कि उसके माध्यम से उपन्यास के कथानक को गति मिली है, किन्तु हम

मादक द्रव्यों का बहिष्कार

देखते है कि, यत्र-तत्र प्रेमचन्द के इसी उपन्यास मे कुछ ऐसी बातों की चर्चा भी की है जिनका कम से कम हमारे विचार में तो कथानक के रूप को संवारने में भी कोई हाथ नही है निर्माण करना तो दूर रहा। उदाहरण के तौर पर उन्होने शहर में सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक सार्वजनिक संस्थाओ के होने की बात कही है जिसमे मादक वस्तु वहिष्कार सभा का नामोल्लेख किया है।[3] मुझे विश्वास है कि पाठक भी इस बात से असहमति प्रकट नही करेगे कि यदि इन संस्थाओ, विशेषकर मादक वस्तु वहिष्कार सभा आदि की चर्चा प्रेमचन्द्र न भी करते तो उपन्यास का कुछ बनना बिगडना न था उसके कथानक की रोचकता, गठन आदि पर लेशमात्र भी प्रभाव न पड़ता। तब इस मादक वस्तु वहिष्कार सभा की चर्चा प्रेमचन्द्र ने क्यो की। सुखदा

1. कर्मभूमि : पृष्ठ 211
2. कांग्रेस का इतिहास : पट्टामि सीतारामय्या (पृष्ठ 175)
3. कर्मभूमि : पृष्ठ 214

को उसकी सफलता के लिए कार्य करने की ओर प्रवृत्त क्यो किया ? यह देखने की बात है।

कलकत्ता कांग्रेस के पश्चात् कांग्रेस की समिति द्वारा समाज सुधार कार्यो को करने हेतु कुछ उपसमितियों के गठन की चर्चा ऊपर की गयी है। इन्ही समाज सुधारों मे मादक वस्तुओ के बहिष्कार की योजना को भी क्रियान्वित करने की बात तय हुई थी, यो तो इसके लिए भी पहले से प्रयत्न हो रहे थे किन्तु 1928 के पश्चात् तो मादक द्रव्य-निषेध समिति बनायी गयी जिसका सचालन चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य द्वारा हुआ था। यहाँ तक कि उन्होने मादक-द्रव्य निषेध सम्बन्धी एक पत्र 'प्राहिविशन' भी निकाला।[1] चूँकि कर्मभूमि मे प्रेमचन्द तत्कालीन इतिहास को अभिव्यक्त करना चाहते थे अत उन घटनाओं का आ जाना फिर चाहे छोटी हो या बड़ी, स्वाभाविक था।

सादगी प्रेमचन्द की एक अपनी व्यक्तिगत विशेषता थी। वे उन्ही उपकरणो तक सीमित रहना उचित किन्तु आवश्यक भी समझते थे जो जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए अनिवार्य हैं। जैस रोटी, कपड़ा और रहने के लिए

भोजन, वस्त्र और मकान। आवश्यकताओ को जहाँ एक और वे अनिवार्य मानते है

आवास की समस्या वहाँ उनकी पूर्ति के पश्चात् सन्तुष्ट भी रहते है। उन्होने अधिकांश कृतियों मे, खाद्य की समस्या कृषक की दुर्दशा के चित्रण द्वारा अभिव्यक्त की है तो वस्त्र की समस्या के प्रश्न को 'स्वदेशी' का हामी बनकर खादी के समर्थन द्वारा छेड़ा है। उपन्यास में नायक अमरकान्त चर्खे पर सूत कातता दिखलाया गया है। निर्धनों एवं मजदूरों के रहने के लिए मकानों की समस्या को भी उन्होने बड़े ही सुन्दर एवं सशक्त रूप में उभारा है। प्रेमचन्द ने मकानों की समस्या को अनेक स्थलो पर भिन्न-भिन्न कृतियों में स्थान दिया है। 'रंगभूमि' में पाण्डेपुर के निवासियों से मकान खाली करा लिए जाते है तो उनके लिए रहने की समस्या खड़ी हो जाती है। 'रगभूमि' उपन्यास में म्यूनिसपेलिटी के अधिकारियों के सामने पाण्डेपुर के लोगों की एक नहीं चलती किन्तु कर्मभूमि मे सामाजिको के त्याग एव एकता के सम्मुख म्युनिसिपल अधिकारियो को मुँह की खानी पडती है। एक नारी (नैना) के बलिदान के साथ सामाजिको का जलूस विजयी होता है। निर्धनों और मजदूरो की मकानों की समस्या की छुटपुट चर्चा लेखक ने अपने उपन्यास 'गोदान' मे भी की है जिसका उल्लेख आगे किया जाएगा।

यद्यपि निर्धनो, मजदूरो आदि का जीवन आमतौर पर लेखको का विषय रहता है किन्तु प्रेमचन्द का ध्यान इस ओर आकर्षित होने का कारण तत्कालीन वातावरण मे

1. कांग्रेस का इतिहास : पृष्ठ 175

उत्पन्न गतिविधियाँ थी। सन् 1929-30 मे अनेक समाज सुधार सम्बन्धी कार्य, उपसमितियाँ बनाकर किए जा रहे थे, जैसे अस्पृश्यता-निवारण मादक-द्रव्यो के निषेध के प्रयत्न आदि। उसी समय म्युनिसपेलिटियाँ कुएँ खुदवाने के कार्य मे सहयोग दे रही रही थी।[1] यही नही सरकार भी इस समस्या के प्रति उदासीन न थी सन् 1929 मे उसने एक शाही कमीशन की नियुक्ति की, जिसने अपनी रिपोर्ट में अन्य बातो के साथ-साथ मकानो के सम्बन्ध मे भी चर्चा यह कहकर की थी कि 'रहने के मकानो की भी मजदूरो के लिए बड़ी समस्या है। एक मजदूर परिवार के पास कठिनता से एक कोठरी होती है।[2] और फिर खेद की बात तो यह है कि ये कोठरियाँ भी, सफाई की ठेकेदार 'नगरपालिका की उपेक्षा की शिकार रहती है। निर्धन मजदूर दुर्गंध पूर्ण गन्दे बिलो मे रहें, तब भला अपने को 'मजदूर' कहने वाला लेखक उनकी पैरवी क्यों न करता।

कांग्रेस की समिति द्वारा निर्मित उपसमितियाँ कुछ इस प्रकार के कार्य कर रही थी जिनका सम्बन्ध राष्ट्र के उद्धार से परोक्ष रूप में था जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है। इस सबके अतिरिक्त कुछ सामान्य बातें प्रेमचन्द की अधिकांश रचनाओ मे मिलती है, जिनको तत्कालीन इतिहास के आचल से ग्रहण किया गया है। हिन्दू पात्रो के साथ मुस्लिम पात्रो (सलीम सकीना आदि) की अवतारणा और उनका परस्पर समन्वयवादी दृष्टिकोण, अहिसात्मक रवैया तथा पुलिस आदि के हृदय-परिवर्तन के प्रयास कुछ ऐसी ही सामान्य बाते है। रंगभूमि मे इन्द्रदत्त पुलिस के सिपाहियो को मोड़ने का प्रयास करता है तो कर्मभूमि में डॉ० शान्तिकुमार इस कार्य को करते है।[3] सुखदा और नैना का गृहस्थ्य जीवन से विमुख होकर आन्दोलनो मे भाग लेना और नेतृत्व करना भी तत्कालीन इतिहास का प्रभाव है। गाधी जी की पुकार पर अनेक स्त्री-पुरुष मैदान मे उतर आए थे। स्त्रियो का सहयोग तो अत्यन्त ही सराहनीय था।

गोदान में प्रेमचन्द की बदलती हुई विचारधारा

गोदान (1936) मे प्रेमचन्द की विचार-सरिता अपना 'पाट' बदलती हुई दृष्टिगोचर होती है। 'प्रेमाश्रम', 'रगभूमि' और 'कर्मभूमि' मे विचारो की यह धारा गांधीवाद का स्पर्श करती हुयी विभिन्न आन्दोलनो आदि से प्रभावित होती हुई आगे बढती है, किन्तु 'गोदान' में इसके विपरीत हमे न तो अहिंसा और सत्याग्रह का आग्रह परिलक्षित होता है और न किसी और ही प्रकार के असहयोग आदि आन्दोलन की चर्चा

1. काग्रेस का इतिहास (पृष्ठ 175)
2. हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और समीक्षा : डॉ० मक्खनलाल शर्मा पृष्ठ 284, संस्करण 1966
3. कर्मभूमि : पृष्ठ 381

मिलती है। इसका प्रधान कारण तो यही है कि योगदान के रचनाकाल में इस प्रकार के आन्दोलन प्राय: निर्जीव हो गए थे। फिर चाहे यह कांग्रेस की नीति परिवर्तन का ही परिणाम क्यों न रहा हो; दूसरे स्वयं प्रेमचन्द की आस्था भी मानो इस ओर से डिग चुकी थी। उनकी विचारधारा उस ओर से विरक्त होकर कोई नया मार्ग खोज रही थी, जिसे अन्तत· तत्कालीन वातावरण मे ही अनुकूल दिशा मिल गयी और उसका प्रवाह एक नवीन मोड लेकर आगे बढ चला।

गोदान की कथावस्तु के आंचल में छिपा इतिहास स्वभाव में सामाजिक एवं आर्थिक कहा जा सकता है, उसका स्वरूप रंगभूमि और कर्मभूमि में उपलब्ध इतिहास से भिन्न है। प्रेमचन्द ने 'गोदान' की कथा का निर्माण जिन शहरों व ग्रामीण जीवन की घटनाओ एव पात्रों से किया है उनके माध्यम से तत्कालीन इतिहास बोलता है किन्तु उसका स्वरूप उतना स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष नही है। जितना रंगभूमि एवं कर्मभूमि आदि उपन्यासो मे है।

एक ओर होरी और धनिया की कथा दूसरी ओर मेहता मालती एवं राय साहब आदि की कथा क्रमश: देश की ग्रामीण एवं नागरिक सभ्यता का इतिहास प्रस्तुत करती है। तत्कालीन विषम परिस्थितियो मे जीने वाला कृषक-प्रतिनिधि होरी एक तो अपनी अशिक्षा और रूढ़िग्रस्त अन्धविश्वासी स्वभाव के कारण जर्जर हो चला था दूसरे सरकार और जमीदार के कारिन्दे लगान वसूल करके तथा महाजन मूलधन से कई गुना ब्याज लेकर उसका जिन्दा रहना दूभर किए देते थे। वास्तव मे तो होरी कृषक कभी रहा ही नही। उपन्यास में उसका जीवन खेतिहर मजदूर का जीवन है। दूसरों के लिए मजदूर के रूप मे ही खेती उसने की तत्कालीन परिस्थितियों में जीने वाला किसान कहे कि दूध, घी अजन लगाने तक को तो मिलता नही, पाठे होंगे।[1] तो पाठक सोच सकता है कि सचमुच इससे बढकर किसान के जीवन का जर्जर रूप और क्या होगा ?

आज से बत्तीस साल पूर्व का किसान ऋण की समस्या से जूझ रहा था, उसकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। सरकार का इस ओर ध्यान न था, देशी महाजनो का एकाधिकार था। वे चाहते तो ऋण देते न चाहते न देते। देते भी तो दी जाने वाली रकम का एक बड़ा हिस्सा पहले ही काट लेते।[2] मूल धन से कई गुना ब्याज लेकर भी 'मूलधन' ज्यों का त्यों बना रहता[3] फिर किसान पनपे तो पनपे कैसे ? उसका तो

किसानों के ऋण की समस्या

1. गोदान : पृष्ठ 6 (संस्करण 1960)
2. गोदान : पृष्ठ 102, 216-17
3. वही (35)

जीवन ही जैसे ऋण ले लेकर जीने के लिए बना था उसकी निराशा इस सीमा तक बढ़ चुकी थी कि उसके लिए सौ और पचास में कोई अन्तर न था वह मृत समान था तब उसे मन भर लकड़ी से (50 रु० ऋण) जलाओ चाहे दस मन (500 रु० ऋण) लकड़ी से।[1] सच तो यह है कि क्या तो महाजन और क्या जमींदार व उसके कारिन्दे सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे थे, वे जाने अनजाने में एक दूसरे की समृद्धि के पूरक थे। जमींदार का कारकुन किसान को तब तक खेत में हल नहीं जोतने देता जब तक बकाया लगान न चुक जाता।[2] फलतः असहाय, विपत्ति का मारा किसान ऋण प्राप्ति की बात सोचता और महाजन रूपी पिशाचों की चढ़ बनती। फसल तैयार होने पर महाजन और कारिन्दे झपट लेते और यह शोषण चक्र यों ही चलता रहता है। गाँवों का जीवन ऐसे आर्थिक संकट से सन्तप्त था बिरले ही ऐसे किसान थे जिन पर बेदखली या कुड़की न आयी हो। गाँवों की तबाही उनकी अपनी समाज व्यवस्था अन्ध-विश्वास रूढ़ि ग्रस्तता, अशिक्षा के कारण थी जिसने उनको इस दशा में ला पटका था। ऐसी शोचनीय दशा में भी उदर पूर्ति की परवाह न कर जुआ खेलना, ताड़ी पीना भी इस ग्रामीण समाज का अभिशाप था।[3] घोर स्वार्थ और पारस्परिक ईर्ष्या द्वेष की आग एक दूसरे को क्षीण किए देती थी। गोबर का विधवा झुनियां को ले आना जैसे समाज के आदर्श के विरुद्ध लड़ाई का अल्टीमेटम था। समाज उसे सहन नहीं कर सकता होरी पर उसी का समाज इसलिए दण्ड लगाता है कि वह अपनी बहू को अपने घर से नहीं निकालता। इधर शोषक तो आला दर्जे के थे ही किन्तु शोषित भी जैसे शोषण करवाने में अपना सानी नहीं रखते थे पुलिस का दरोगा महाजनों पर घात लगाता और महाजन किसान पर शोषण चक्र चलाता। विश्राम बिन्दु तो कृषक ही था।

इधर शहरी जीवन भी कम अस्त-व्यस्त नहीं था। वहाँ, अशान्ति, असन्तोष स्वार्थ, छल कपट आदि मानवीय दोषों का साम्राज्य था अन्तर इतना ही था कि गाँवों में, 'साधुता' कपट द्वारा छली जाती थी और शहरों में 'सेर' 'सवा सेर' द्वारा छला जाता था। जमींदार रायसाहब, मिल मालिक खन्ना, सम्पादक ओंकारनाथ वकील तंखा सब एक दूसरे पर घात लगाये रहते हैं। सम्पादक स्वदेशी की आड़ में 'विदेशी' के प्रचारक बनें, पूँजीपति खन्ना खद्दर पहन कर विलायती शराब पीयें तब भला देश का उत्थान क्यों कर हो। जमींदारों को अपने ही स्वार्थों की पूर्ति से फुर्सत नहीं थी। अफसरों को दावतें देना हुक्कामों को डालियाँ देना उनका स्वभाव बन गया

1. वही (113)
2. वही (101)
3. गोदान : पृष्ठ (104)

था फिर चाहे गरीब का खून ही क्यो न हो ।[1] अशिक्षित मजदूरों से हड़ताल करा कर तमाशा देखना इन लोगों को खूब आता है ।

मजदूर वर्ग में उभरती हुई चेतना

सन् 1930 मे सरकार का दमन चक्र भी चल रहा था तो हिंसात्मक घटनाएँ भी यत्र-यत्र हो रही थी और साथ ही समझौते के प्रयत्न भी चल रहे थे । बहिष्कार की नीति भी अपने उसी रूप मे जारी थी । कुछ इस प्रकार के वातावरण मे, मार्च 1931 के प्रथम सप्ताह मे ही मोतीलाल नेहरू की मृत्यु के साथ ही मानो गाधी इर्विन समझौता हुआ किन्तु यह किन्तु यह भी शीघ्र ही प्रभावहीन हो गया । कांग्रेस की महासमिति द्वारा प्रस्तावो में जो सशोधन किया गया उससे इस बात का आभास मिलता है कि मजदूर वर्ग के स्वार्थों की रक्षा, उनके लिए पर्याप्त मजदूरी, स्वास्थ्य प्रद परिस्थिति तथा मालिको से उनके झगड़ों पर विशेष ध्यान दिया गया था । साथ ही जमीन की मालगुजारी और लगान वसूल करने के तरीको मे सुधार पर भी जोर दिया गया था । इधर किसानो को ऋण से मुक्ति दिलाने तथा निर्दयतापूर्ण तरीके से ऊंची दर पर लिए जाने वाले ब्याज पर नियन्त्रण लगाने हेतु प्रस्ताव भी प्रकाश मे आया था ।[2] किन्तु नए वाइसराय के आने पर समझौते का पालन नही हुआ बल्कि उल्टे किसानो पर दमन और अत्याचारो का जोर बना रहा ।

उत्तर प्रदेश मे तो अधिकांशत: किसानो की विपत्ति तालुकेदारो तथा जमीदारों के दबाव से बढ़ी हुई थी, लगान उसी बेरहमी से वसूल किया जाता था ।

अछूत समस्या

एक अन्य महत्वपूर्ण समस्या जो वातावरण मे व्याप्त थी वह थी अछूतों को सदा के लिए एक पृथक जाति के रूप मे वर्गीकृत कर देने की जिसका विरोध गांधी जी ने इन शब्दों में किया '······इसका अर्थ यह हुआ कि अस्पृश्यता का कलक निरन्तर रहेगा । हम नही चाहते कि अस्पृश्यों का एक पृथक जाति के रूप मे वर्गीकरण किया जाय । सिक्ख सदैव के लिए सिक्ख, मुसलमान हमेशा के लिए मुसलमान और ईसाई हमेशा के लिए ईसाई रह सकते है लेकिन क्या अछूत भी सदा के लिए अछूत रहेगे ? अस्पृश्यत जीवित रहे, इसकी अपेक्षा मैं यह अधिक अच्छा समझूँगा कि हिन्दू धर्म ही डूब जाय ।[3]······दरअसल सरकार की नीयत थी कि दलित जातियो के पृथक निर्वाचन का नया जाल फैलाया

---

1. गोदान : पृष्ठ 172 (संस्करण 1950)
2. कांग्रेस का इतिहास : पृ० 230
3. कांग्रेस का इतिहास : पृ० 243

जाय, किन्तु इसका तीव्र विरोध हुआ। अस्पृश्यो पर से अस्पृश्यता के बन्धन हटाये जाने लगे। उन्हे मन्दिरो मे प्रवेश मिलने लगा। सितम्बर 1932 मे अस्पृश्यता निवारण का प्रस्ताव भी पास हुआ।

जैसा कि ऊपर कहा गया, भारतीय समाज मे अछूतो की समस्या जटिल रूप मे व्याप्त थी। उस पर भी उपन्यास मे सिलिया और मातादीन की कथा के माध्यम से अच्छा प्रकाश डाला गया है। जिसके पास ऊँची जाति का प्रमाण पत्र था वह ऊँचा ही या फिर चाहे उसके कर्म, क्रिया कलाप अछूतों से भी बदतर क्यों न हों और अछूत थे तो अछूत ही। ब्राह्मण मातादीन और चमारिन सिलिया का सम्वन्ध उच्च और निम्न वर्गो के मिटते हुए अन्तर की ओर सकेत है।

इधर स्त्रियो मे चेतना व्याप्त हो चली थी इसका प्रमाण भी गोदान की 'सरोज' और मालती है। नारी वर्ग क्लबों का निर्माण कर कितना जागरूक हो चला था इस बात पर प्रकाश पडता है उस 'जनाना क्लब, से जिसमें मीनाक्षी जाती थी। सरोज और मिस सुल्ताना जैसी नारियाँ स्त्रियो को वोट के अधिकार के प्रति सजग बनाए देती थी। पुरानी मर्यादाओं को तोड़कर नई शिक्षा पाने की ओर स्त्रियो का ध्यान आर्कषित हो चला था।

कुल मिलाकर गोदान में विभिन्न घटनाओ के रूप मे उपलब्ध होने वाला इतिहास तत्कालीन परिस्थितियों का आग्रह है। गोदान की रचना के समय देश के वातावरण में वह सव कुछ व्याप्त था जो उसकी कथावस्तु मे समाया हुआ है।

चूँकि काग्रेस का उद्देश्य आजादी की उपलब्धि मात्र नही था उसका उद्देश्य एक नयी सामाजिक व्यवस्था कायम करना भी था अत: देश के आर्थिक एव सामाजिक स्वरूप में अभूतपूर्व परिवर्तन की आवश्यकता भी अनुभव की जा रही थी। नव युवक हिंसा के माध्यम से सफलता का स्वप्न देख रहा था। लोग समाजवाद की दुहाई देने लगे थे। नारी वर्ग मे भी अधिकाधिक जागृति और चेतना व्याप्त हो रही थी। यही कारण है कि गोदान का 'गोबर' क्रान्तिकारी गर्म खून वाले युवकों का प्रतिनिधित्व करता है धनिया जागृति और चेतना से प्रभावित है नारी का प्रतिनिधित्व करती है। होरी की पराजय और असहाय अवस्था भारत के शुभचिन्तको की ढहती हुई उदार-मनोवृत्ति की ओर संकेत करती है। विदेशी सरकार की प्रशसा करने, उससे दबकर चलने व उदारता बरतने के दिन बीत गए थे हिंसात्मक एवं क्रान्तिपूर्ण रवैये का जोर था। इतिहास की इन्हीं मिली-जुली गतिविधियों का धुँधला और परोक्ष प्रतिबिम्ब हमे गोदान के कथा पटल पर चित्रित हुआ दिखलाई पडता है।

टेढ़े मेढ़े रास्ते : भगवतीचरण वर्मा (1940)

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासो मे चित्रलेखा, टेढ़े मेढे रास्ते, आखिरीदॉव, भूले बिसरे चित्र तथा सामर्थ्य और सीमा का महत्पूर्ण स्थान है। 'टेढे मेढ़े रास्ते' (1940) का प्रमुख आधार सत्याग्रह आन्दोलन हैं। किन्तु जैसा कि उपन्यास के नाम से आभास मिलता है, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रवाहित होने वाली विचारधाराओं से युक्त उपन्यास मे आए व्यक्तियो का जीवन-पथ सीधा न होकर टेढ़ा-मेढ़ा है। किसी भी पारिवारिक, सामाजिक या राष्ट्रीय इकाई मे सम्मलित व्यक्तियो की विचारधारा समान नही है। उस इकाई का एक व्यक्ति एक दिशा मे प्रवाहित होता दिखलाई पडता है तो दूसरा दूसरी दिशा मे और तीसरा तीसरी दिशा मे। अवध के ताल्लुकेदार पण्डित रामनाथ तिवारी और उनके तीन पुत्रो के माध्यम से उपन्यास मे इस स्थिति को चित्रित किया गया हैं। किन्तु इस सब के पीछे उपन्यासकार का ध्येय तत्कालीन ऐतिहासिक गतिविधियो का चित्रण करना रहा है।

पण्डित रामनाथ तिवारी उस जमीदार वर्ग का प्रतिनिधित्व करते है जो विदेशी हुकूमत के हाथ की कठपुतली बनकर अपने ही देशवासियो पर अत्याचार करते है। उनके तीन पुत्र दयानाथ, उमानाथ और प्रभानाथ क्रमश. काग्रेसी, समाजवादी और आतंकवादी विचारधारा के समर्थक हैं; चारो प्राणी अपने जीवन में अलग-अलग विरोधी मार्गो पर चलते हुए दिखलायी पड़ते हैं।

यदि हम भारत की स्वाधीनता का इतिहास उठाकर देखे तो पता चलेगा कि विदेशी सत्ताधारियो ने भारत मे अपनी जड़े जमाये रखने के लिए जमीदारो, ताल्लुकेदारो को अपने खेमे में शामिल कर लिया था, उन्हे अमानवीय अधिकार दे दे कर, नृशंसतापूर्ण कार्य करने आदरणीय लोगो को भूखो मारने, और कगाल बनाने मे उनका बहुत बडा हाथ रहा था।[1] ऐसे लोगो को पदवियाँ दे देकर प्रोत्साहित किया गया था। इस सम्बन्ध मे लार्ड केनिग नामक अंग्रेस का कथन द्रष्टव्य है······'यदि हम राजनैतिक अधिकारो से रहित देशी रियासतो को हथियार के रूप मे बनाए रखे तो भारत मे हमारा साम्राज्य नौशक्ति कायम होने तक बना रह सकेगा ······'[2]

अपने इस उद्दश्य मे अग्रेजो को पूरी सफलता मिली। उन्होने देशी रियासतो को अपनी नीति के फन्दे मे फास ही लिया था। ये जमीदार और ताल्लुकेदार झूठा सम्मान और झूठा गौरव पाने के लिए लालायत रहते थे फिर चाहे उसे प्राप्त करने के

---

1. टेढ़े मेढ़े रास्ते : भगवतीचरण वर्मा : पृ० 43-46 (पाँचवाँ सस्करण)
2. इन्डिया टुडे : आर० पी० दत्त (पृ० 359)

लिए उन्हे अपने देशवासियो से लेकर परिवार के प्राणियो तक का हनन ही क्यों न करना पडा । पं० रामनाथ तिवारी ऐसे ही जमीदार है जो अपनी प्रतिष्ठा और गौरव, पद और वैभव की सुरक्षा के लिए अपने से विरोधी लीक पर चलने वाले अपने पुत्रों से भी सम्बन्ध विच्छेद कर लेते है ।

'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में असहयोग आन्दोलन का स्वरूप

भारत की स्वाधीनता का इतिहास साक्षी है कि असहयोग और सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेने वालो मे 'वकीलों' की पर्याप्त सख्या थी । गांधी और मोती-लाल नेहरू स्वय अपने समय के प्रतिष्ठित वकील थे । सन् 1920 में जब असहयोग आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ तो कांग्रेस ने सलाह दी कि वकीलों तथा मुवक्किलों द्वारा ब्रिटिश अदालतों का धीरे-धीरे बहिष्कार किया जाये ।[1] उपन्यासकार ने पं० रामनाथ तिवारी के सबसे बड़े पुत्र दयानन्द को प्रारम्भ एक वकील के रूप में चित्रित किया और उस पर इसी की प्रतिक्रिया दिखलाई है । यह भी वकालत छोडकर कांग्रेस के कार्यक्रम में भाग लेने लगता है । (उपन्यास का कथानक सन् 1930 से प्रारम्भ हुआ है किन्तु यह आवश्यक नही है कि दयानन्द पर असहयोग की प्रतिक्रिया की 1930 की घटनाओ से ही दिखलाई जाती) दयानन्द के निवास स्थान पर मीटिंग होती है कांग्रेस के कार्यकर्त्ता अपना कार्यक्रम निर्धारित करते हैं । उन दिनों भारतीय जनता मे एक विचित्र चेतना उत्पन्न हो गयी थी ; जुलूस निकलते थे तिरंगे झण्डे लिए निशस्त्र भारतीय उसमें शामिल होते थे ।[2] आन्दोलन को एक निश्चित कार्यक्रम के अनुरूप चलाने की योजनाएँ बनती थी । यह तय कर लिया जाता था कि अमुक के गिरफ्तार होते ही अमुक व्यक्ति आन्दोलन का सचालन करेगा । अहिंसा की इस लड़ाई में मुकदमेबाजी का प्रश्न ही नही था । सरकार सजा देने पर उतारू रहती थी और आन्दोलन में भाग लेने वालों को अपना बचाव करने के लिए पैरवी की आवश्यकता नही थी । सत्याग्रह और अहिंसा की लडाई अपने ढंग की थी । सामान्यत: लडाइयाँ लडी जाती हैं मारने के लिए हत्या करने के लिए किन्तु अहिसा की लडाई लडने वाले लड़ते थे मरने के लिए कष्ट उठाने के लिए ।[3]

अहिंसात्मक आन्दोलन का संचालन गांधी जी कर रहे थे और इस सम्बन्ध में प्रारम्भ में यही निर्देश था कि सत्याग्रह आन्दोलन में जेल जाने वालों की पैरवी नही करनी चाहिए और इसलिए सत्याग्रही पैरवी करते भी नही थे यों ही जेल चले जाते

---

1. कांग्रेस का इतिहास : डॉ० प० सीतारमैया : पृ० 111
2. टेढ़े-मेढ़े रास्ते : पृ० 47-48, 108-109
3. टेढे-मेढे रास्ते : पृ० 136

हैं ।[1] मार्कण्डेय का यह कथन कि" 'हमारे पास ऐसा अस्त्र है जिस साम्राज्यवाद की बड़ी से बड़ी हिंसा भी नही काट सकती,[2] गांधी जी के कथन का ही परिवर्तित रूप हैं। गाधीजी ने कहा था" कोई व्यक्ति या कोई राष्ट्र हिंसा के त्याग द्वारा जो शक्ति उत्पन्न कर सकता है उसका मुकाबिला कोई नही कर सकता ।[3] कांग्रेस के जुलूस समय-समय पर निकलते थे, लाठी चार्ज होता था स्त्रियाँ जुलूस में होती थी और उन्हें भी डण्डो से पीटा जाता था । असहयोग आन्दोलन के दौरान यह एक आम बात हो गयी थी । लेकिन अहिसा के पुजारी गांधी ने असहयोग का ऐसा मन्त्र फूँका था कि स्त्री, पुरुष, बूढे-जवान, एव विद्यार्थी स्कूल छोड़कर, नौकरियाँ छोड कर आन्दोलन मे भाग लेते थे। यह सब भी गांधीजी के निर्देशानुसार हुआ था। उपन्यास मे कौशल्या गर्ल्स स्कूल की हेडमिस्ट्रेस सावित्री गर्ग का इस्तीफा देकर कांग्रेस के जुलूस मे शामिल होना इसी की प्रतिक्रिया के स्वरूप है।

विलायती कपड़ो की दुकानो पर धरना देने की चर्चा उपन्यास मे हुई है। पिकेटिंग या धरना भी गांधी जी के अहिंसात्मक वस्त्रो मे से एक था। विलायती कपड़े की दूकानों पर, शराब तथा अन्य नशीली वस्तुओं की दूकानो पर धरना देने का कार्यक्रम सविनय अवज्ञा आन्दोलन के साथ-साथ चलता रहा ।[4] 'धरना' या पिकेटिंग की जो परिभाषा दयानाथ बतलाता है उसके अनुसार, 'धरना' का मतलब दूकानदार को माल न बेचने देना नही है, खरीददार से माल न खरीदने का आग्रह है। 'पिकेटिंग करते समय समझाया दुकानदार को भी जाता है किन्तु उसके न मानने पर पिकेटिंगकर्ता ग्राहक को समझाते हैं। उपन्यास मे शराब की दूकान पर पिकेटिंग की चर्चा भी गाधी जी के उक्त कार्यक्रम की प्रतिक्रिया के रूप मे सामने आती है। यह तो बात हुई विदेशी सत्ता को उखाड़ने की। ये उपाय गांधी जी ने विदेशी सत्ता के विरुद्ध काम में लिए। किन्तु एक बात जो गांधी जी मे पायी जाती थी वह थी आमरण अनशन की। इस आमरण अनशन का प्रयोग बहुधा वे देश मे ही, देशवासियों की स्वयं को नागवार गुजरने वाली कार्यवाहियो के विरुद्ध करते थे। गाधी जी के इस प्रयोग को उपन्यास का एक पात्र रामेश्वर भी अपनाता दृष्टिगोचर होता है किन्तु दोनों के प्रयोग में बुनियादी अन्तर है। गांधी जहाँ इस प्रयोग को साम्प्रदायिकता की आग बुझाने, खिचाव-तनाव को मिटाने के लिए करते थे वहाँ रामेश्वर अपनी मानहानि के कारण रामसिंह मैनेजर से बदला लेने के लिए प्रयुक्त करता है फिर चाहे खून खराबी ही क्यों न हो। यहाँ आम-

टेढ़े मेढ़े रास्ते में पिकेटिंग

---

1. वही : पृ० 272
2. कांग्रेस का इतिहास : पृ० 105
3. टेढ़े-मेढे रास्ते : पृ० 136
4. कांग्रेस का इतिहास : पृष्ठ 211

रण अनशन के अस्त्र का दुरुपयोग किया गया है। कांग्रेस की ऐतिहासिक गतिविधियो का विवेचन उपन्यासकार अपनी सामर्थ्य के अनुसार करता चला है।

उपन्यास के अन्तिम चरण मे गाधी इर्विन पैक्ट की चर्चा हुई है। यह समझौता 5 मार्च 1931 को हुआ था जिसमे अनेक विषयो पर समझौता हुआ; हालाकि आगे चलकर इसकी शर्तो का ब्रिटिश सरकार ने उलंघन किया।

उपन्यास में गांधी इर्विन समझौते का उल्लेख

ऐतिहासिक गतिविधियो के निर्माण मे काग्रेस ने जो भूमिका निभायी है ऊपर उस पर विचार किया गया। विदेशीसत्ता के विरुद्ध स्वाधीनता संग्राम में भाग लेने वालों में केवल काग्रेस ही नही थी, और भी वर्ग एवं पार्टियाँ थी जो केवल अपने ही तरीके को सही मानती थी। समाजवादी कार्यकर्ता, कांग्रेस और क्रान्तिकारी दल द्वारा अपनायी गयी नीति को गलत समझते रहे तो क्रान्तिकारियो की निगाह में उन्ही के प्रयत्नों से विदेशी सत्ता का अन्त हो सकता था। उपन्यास मे उक्त सभी वर्गो का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र विद्यमान है। दयानाथ काग्रेस का समर्थक है तो उसका भाई उमानाथ समाजवादी व्यवस्था का समर्थक होने के नाते उसी क्षेत्र मे प्रवृत्त होता है। उसका एक और भाई प्रभानाथ, क्रान्ति के पथ पर अग्रसर होना है। वह आतकवादी है और आतकवाद मे ही विदेशी सत्ता की अन्त देखता है।

समाजवादी दल का चित्रण

उमानाथ जो विलायत से लौटा है और जैसा कि ऊपर कहा गया है वह समाजवादी विचारधारा का समर्थक है। उसका एक अन्य साथी कामरेड मारीसन भी इसी विचारधारा का व्यक्ति है। वह कहता है कि 'दुनिया के सामने तो पेट भरने का सवाल इस बुरी तरह से है और हम लोग इन छोटी-छोटी बाँतों पर बेरहमी के साथ ऐसा खर्च कर रहे है। इस पैसे पर हमारा क्या अधिकार है? यह पैसा नियमानुसार जाना चाहिए सड़कों पर भूख और ठण्ड से ठिठुरकर मर जाने वाले भिखारियो के पास।[1] यह उपन्यास में समाजवादी विचारधारा के लक्षण है।

उपन्यास में एक और बात का आभास मिलता है और वह यह कि समाज-वादी वर्ग विदेशी सत्ता के चगुल से देश को छुड़ाने के लिए प्रयासशील नही दिखलाई पडता।[2] उसका प्रमुख उद्देश्य देश के अन्दर की स्थिति को सुधारना है। यह वर्ग कांग्रेस को पूँजीपतियों की संस्था और गांधी को पूँजीपतियों का प्रतिनिधि मानता रहा। इस वर्ग का उद्देश्य स्वाधीनता की लड़ाई लड़ना नही था बल्कि पूँजीपतियों से लड़ना था। स्वतन्त्रता का सूत्र यह वर्ग विश्वक्रान्ति में खोज रहा था ब्रिटेन के विरुद्ध

1. टेढे मेढे रास्ते : पृ० 98   2. वही : पृ० 443

कुछ करना भी चाहता तो रूस की सहायता करके। किन्तु समाजवादी और साम्यवादी कहलाने वाले नेता स्वयं अपनी स्थिति से सन्तुप्ट नही थे और न ही अपने आप में स्पष्ट। उमानाथ के अनुसार जहाँ एक ओर मजदूरो मे समाजवाद के प्रति दिलचस्पी नही है वहाँ डॉ० भास्कर का मत है कि भारत कृषि प्रधान देश है। यह इंडस्ट्रियल मुल्क नही, हिन्दुस्तान में मजदूरो की समस्या है ही नही। तत्कालीन परिस्थितियो मे समाजवादी वर्ग मे कर्मठ लोगों का अभाव था। जो कार्यकर्ता थे वे भी मजदूरो का भला करने के स्थान पर अपना भला कर रहे थे।

इतिहास के निर्माण मे एक और महत्वपूर्ण वर्ग का हाथ था और वह था क्रान्तिकारियो का दल। इस वर्ग का अपना अस्तित्व था, स्वतन्त्र अस्तित्व। उपन्यास मे वीणा और प्रतिभा नामक युवतियो की चर्चा हुयी है जो बंगाल

क्रान्तिकारी दल की गतिविधियाँ

क्रान्तिकारी दल मे क्रान्तिदल से सम्बद्ध है। प० रामनाथ तिवारी के तीसरे पुत्र प्रभानाथ का इन युवतियो के सम्पर्क मे आने और उनके बीच होने वाले वार्तालाप से यह स्पष्ट हो जाता है कि बंगाल में क्रान्ति जोरों पर थी और उसमे स्त्रियाँ भी खुल कर भाग ले रही थी। क्रमश: प्रतिभा और वीणा के कथन साहस के परिचायक हैं। वस्तुत: यदि हम भारत के इतिहास के उन पृष्ठों पर दृष्टि डाले जिनमे क्रान्तिकारियों के व्यक्तित्व और कृतित्व का ब्यौरा मिलता है तो पता लगेगा कि उपन्यासकार ने कल्पना को नही इतिहास को स्थान दिया है। बगाल में आतंकवाद उग्ररूप ले चुका था जिसमे स्त्रियाँ विशेष रूप से भाग ले रही थी।[1]

वीणा नामक युवती को इस कथन मे ऐतिहासिक सत्य छिपा है कि बंगाल के नवयुवको के कारनामे देखकर आप दग रह जाएँगे·· ····· गोलियाँ चलती है कितने ही आदमी रोज मरते है। ब्रिटिश सत्ता का अगर कोई मुकाबला कर रहा है तो वह है बगाल के क्रान्तिकारी।[2] यदि हम भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास को देखे तो वीणा के उक्त कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाएगी।[3] यही नहीं देश मे क्रान्तिकारियो का विशेष रूप से बंगाल मे जाल बिछा हुआ था और इन क्रान्तिकारियों को अस्त्र-शस्त्रों के लिए धन की आवश्यकता होती थी। अत: धन प्राप्ति के लिए ये क्रान्तिकारियो के दल डाका डाल कर धन प्राप्त करते और फिर अपनी योजनाओं को

---

1. भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास · मन्मथनाथ गुप्त (छठा परिवर्द्धित संस्करण. 1966 पृष्ठ 322-324)
2. टेढे-मेढ़े रास्ते : पृष्ठ 206
3. भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास : पृष्ठ 322 (बंगाल में आतंकवाद का उग्र रूप)

सफलीभूत बनाने के लिए हथियारो, अस्त्र-शस्त्रो की व्यवस्था करते थे। उपन्यास मे क्रान्तिकारियो का दल की डाके की योजना उपन्यासकार की कल्पना की उपज नही ऐतिहासिक सत्य है, अतीत मे घटित सत्य है। भारतीय क्रान्तिकारी नवयुवको के दल धन प्राप्ति के लिए डाके डालते थे। काकोरी षड्यंत्र का मामला इसका ज्वलन्त उदाहरण है। चटगाँव के शस्त्रागार पर भी डाका डाला गया।[1] प्रभानाथ, वीणा मनमोहन आदि पात्र, आतकवादी है। ये अस्त्र-शस्त्रो की उपलब्धि के लिए धन की आवश्यकता अनुभव करते है और धन प्राप्ति के लिए डाका डालने की योजना बनाते हैं। अपनी योजना के सफल होने मे जो भी बाधाएँ उपस्थित होते देखते है उनका निराकरण करते चलते है। राम प्रकाश नामक थानेदार के बाधा उपस्थित करने पर मनमोहन उसे गोली का शिकार बनाता है। मिदनापुर से फतेहपुर आने वाली गाड़ी के बीच मे पड़ने वाले छोटे से स्टेशन कुरुस्ती कलां को वे डकैती के लिए चुनते है।[2] इस डकैती मे सफलता तो मिलती है किन्तु कीमत जान देकर चुकानी पड़ती है।

उपन्यास मे यह स्पष्ट विवरण विगत काल मे हो रही घटनाओ का एक चित्र प्रस्तुत करने म समर्थ है। उपन्यासकार ने उक्त घटनाओ के माध्यम से तत्कालीन इतिहास को प्रस्तुत किया है।

यद्यपि उपन्यास के माध्यम से वर्माजी ने इतिहास को अभिव्यक्त किया है तथापि उसमे कल्पना का भी समावेश है। विदेशी सत्ता के चगुल से भारत को मुक्त करने के लिए कितनी ही प्रकार से प्रयत्न हो रहे थे। विभिन्न दल एक दूसरे से सैद्धान्तिक विरोध तो रखते थे किन्तु ध्येय सबका एक था और वह था भारतवर्ष को स्वतन्त्र करना। कांग्रेस अहिंसा, सत्याग्रह आदि के आधार पर अपने ढंग से लड़ रही थी। समाजवादी वर्ग अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मजदूर वर्ग में चेतना जागृत कर कुछ कर गुजरना चाहता था तो क्रान्तिकारी दल आतंकवाद के द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति में विश्वास रखता था। उपन्यास का पात्र प्रभानाथ इसी 'टेररिस्ट मूवमेंट' (आतकवादी आन्दोलन) का सदस्य था। डॉ० अवस्थी के पूछने पर कि—'क्या तुम समझते हो कि इस मूवमेन्ट द्वारा ब्रिटिश सरकार को उलट सकोगे?' प्रभानाथ उत्तर देता है कि ब्रिटिश सरकार को हिन्दुस्तान से इसी तरह निकाला जा सकता है।·········अग्रेजो पर, ब्रिटिश सरकार पर, पीछे से ही हमला करना होगा।' प्रभानाथ का यह मत पूर्णतः आतंकवादी दल का मत है। आतंकवादियो ने विदेशी हुकूमत की नाक मे दम कर रखा था।

---

1. वही : पृष्ठ 231, 312   2. टेढ़े-मेढ़े रास्ते : पृष्ठ 264, 356, 358

तत्कालीन परिस्थितियो से आभास मिलता है कि यद्यपि जमीदार वर्ग को छोड़कर शेष सभी वर्ग विदेशी सत्ता को उखाड फेंकने के पक्ष मे थे किन्तु उनका पारस्परिक सैद्धान्तिक मतभेद, जमीदारों की स्वार्थपरता, देशवासियो का पूर्णत: जागरूक न होना, असफल नेतृत्व आदि कुछ ऐसी बाते थी जो स्वाधीनता के लक्ष्य की प्राप्ति मे अड़चने उपस्थित करती रही।

कुल मिलाकर 'टेढे-मेढे रास्ते' मे उपन्यासकार ने, जिस कथानक को चुना है, उसमे जिन घटनाओ का चयन किया है उसके माध्यम से भारत को बहुरंगी इतिहास की झांकी देखने को मिलती है।

शेखर : एक जीवनी : अज्ञेय (1940-44)

'अज्ञेय' हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठित कहानीकार, उपन्यासकार और कवि है। शेखर : एक जीवनी (1940-1944) 'नदी के द्वीप' (1951) तथा 'अपने-अपने अजनवी' (1961) उनकी औपन्यासिक कृतियाँ है। अन्तिम दो कृतियो में हमे इतिहास के खाते में डालने जैसी सामग्री उपलब्ध नही होती। जहाँ तक 'शेखर: एक जीवनी' का प्रश्न है उसका विवेचन जब हम करने लगते हैं तो प्रारम्भ से ही देखते है कि शेखर विद्रोही प्रकृति का है और पूत के पैर पालने मे ही दीख जाते है, कहावत के चरितार्थ होने की आशा से यह पूर्व धारणा बना लेते है कि हो न हो 'शेखर' आगे चलकर क्रान्ति के के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाएगा। किसी सीमा तक यह धारणा सही भी निकलती है किन्तु कुल मिलाकर निराशा ही हाथ लगती है। मुझे तो ऐसा महसूस होता है जैसे शेखर का अपना निज व्यक्तित्व तो है परन्तु यह किसी काम का नही है। न वह सफल 'व्यक्ति' ही सिद्ध होता है न सफल 'टाइप' ही। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह विद्रोह और क्रान्ति-सी करता परिलक्षित होता है। किन्तु लगता है जैसे अपनी अहमन्यता और स्वेच्छाचारिता से वह स्वयं उत्पीड़ित हो उठा है। जो हो, इतिहास का हलका फुलका रूप हमें शेखर: एक जीवनी मे उपलब्ध होता है।

उपन्यास में सन् 1914 के युद्ध की चर्चा

उपन्यास मे आई सर्वप्रथम ऐतिहासिक घटना सन् 1914 के महासमर से सम्वन्धित है। आयु मे छोटा होते हुए भी शेखर महासमर के चित्रो के नीचे लिखे विवरण पढ़कर जिज्ञासा प्रकट करता है। सन् 1914 में जर्मनी और इंग्लैण्ड के बीच युद्ध छिड़ गयी था। जर्मनी के आक्रमण से इंग्लैण्ड आक्रान्त था। चूँकि भारत उस समय इंग्लैण्ड के अधीन था इसलिए भारतीयों को अंग्रेजों की ओर से जर्मनी के विरुद्ध लड़ना पड़ा था; यह ऐतिहासिक सत्य है।[1] इसी महासगर की चर्चा शेखर 'एक जीवनी'

1. कांग्रेस का इतिहास : पृष्ठ 68

में हुई है "······मे हमारी जीत, शत्रु के असंख्य आदमी मारे गये। हम आगे बढ़ रहे हैं।" हमारे हवाई जहाज पर गोले बरसा रहे है।······"शेखर ने पूछा—हम कौन हैं ? 'ईश्वरदत्त बोला—'अंग्रेज जो जर्मनों से लड़ रहे है।'······शेखर ने कहा 'ये तो अंग्रेज नही है ? भाई ने बताया सिख सिपाही भी अंग्रेजो की ओर से लड़ रहे है। अंग्रेज भारत में राज्य करते है, इसलिए भारतीय सिपाही उनकी तरफ से लड़ने भेजे जाते है। और पिता कह रहे थे कि कई लाख भारतीय मारे गये है"।[1] लड़ाई समाप्त हो चुकी थी। भारत की फौज अंग्रेजो की ओर से लड़ी थी, किन्तु जीत जाने पर भी अंग्रेजो ने भारत की स्वाधीनता के प्रश्न पर सहानुभूति से विचार नही किया जिसका परिणाम यह हुआ कि देश मे व्यापक असन्तोष छा गया। महायुद्ध के लिए धन एकत्रित करने और सिपाही भरती करने का ढग अत्यन्त अनुचित था। इन्ही कुछ कारणों से पंजाब आदि स्थानो पर भयंकर स्थिति उत्पन्न हो गयी। आगजनी और तोड़-फोड़ की घटनाएँ घटित हुईं।[2] इसी ओर 'शेखर: एक जीवनी' में भी संकेत किया गया है जिसमें पंजाब मे दंगा-फिसाद होने, गोली चलने, स्टेशन जलाने व लाइनें उखाड़ने आदि की चर्चा की गयी है।[3] इन घटनाओं पर अत्यन्त मन्द प्रकाश डालकर उपन्यासकार आगे बढ़ गया है।

शेखर द्वारा विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार

आगे चलकर उपन्यासकार ने एकाएक असहयोग के वेग से शेखर को प्रभावित होते दिखलाया है। वह विदेशी कपड़े उतारकर स्वदेशी कपड़े पहनता है। यही नही परिवार के लोगों की अनुपस्थिति में घर के सभी विदेशी वस्त्रों को खुली जगह मे रखकर मिट्टी का तेल डालकर आग लगाता है।[4] वस्तुतः गांधी के विदेशी वस्तुओ के बहिष्कार की प्रतिक्रिया हमे शेखर पर देखने को मिलती है। सन् 1921 से 1923 के दौरान असहयोग का वेग प्रचण्ड था। देश में विदेशी सत्ता के साथ हर कदम पर असहयोग किया जा रहा था, न केवल विदेशी वस्त्र का बहिष्कार ही हुआ था बल्कि उपलब्ध विदेशी वस्त्रों की होली भी जलायी गयी थी।[5] यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि शेखर प्रकृति से विद्रोही होते हुए भी अहिंसा के पुजारी गांधी का अनुसरण करता है। वह ब्राह्मण छात्रों के होस्टल को छोड़कर अछूत विद्यार्थियों के होस्टल में पहुँच जाता है, वहाँ वह अछूत कहे जाने वाले विद्यार्थियों को मित्र

---

1. शेखर : एक जीवनी : अज्ञेय (भाग 1, पृष्ठ 83)।
2. कांग्रेस का इतिहास : पृष्ठ 93
3. शे० एक जी० : पृष्ठ 86 (भाग 1)
4. वही पृष्ठ 116
5. कांग्रेस का इतिहास ; पृष्ठ 120

बनाता है।[1] यदि हम ध्यान से देखें तो ज्ञात होगा कि यहाँ भी उपन्यास ने शेखर के माध्यम से अछूत समस्या को उठाया है। यद्यपि शेखर को भरसक व्यक्तिवादी बनाने की चेप्टा की गयी है किन्तु स्वय उपन्यासकार अपने आप को व्यष्टि तक सीमित नही रख सका है। वह समिष्टि की ओर भी जाने अनजाने में आकर्षित हुआ है। व्यक्ति से ऊपर समाज और देश की इकाईयाँ है, व्यक्ति उस इकाई का एक बहुत छोटा अंश है, अत· इन इकाइयो से उसका प्रभावित होना स्वाभाविक है।

यही कारण है कि तत्कालीन परिस्थितियो मे व्याप्त अछूत समस्या को मिटाने का जो भाव व्याप्त था उससे उपन्यासकार प्रभावित हुआ है और अपने उस प्रभाव को शेखर के माध्यम से प्रतिबिम्बित किया है। सन् 1928 मे हुई कलकत्ता कांग्रेस के निर्धारित कार्यक्रम मे जो बातें शामिल थी उनमें 'अस्पृश्यता' दूर करने की बात भी थी।। अनेक उपसमितियाँ बनायी गयी थी और अस्पृश्यता निवारण सम्बन्धी कार्य का भार जमनालाल बजाज को सौंपा गया था।[2] अस्पृश्यता निवारण के लिए आन्दोलन भी प्रारम्भ हुआ। इन्ही सब बातो का प्रभाव हमें शेखर पर दिखलाई पड़ता है। तभी तो वह अछूतों के होस्टल मे प्रवेश पाता है। केवल इतना ही नही आगे चलकर भी हमे उसकी जो गतिविधियाँ देखने को मिलती है उनसे भी यह ज्ञात होता है कि शेखर गांधीवादी विचारधारा का समर्थक है।

शेखर पर अस्पृस्यता निवारण आन्दोलन का प्रभाव

राष्ट्रीय काँग्रेस के अधिवेशन के लिए स्वय सेवकों की माँग होने पर अपने विद्यार्थी जीवन में ही शेखर भी अपना नाम लिखा देता है (हालांकि उपन्यासकार के अनुसार शेखर राजनैतिक जागृति के कारण ऐसा नही करता बल्कि ड्रिल के नियमाचरण को ध्यान में रखकर करता है।) केवल वही ऐसा विद्यार्थी नही है, चौदह सौ में .से तीन सौ स्वयंसेवक कालेज के छात्र है।[3] वस्तुतः उपन्यासकार ने जो रूप प्रस्तुत किया है उसके पीछे भी ऐतिहासिक कारण है। यह नही कहा जा सकता कि विशुद्ध रूप से ड्रिल के नियमाचारण को ही ध्यान में रखकर शेखर स्वयं सेवक दल में भरती हुआ। प्रारम्भ से ही उसका झुकाव राष्ट्रव्यापी गतिविधियों की ओर रहा है, चाहे फिर

शेखर स्वयं सेवक के रूप में

1. शेखर एक जीवनी पृष्ठ 210 (भाग 1)
2. काग्रेस का इतिहास (संक्षिप्त) : डॉ० पट्टाभि सीतारामय्यया : पृ० 172, 173, 175
3. शेखर एक जीवनी (दूसरा भाग) पृष्ठ 33-34)

अपरिपक्व रूप में ही सही । वस्तुस्थिति तो यह है कि सन् 1921 मे देशबन्धुदास की अपील पर तो हजारो विद्यार्थियों ने कालेजों का बहिष्कार किया ही किन्तु अहमदाबाद काग्रेस मे स्वयं सेवक बनने के लिए भी प्रोत्साहन दिया गया था जिसके परिणाम स्वरूप 1923 मे 50,000 स्वयं सेवक भरती करने का निश्चय हुआ था । अत: शेखर का स्वयं सेवक दल मे भरती होना परिस्थिति और समय की माँग का परिणाम है न कि ड्रिल की नियमाचारणप्रियता । कांग्रेस अधिवेशन के दौरान सी० आई० डी० इन्सपेक्टर सम्बन्धी जो घटना घटती है उसमे भी इन्सपेक्टर के प्रति शेखर का प्रति अहिंसात्मक व्यवहार ही दीख पड़ता है । किन्तु अहिंसा के बदले शेखर को क्या मिला ? उसी सी० आई० डी० इन्सपेक्टर की प्रतिशोध भावना के फलस्वरूप जेल मिली शेखर को । शेखर पुलिस द्वारा गिरफ्तार करके जेल भेज दिया जाता है ।

शेखर पर अहिंसा का प्रभाव

जेल में देख-देख कर और सुन-सुन कर भी शेखर के विचारों मे परिवर्तन एकाएक नही होता । विद्याभूषण नामक कैदी से शेखर सुनता है कि असहयोग के जमाने में, कड़ाई अब से ज्यादा थी, बंदेमातरम् का नारा लगाने पर उसे बेंत लगे थे·· विद्याभूषण के सी० आई० डी० इन्सपेक्टर की घटना सम्बन्धी विचारो को सुनकर शेखर उसे आंतकवादी कहता है और कहता है कि यह सब गलत है । हिंसा से कुछ नही हो सकता ।[2] किन्तु बाबा मदन सिंह के सम्पर्क में आकर शेखर में परिवर्तन होता है । उपन्यासकार ने बाबा मदन सिह के माध्यम से जो चटगाँव की ऐतिहासिक घटना का उल्लेख किया है । वह एक और इतिहास की पुष्ट करता है और दूसरी ओर करता है, शेखर के विचारों में परिवर्तन । चटगाँव पर धावा बोला गया था और बदले मे सैनिको ने मनमानी की थी लोगो को पीट-पीट कर सलामी ली थी, स्त्रियों के साथ बलात्कार किया था ।[3]···इसी प्रकार की बातें शेखर बाबा मदनसिंह से सुनता है 'शेखर चटगॉव हमारे राष्ट्रीय चरित्र पर कलंक है । यह मेरी समझ में क्रान्ति का प्रमाण है ।···हमें चारित्र्य चाहिए तो हमें क्रान्ति चाहिए ।···

जो शेखर अहिंसा का समर्थक था और कहता था कि 'हिंसा' से कुछ नही हो सकता, वही शेखर बाबा मदनसिंह से प्रभावित होकर हिंसात्मक इतिहास का सृजन करने की बात सोचता है । वह कहता है—'कुछ करूँगा जिसे क्रान्ति कहते हैं' और वह

---

1. कांग्रेस का इतिहास (पृष्ठ 117-122, 135)
2. शेखर : एक जीवनी (भाग 2) : पृष्ठ 57
3. वही (भाग 2) पृष्ठ 94

साहित्य के माध्यम से क्रान्ति के बीज बोने की चेष्टा करता है किन्तु स्वार्थी और घाघ प्रकाशकों के बीच उसकी सुनवाई नही होती और विद्याभूषण के पुत्र रामकृष्ण से मिलने पर वह ब्रिटिश विरोधी प्रचार मे सम्मिलित हो जाता है।

शेखर अहिंसा से क्रान्ति की ओर सन् 1942 के विद्रोह के पूर्व से ही देश मे क्रान्ति पूर्ण रवैया अपना लिया गया था। क्रान्तिकारी दलो के कार्यो मे से एक था साहित्य, पैम्फलेट और पोस्टरो द्वारा विदेशी सत्ता के विरुद्ध प्रचार करना तथा भारतीयो को क्रान्ति करने के लिए प्रेरित करना। रामकृष्ण के सगठन का भी यही कार्य था जिसमे सम्मिलित होकर शेखर फौजी सिपाहियो मे ब्रिटिश विरोधी प्रचार करने के लिए वक्तव्य लिखता है।[1] ऐसी सामग्री सरकार द्वारा जब्त कर ली जाती थी इसीलिए ऐसे दल सावधानी से गुप्त रूप से कार्य करते थे। राम कृष्ण के सगठन में पर्चे पैम्पलेट का कार्य अधिक नही था किन्तु दल का कार्यक्रम बहुमुखी था। यह दल अस्त्र सग्रह, विस्फोटक की तैयारी, गुप्त संग्रहालयो का संगठन आदि कार्य करता था।[2] वस्तुत: जो युवक अहिसा में विश्वास नही रखते थे और कुछ कर गुजरना चाहते थे, वे ऐसे ही दलो मे भरती हो जाते थे। शेखर ऐसे गुप्त सगठन का सदस्य हो गया और परिस्थितियो के कारण दिल्ली आ गया और वहाँ उसने साइन बोर्ड पेट करने की दुकान खोली किन्तु यह तो मात्र बहाना था, उसकी आड़ मे वह क्रान्ति सम्बन्धी योजनाओं से सम्बद्ध व्यक्तियों से सलाह मशविरा करता और आगे की योजनाएँ बनाता दृष्टिगोचर होता है। 1942 के पूर्व इस प्रकार के जो सगठन कार्य कर रहे थे उनकी एक विशेषता यही थी कि वे छद्म वेश मे ही कार्य करते थे ताकि विदेशी सरकार पर उनकी गुप्त संस्था का रहस्य न खुल जाए। इधर शेखर, शशि के बीमार होने और फिर उसकी मृत्यु होने से शिथिल हो गया किन्तु दादा (क्रान्तिकारी साथी) का पत्र मिलने पर, जिसमे लिखा था कि दल के जो सदस्य बन्दी थे उन्हें काले पानी की सजा हो गयी है, तथा यदि स्वाधीनता आन्दोलन को जीवित रखना है तो उन्हे इस जीवित समाधि से बचाना आवश्यक है।[3] निराश और एकाकी होते हुए भी कर्मरत हो जाता है। स्वाधीनता आन्दोलन में लोग जेल जा रहे थे। क्रान्तिकारी अपने क्रान्तिपूर्ण कार्यो के लिए तथा अहिंसा के समर्थक सत्याग्रह आदि के कारण जेल जाते थे। क्रान्तिकारी अपने दल के सदस्यों को जेल से छुडने के लिए हर तरह के कदम उठाते थे। शेखर के दादा इसी पुण्य कार्य के लिए शेखर का आह्वान करते है। अतः शेखर अविश्वास और सन्देह के बीच झूलता हुआ भी इस ओर पुन: प्रवृत्त हो जाता है।

1. शेखर: एक जीवनी (भाग 2) पृष्ठ 202
2. वही (")
3. वही (") पष्ठ 294

विषाद मठ : रांगेय राघव (1946)

साहित्य समाज का दर्पण है। यह दर्पण साहित्यकार के हाथो मे रहता है जिस की सहायता से इस दर्पण मे समाज प्रतिबिम्बित होता है। स्वर्गीय रांगेय राघव ने अपने कतिपय उपन्यासो मे सामाजिक इतिहास की झलक प्रस्तुत की है। डॉ० रांगेय राघव को 'विषाद मठ' (1946) उनकी प्रारम्भिक रचनाओ मे से एक है। कोई महत्व-पूर्ण घटना एक हो सकती है किन्तु उसे परखने और उस पर विचार करने का एक लेखक का दृष्टिकोण दूसरे लेखक से प्राय: भिन्न होता है। यही स्थिति बगाल के अकाल की घटना की हैं। बगाल के अकाल ने मानव का कैसा दर्दनाक सहार किया, किस सीमा तक उसे दानव बनाया यह देखकर मानव की मानवता कराह उठी, लेखक की लेखनी सहम उठी। उसने इस नर सहार की घटना को अपना प्रतिपाद्य बनाकर भिन्न-भिन्न दृष्टि से परखा और पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है।

बंगाल के अकाल पर रचित उपन्यास को रांगेय राघव ने 'विषाद मठ' नाम दिया और इसी घटना पर आधारित उपन्यास लिखकर अमृतलाल नागर ने उसे 'महाकाल' की सज्ञा प्रदान की। महाकाल का विवेचन इतिहास की दृष्टि से आगे किया जाएगा। अत: अब विचार करना है विषाद मठ पर।

रांगेय राघव के उपन्यास 'विषादमठ' की प्रकाशन सन् 1946 में हुआ। जिसमे 'तत्कालीन अवस्था का सच्चा चित्रण निहित है।[1]

उपन्यासकार ने जापानी हमले के खतरे की ओर संकेत करके एकदम चावल के अभाव मे लोगों का भूखों सो जाना दिखलाकर आरम्भ से ही विषाद की रेखा खीचनी प्रारम्भ कर दी है। सन् 1939 मे लम्बे समय तक लडाई के बाद जापान ने बर्मा पर आधिपत्य कर लिया था। इसी से सरकार को भारत पर भी हमले का भय था।

बंगाल में जो दुर्भिक्ष सन् 1942 में पड़ा उसके अनेक कारण बताए जाते है। किन्तु विषाद मठ मे दुर्भिक्ष का यह कारण बतलाया है जमीदारों की जमाखोरी की आदत और वणिक वृत्ति, चावल का निर्यात तथा विदेशी सरकार द्वारा भारतीयों को फौज में भर्ती होने के लिए विवश करने की चाल।[2] इतिहास बंगाल में अकाल पड़ने के जो कारण बतलाता है वे कुछ भिन्न है।

उपन्यास और इतिहास के अनुसार अकाल के कारण

इतिहास के अनुसार बंगाल के अकाल का एक कारण था, बर्मा

1. विषाद मठ : (पृ० 3 दो.शब्द)
2. विषाद मठ : पृष्ठ 33-34, 43, 99-100 (संस्करण—1955)

से चावल के आयात पर रोक तथा बर्मा से निकाले गए शरणार्थियो के बगाल (चावल खाने वाला निकटतम प्रदेश) में ही आकर बस जाने से चावल की कमी।[1] महाकाल नामक उपन्यास में बतलाए गए कारण विषाद मठ मे बतलाए गए कारणों से मेल खाते है। सेना में भर्ती होने के लिए विवश करने के लिए चावल पर रोक का कारण विषाद मठ के रचयिता का अपना कथन है किन्तु उसमें सत्य का एक बहुत बड़ा अंश है।[2] वस्तुस्थिति यह थी कि 3 सितम्बर 1939 को इंगलैण्ड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी और भारत को भी युद्ध मे शामिल हुआ घोषित कर दिया गया था। 22 जून 1941 की जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया था ओर 7 दिसम्बर 1941 को जापान ने बिना चेतावनी दिए पर्लहार्बर (हवाई द्वीप) पर आक्रमण कर दिया था।[3] यह कदापि सम्भव नही था कि भारत वाइसराय की इस घोषणा पर आचरण करता कि भारत पशुबल के विरुद्ध मानवीय स्वाधीनता के लिए लड़ेगा।[4] भारत जो स्वयं गुलाम देश था, भला क्या दूसरे देशों को गुलामी से छुड़ाता वह तो स्वयं ब्रिटिश सत्ता की गुलामी में जकड़ा हुआ था। तब ऐसी दशा में भारतीय सैनिको का अंग्रेजी सरकार का हिमायती बनकर लडने का तो प्रश्न ही नही था। यह बात दूसरी है कि कश्मीर और बीकानेर नरेश तथा हिन्दू महासभा और साम्राज्यवादी; युद्ध में भारतीय सैनिकों की बलि देने के लिए तैयार थे।[5]

इसी सन्दर्भ मे हमे यह कहना है कि चूँकि भारतीयों के मन में विदेशी सत्ता के प्रति घृणा थी, भय था, इसी से भारतीय सैनिक फौज में भर्ती होना नही चाहते थे। वे तो विदेशी सत्ता के विरुद्ध हर क्षेत्र में असहयोग करने की ही मन: स्थिति में थे। अत: बहुत सम्भव है लोगों को भूखा मार कर इस लालच को पैदा करके कि 'फौज में भर्ती होने से वे भूखे तो न मरेंगे, चावल तो खाने को मिलेगा। फौज में भर्ती होने के लिए विवश किया गया हो। एक और बात इस अकाल के सम्बन्ध में कही जा सकती है कि लडाई के समय जीवन की नितान्त आवश्यक वस्तुएँ बाजार से एक दम लुप्त प्राय: हो जाती है और फिर 'काला बाजार' पनपता है। सन् 1939 में छिड़े महायुद्ध की प्रतिक्रिया भी यही हुई। व्यापारियो ने खाद्यान्न जैसी नितान्त आवश्यक वस्तुओं का संग्रह कर लिया था। लड़ाई दीर्घकाल तक चली, जिसका परिणाम यह हुआ कि चावल का लोप हो गया। अकाल का यह भी एक कारण रहा।

---

1. भारत की अर्थ व्यवस्था : लेखक तैला व अन्य (चतुर्थ संस्करण—पृ० 136)
2. विषाद मठ : पृ० 100
3. भारत का राजनैतिक इतिहास : राजकुमार (पृ० 280, 288, 290 संस्करण 1992)
4. कांग्रेस का इतिहास : पृ० 340
5. भारत का राजनैतिक इतिहास : पृ० 284-285

अस्तु, एक ओर देश को विदेशी सत्ता के चगुल से मुक्त कराने के लिए भारतीय जनता की स्वतन्त्रता संग्राम मे बलि चढ़ रही थी तो दूसरी ओर जमाखोरो और मुनाफाखोरो के स्वार्थ की ज्वाला मे जनता भूखी मरने लगी थी।

गाधी जी की गिरफ्तारी होते ही सन् 1942 का विद्रोह जोर पकड़ गया था, अहिंसा के पुजारी के साथ-साथ उसकी अहिंसा भी कैद हो गयी थी और हिंसा देश की धरती पर खुलकर खेल रही थी यह ऐतिहासिक सत्य है जिसकी चर्चा उपन्यासकार ने 'विषाद मठ' मे की है।[1] परिस्थितियाँ बहुत ही विषम थी। एक ओर लोग अन्न के अभाव मे पेड़ की छाल खा रहे थे,[2] दूसरी और जापान के बम-वर्षक मँडरा रहे थे।[3] और तीसरी और जमाखोर चावल के भडारो को छिपाने मे लगे हुएथे। वे भयभीत थे कि कही सरकार फसल खरीदने में सफल हो गई तो उन्हे गोदामो से चावल निकालने पर विवश होना पडेगा।[4] जमीदार चट्टोपाध्याय चावलों के दाम बढ़ने की आस लगाए था, उसकी कल्पना में दूसरे जमीदारो द्वारा बनाए जा रहे मकान का चित्र उपस्थित रहता है। चावल के बोरे जहाजों पर लाद कर बाहर भेजे जा रहे थे; अकाल ग्रस्त इलाके मे भी चावल की कमी नही थी, सेठो की इमारतों मे चावल भरा पड़ा था। जिस अरुण ने ढाका मे चावल के व्यापार मे आशातीत लाभ कमाया था वही अरुण भूखो की भीड़ को सेठ के गोदाम को, जिसमें हजारो मन चावल भरा पड़ा है, लूटने के लिए कहता है किन्तु भूखे, निर्बल और असहाय लोग क्या करते? चावल तो चोरी-छिपे बाहर जाता ही रहा।[5]

सन् 1942 के आन्दोलन की चर्चा

इस भय से कि कही रिपोर्ट हो जाने पर पुलिस पकड़ेगी पहले ही पुलिस की मुट्ठी गरम कर दी जाती थी।[6] यही कारण था कि चावल का दाम आसमान पर चढ़ गया था। कलकत्ते में सत्तर ऊपर पाँच रुपये मन चावल बिक रहा था।[7] कोई खरीदे भी तो कैसे? एक बुराई अन्य दूसरी बुराइओं को जन्म देती है। दुर्भिक्ष ने भी मनुष्य की आत्मा का बेहद पतन कर दिया था, चार-चार पैसे में स्त्रियाँ अपने बच्चों को बेचने को विवश हो गयी थी,[8] अपना सतीत्व बेचने पर उतारू हो गयी थी। लाज और दया का लोप हो गया था। उनके पास न तन के

अकालजनित सामाजिक बुराइयों का चित्रण

1. विषाद मठ : 10, 11
2. वही : पृ० 15
3. वही : पृ० 18
4. वही : पृ० 33
5. वही : पृ० 40
6. विषाद मठ : पृ० 119, 140
7. वही : पृ० 167
8. वही : पृ० 167

लिए कपड़ा था न खाने के लिए दाना। पोखर और तालाब की मछलियाँ पकड़-पकड़ कर खाई जाती रही।[1] यों स्त्री पुरुष सभी दुर्भिक्ष के सताए थे किन्तु स्त्री के तो एक तरफ कुआँ और दूसरी तरफ खाई थी। या तो भूखी मरे या फिर अपनी इज्जत आबरू का व्यापार करे। समर्थ लोग ऐसी ही अबला नारी से अटखेलियाँ कर रहे थे और अपनी पशुता की प्यास मिटा रहे थे।[2] लोग इतने निर्बल हो गये थे कि मुर्दो को गाड़ने की भी शक्ति उनमें नही रह गयी थी। खोदने की मशक्कत झेलना उनके वश का रोग न था।[3] दुर्भिक्ष ने एक और जिस बुराई को जन्म दिया, वह थी कम आयु की बेसहारा स्त्रियों का अनैतिक व्यापार। यह काम बूढी औरतें कर रही थी या फिर नीच और कमीनी मनोवृत्ति के पुरुष कर रहे थे। बूढ़ी औरतों के शरीर का अनैतिक दृष्टि मे कोई मूल्य नही था अतः उन्होने न केवल अपनी उदर पूर्ति हेतु बल्कि पैसा कमाने की दृष्टि से यह काम शुरू कर दिया था। लड़कियो को प्रलोभन देकर लाना, उन्हे पेट भर भोजन देकर नर-पशुओ की वासना तृप्ति के लिए आगे करके पैसा कमाना उनका काम था। साधना, इन्दु और नीलिमा एसी ही स्त्रियाँ है जिनकी विवशता का अनुचित लाभ उठाकर उन्हे सदा के लिए कलंकित कर दिया गया है।[4] विना हैसियत के, मजदूर वर्ग के लोग भी नारी जाति की असहाय अवस्था का लाभ उठा रहे थे। सैनिको और सिपाहियो के मनोरंजन का साधन भी विवश नारी को ही बनना पडा था। इस प्रकार जहाँ एक ओर बर्बर फासिस्ट जापान के बम वर्षक आग उगल रहे थे वहाँ दूसरी ओर देश के इस भाग पर जमीदार व्यापारी, मुनाफाखोर और कामुक वृत्ति के लोग गुलछर्रे उड़ा रहे थे। नारी जाति अपमानित हो रही थी, बच्चे, बूढे, युवक युवतियाँ कराह-कराह कर दम तोड रहे थे। लोगो को दफनाने वाला भी कोई नही था, गीदड़ ही उनका क्रिया-करम कर रहे थे।[5]

विषाद मठ मे रांगेय राघव ने अकाल का जो विवरण प्रस्तुत किया है वह इतिहास सम्मत है। ऊपर उल्लिखित तत्कालीन परिस्थितियाँ अधिकांशतः सत्य है

ऐतिहासिक दृष्टि

किन्तु कही-कही कथानक में उपन्यासकार ने कल्पना का समावेश किया है। इतिहास और कल्पना दो पृथक वस्तु है किन्तु एक के बिना दूसरे का अस्तित्व असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। इतिहास मे कल्पना और कल्पना में इतिहास समाया रहता है। किन्तु कल्पना का अंश अधिक हो जाने पर उसका पृथक अस्तित्व दृष्टिगोचर होने लगता है। चन्द्रशेखर और लावण्यमयी की जो अति लघु कथा बीच ही मे 'नशा और जहर' शीर्षक के अन्तर्गत

1. वही : पृ० 78
2. वही पृ० 78
3. विषाद मठ : पृ० 107
4. वही : पृ० 152, 181, 201, 229, 230
5. विषाद मठ : पृ० 247

प्रस्तुत की गयी है वह चिपकायी गयी, सी प्रतीत होती है उसमे कल्पनातिरेक झलकता है।

बंगाल के अकाल पर आधारित एक अन्य उपन्यास 'महाकाल' की तुलना में 'विषाद मठ' उतना सशक्त नही है। अकाल के चित्र पूरी तरह उभरे नही है। जो सवेदना पाठक में महाकाल को पढने से जगती है वह विषाद मठ से नही जगती। इसके अतिरिक्त उपन्यासकार ने सन् 1942 की लड़ाई और अकाल का एक साथ मिला-जुला रूप प्रस्तुत कर दिया है। वस्तुत: बंगाल के अकाल का समय 1943 के प्रारम्भ मे ठहरता है। उपन्यासकार ने चावल का अधिकतम भाव 76 रूपया प्रतिमन बतलाया है किन्तु इतिहास के अनुसार चावल का भाव 34–36 रुपये मन का था। विषाद मठ मे पीड़ितो के लिए लंगर आदि की साधारण चर्चा सी की गई है जबकि इतिहास के अनुसार सरकार ने सैकड़ों की संख्या मे भोजनालय खुलवाये थे।[1] उपन्यास मे पात्र अधिक नही है कुल मिलाकर आकार नीति लघु है फिर भी विषाद मठ जिस दृष्टिकोण से लिखा गया है उस उद्देश्य की प्राप्ति में सफल ही कहा जाएगा।

नई इमारत : रामेश्वर शुक्ल अंचल (1947)

'अंचल का नाम आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य मे उनके उपन्यास 'नई इमारत' और 'चढ़ती धूप' के प्रकाश में रोशन हुआ है। 'नई इमारत' का प्रकाशन काल सन् 1947 है। यद्यपि स्वयं लेखक के मतानुसार उपन्यास, 'मौलिक सामाजिक' है तथापि जिन घटनाओं के माध्यम से उपन्यास के कथानक का निर्माण हुआ है उनके माध्यम से तत्कालीन इतिहास बोलता है। यों तो भारत मे स्वाधीनता सग्राम वर्षो से चला आ रहा था, आजादी के दीवाने मुल्क की आजादी की माँग कर रहे थे किन्तु जब कभी विदेशी हुकूमत इन आजादी के दीवानों को भुलावे में डालने के लिए कोई आयोग वगैरह भेज देती तो जैसे विद्रोह की आग और तेज हो उठती थी।[2]

'नई इमारत' का आधार क्रिप्स-मिशन

प्रस्तुत उपन्यास ऐसे ही आजादी के दीवानों की कारगुजारी प्रस्तुत करता है जो एक तो पहले ही, देश मे, नौकरशाही के दमन चक्र, देशी पूँजीवाद और विदेशी साम्राज्यवाद से जूझने की बात सोच रहे थे इधर विदेशी हुकूमत का प्रतिनिधि 'क्रिप्स-मिशन' जैसे और जले पर नमक छिड़कने आ पहुँचा। स्टेफर्ड क्रिप्स जो योजना भारत में लाए उसकी जो प्रतिक्रिया देश में हुई वही इस उपन्यास का प्रमुख आधार है।

---

1. भारत की अर्थ व्यवस्था : पृ० 137
2. नई इमारत : रामेश्वर शुक्ल अंचल (पृ० 17 : संस्करण : 1955)

सितम्बर 1939 मे इंगलैण्ड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया था और जर्मनी ने रूस पर भी हमला कर दिया था। अतः इंग्लैण्ड और रूस एक हो गये थे और रूस के इग्लैण्ड के साथ हो जाने से 'साम्यवादी कहे जाने वाले लोग उस विद्रोह में विदेशी सत्ता के विरुद्ध सम्मिलित नही हो रहे थे। उल्टे वे यह कह कर भारतीय क्रान्तिकारियो की योजना मे बाधा उपस्थित कर रहे थे कि इग्लैण्ड के विरुद्ध असहयोग और विद्रोह करके वे अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो का लाभ उठाना नही चाहते जब कि अधिकांश भारतीय नेता व क्रान्तिकारी इस परिस्थिति का लाभ उठाने के पक्ष में थे। इस प्रकार क्रिप्स-मिशन का बहिष्कार व विरोध का सरकार के दमन चक्र की परवाह न करते हुए भारत के क्रान्तिकारियो ने अपने बल पर विदेशी सत्ता का विनाश करके स्वतन्त्र भारत की 'नई इमारत' के निर्माण का जो प्रयास किया था उसी का सजीव एव यथार्थ चित्रण कल्पना के सहयोग से उपन्यासकार ने किया है।

उपन्यास का नायक महमूद नामक मुसलमान युवक है जिसे मुल्क की आजादी का दीवानापन किसी हिन्दू से किसी प्रकार कम नही सताता। वह प्रेम भी करता है तो एक हिन्दू बाला से। दोनों के परिवारों मे प्रेम ऐसा प्रगाढ़ है मानों पीढ़ी दर पीढ़ी चला आ रहा हो।

सन् 1942 की क्रान्ति में क्या स्त्री क्या पुरुष सभी समान रूप से भाग लेते हैं। महमूद और उसकी प्रेमिका आरती, बलराज और शीला, प्रतिभा और शमीम सभी के हृदय में समान रूप से क्रान्ति दावानल धधक रहा है। उपन्यास मे महमूद और आरती की प्रेमकथा की अपेक्षा तत्कालीन इतिहास ही अधिक चित्रित हुआ है और वह भी प्रत्यक्ष रूप में। यों महमूद सन् 1930 के आन्दोलन मे भी भाग ले चुका है, प्रतिभा मे भी पहले से ही स्वराज्य की अलख जगी हुई है।

स्टैफर्ड क्रिप्स जो योजना लाया उसने और आरती जैसे अनेक स्वाधीनता के पुजारियों मे संघर्ष क्रान्ति और आन्दोलन की लहर उत्पन्न कर दी।[1] महमूद और उसका क्रान्तिकारी दल बम्बई में होने वाली कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति के 9 अगस्त 1942 के निर्णय की प्रतिक्षा करते हैं[2] और उसी निर्णय को ध्यान मे रख, वातावरण और परिस्थितियो के अनुरूप हिंसापूर्ण क्रान्ति का सहारा लेते है। विद्रोहियों के झुण्ड के झुड खुले आम तार काटते थे, डाकखाने और तारघर, पुलिस चौकियाँ और खजाने जलाते थे। क्योकि वे इस बात को समझ चुके थे कि 'अहिंसा से कुछ भला नहीं होना

क्रिप्स मिशन की असफलता

1. नई इमारत : पृ० 88
2. वही : पृ० 146

है। बीस वर्ष से देश अहिंसा की नीति का पालन करता रहा किन्तु बूट की ठोकरो के अलावा क्या मिला[1] ? इसीलिए महमूद कहता है कि अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति से लाभ उठाकर हमें गुलामी के बन्धन काटने का प्रयास करना चाहिए और वास्तव मे ये क्रान्तिकारी ऐसा करने की पूर्ण चेष्टा करते है। किन्तु कम्युनिस्ट लोग इनको सहयोग नही देते। बल्कि उल्टे उनकी योजना को ठप्प करने की कार्रवाई करते है। वे मजदूरों को हड़ताल मे भाग लेने के लिए मना करते है।[2] किन्तु फिर भी महमूद आदि नेताओं के नेतृत्व मे विशाल जलूस निकलता है, बदले मे गोलियाँ चलती हैं और कई जानें जाती है। 1942 मे (कम्युनिस्ट पार्टी) की नीति युद्ध मे इंगलैण्ड को सहयोग देने की हो गयी थी।[3]

आगे चलकर उपन्यास के कथानक को लेखक ने सन् 1942 के खुले विद्रोह से सम्बद्ध करके दिखलाया है। एक तो वैसे ही स्वाधीनता की लड़ाई मे भाग लेना देशवासियों के लिए स्वाभाविक है तिस पर 'क्रिप्स मिशन' के रवैये ने तथा भारत को उसकी इच्छा के विरुद्ध युद्ध मे सम्मिलित घोषित कर, उसे सहयोग देने के लिए विवश करने और बदले मे देश को स्वतन्त्र न करने की स्वार्थ परायणता से स्थिति यहाँ तक आ पहुँची थी कि सन् 1942 मे खुला विद्रोह हो उठा था। जनता 'करो या मरो' के नारे लगाती थी। वह विदेशी शासन को जड़ से खोदने पर उतारू हो गयी थी। लोगों मे मौत का भय नही रह गया था, वे खुलकर तोड़-फोड़ करते थे। जनता पुलिस चौकियो आदि पर कब्जा करती थी।[4] आरती और प्रतिभा जैसी कार्य करने वाली नारियाँ भूमिगत रहकर बुलेटिन निकालती और प्रचार करती है। विद्रोही और क्रान्तिकारी योजना बनाकर, आगे बढ़कर सोते सैनिको और फौजियों पर हमला करते है। उनकी लड़ाई 'रक्षात्मक' न रहकर आक्रामक हो गयी।[5] वे रात को हमला करके सुबह पौ फटते-फटते विदेशी सत्ता के रक्षक काले गोरे सैनिको को तबाह कर देते है। उनकी विजय होती है।

सन् 1942 का विद्रोह

यद्यपि क्रिप्समिशन से उत्पन्न असन्तोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध परिस्थितियो से उत्पन्न सन् 1942 के खुले विद्रोह की घटनाओ पर उपन्यास की नीव रखी गयी। कथानक को रोचक और सजीव बनाने के लिए उपन्यासकार ने प्रेम कथा की व्यवस्था की है। ऐसा करने में भी लेखक का उद्देश्य विवाह की समस्या तथा हिन्दू मुस्लिम एकता की समस्या की ओर संकेत करता रहा है। महमूद और आरती एक दूसरे से

1. नई इमारत : पृ० 102
2. वही : पृ० 244
3. झूठा : सच (देश का भविष्य) पृष्ठ 423—संस्करण जनवरी 1960 (यशपाल)
4. नई इमारत : पृ० 338
5. नई इमारत : पृ० 406-410

प्रेम करते है उनके परिवारों में भी घनिष्ट प्रेम है किन्तु आरती के पिता ताल्लुकेदार है वे एक मुसलमान युवक से आरती को विवाह की अनुमति न देकर उल्टे बाधा उपस्थित करते है। इन समस्याओ पर छुट-पुट रूप मे ही प्रकाश डाला गया है। उपन्यासकार का वास्तविक उद्देश्य तो तत्कालीन इतिहास को प्रस्तुत करना रहा है और उसमें उसे पूर्ण सफलता मिली है। उपन्यास में इतिहास की अभिव्यक्ति यथार्थ एवं प्रत्यक्ष रूप मे हुई है। इस बात का प्रमाण हमे मिल सकता है यदि हम चर्चित उपन्यास की घटनाओं को स्वाधीनता के इतिहास के आलोक मे देखें।

नई इमारत में ऐतिहासिक सत्य

जिस क्रिप्स मिशन की चर्चा उपन्यासकार ने की है उसका आगमन भारत में सन् 1942 में हुआ। क्रिप्स की योजना निष्फल सिद्ध हुई और स्पष्ट हो गया कि भारत के प्रति ब्रिटिश सरकार के रवैये में कोई परिवर्तन नही हुआ है। अत: आगे की कार्यवाही करने के लिए कांग्रेस को बाध्य होना पड़ा था। इससे पूर्व कांग्रेस ने अगस्त 1942 मे अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक बम्बई में की थी (कमेटी के निर्णय पर ही आगे का कार्यक्रम निर्भर था) जिसने पूरे आग्रह के साथ भारत से ब्रिटिश सत्ता को हटा लेने की माँग को दुहराया।[1] यही नही यह भी घोषित किया कि ब्रिटेन का अब भारत जैसे राष्ट्र को एक ऐसी साम्राज्यवादी और शासन प्रिय सरकार के विरुद्ध अपनी इच्छा प्रदर्शित करने से रोकने का कोई अधिकार नही है जो उस पर आधिपत्य जमाती है···इसलिए कमेटी भारत के स्वतन्त्रता और स्वाधीनता के अविच्छेद अधिकार का समर्थन करने के उद्देश्य से अहिसात्मक प्रणाली से अधिकाधिक विस्तृत परिमाण पर एक विशाल संग्राम चालू करने की स्वीकृति देने का निश्चय स्वयं करती है।[2]

उपन्यास में बम्बई कांग्रेस कार्य कारिणी की बैठक का उल्लेख हुआ है।[3] और इस कार्यकारिणी के प्रस्ताव पर ही उपन्यास के विद्रोहियो के कान लगे हुए थे। वे प्रस्ताव पास होते ही अपनी कार्यवाही प्रारम्भ कर देते है।[4] उपन्यास के क्रान्तिकारी दल का कम्युनिस्टो पर यह आरोप कि वे उन्हें सहयोग नही दे रहे इतिहास सम्मत है। बम्बई कांग्रेम कमेटी के 9 अगस्त वाले प्रस्ताव के विरोध में 13 मत थे और ये तेरह के तेरह मत साम्यवादियों के थे।[5]

यद्यपि कांग्रेस का विरोधी कार्यक्रम भी अहिंसा पर आधारित था तथापि उपन्यास में हमें विद्रोहियों का आक्रामक रूप दिखायी देता है, तोड़-फोड़ तहस-नहस

1. कांगेस का इतिहास : पृ० 432
2. कांग्रेस का इतिहास : पृ० 433
3. नई इमारत : पृ० 139
4. वही : पृ० 148
5. कांग्रेस का इतिहास : 434

करने की हिंसात्मक प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। इससे यह न समझना चाहिए कि वे उपन्यासकार की कल्पना मात्र हैं। वास्तव में ये आक्रामक घटनाऍं भी इतिहास के प्रागण से ही चुनी गयी है। उनका बडा ही सजीव रूप उपस्थित हुआ है। हिसात्मक व आक्रामक कार्यवाही के लिए सरकारी सैनिकों व फौजों ने ही जनता को बाध्य किया था। रायफलों, मशीनगनो और रिवाल्वरों की मार से जनता पागल हो उठी थी। वह चलती रेलों पर पत्थर बरसाने लगी, गाडियों और कारो को रोकने लगी, रेलवे स्टेशनों को नुकसान पहुँचाने लगी। टेलीफोन के तार काटे जाने लगे, शिक्षण सस्थाऍं व यूनीवर्सिटियॉं शीघ्र खाली हो गयी, रेलवे यातायात पंगु बना दिया गया, मिलें बन्द कर दी गयी।[1] रेलवे स्टेशनों, इन्कमटेक्स दफ्तरों, स्कूल कालेजो की इमारतो, डाकखानों और रेल गोदामो मे आग लगा दी गयी।[2] 1942 के खुले विद्रोह का यह विवरण इतिहास सम्मत है और इसका ज्यों का त्यों यथार्थ चित्रण उपन्यास में प्रस्तुत कर दिया गया है।[3]

नई इमारत उपन्यास में जहाँ प्रेम तत्व उभरा है वहाँ कल्पना खुलकर खेली है किन्तु जहॉं स्वाधीनता की लड़ाई के चित्र प्रस्तुत किए गये है वहॉं यथार्थ भी खुल कर सामने आया है। उपन्यास मे इतिहास को विकृत नही होने दिया गया है, इतिहास को प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत कर उपन्यासकार ने उसकी रक्षा ही की है। इस प्रकार अचल जी ने 'नई इमारत' के निर्माण द्वारा स्वाधीनता सग्राम के सम्भवत: 1857 के विप्लव के बाद प्रथम व अन्तिम प्रयास का सजीव चित्रण पर इतिहास की रक्षा और कथा-साहित्य की श्रीवृद्धि करने वाले उपन्यास की रचना की है।

महाकाल : अमृतलाल नागर (1947)

'महाकाल' उपन्याम अमृतलाल नागर का सन् 1942 में बंगाल में पड़े दुर्भिक्ष का जीता जागता विशद चित्र उपस्थित करने वाला उपन्यास है। बंगाल की भूमि भारत की उर्वरतम भूमि गिनी जाती है; किन्तु इतिहास साक्षी है कि आज से 30 वर्ष पूर्व इस प्रान्त की भूमि पर न जाने कितने प्राणी 'महाकाल' के गाल में समा गये थे। उपन्यासकार ने दयाल जैसे जमीदारों, मोनाई जैसे व्यापारियो और दूसरी ओर पांचू जैसे सामाजिक खेतिहर मजदूरों की दर्द भरी कहानी उपन्यास के माध्यम से कहने के बहाने तत्कालीन इतिहास को अनावृत किया है।

सन् 1939 के महायुद्ध में दीर्घकालीन लड़ाई के बाद जापान ने बर्मा पर कब्जा कर लिया था। बर्मा से भारत आने वाले चावल के आयात पर रोक लगा दी

1. कांग्रेस का इतिहास : पृ०445-496   2. वही पृ० 447
3. नई इमारत : पृ० 148-151

उपन्यास में अकाल के समय की स्थिति

गयी थी। अतः बंगाल में जहाँ चावल ही खाद्य की प्राधन वस्तु है उसकी अत्यन्त कमी हो गयी। लडाई का भय वना हुआ था जिसके परिणामस्वरूप समर्थ लोगो ने चावल जमा करना प्रारम्भ कर दिया। महाकाल उपन्यास में विषम परिस्थितियो के कारण पड़े भयंकर अकाल का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास के आधार पर अकाल का समय, सन् 1943 का प्रारम्भ ठहरता है जिसकी ओर सकेत लेखक ने स्कूल की कक्षा मे किताब के उस फटे पृष्ठ के माध्यम से किया है जिस पर बालक ने हस्ताक्षर करके उसके नीचे 27-1-43 तारीख डाली है और 19 मार्च को कक्षा मे एक भी विद्यार्थी का न होना बतलाया है।[1] यह सत्य है कि यह भयंकर अकाल सन् 1942-1943 मे पड़ा था। चावल का भाव एक दम बारह रुपये से अठारह फिर चौबीस और फिर चालीस रुपये हो गया था।[2] मध्यम वर्ग और खेतिहर मजदूर वर्ग भूखो मरने लगा।

मोहनपुर गाँव बंगाल के अन्य क्षेत्रो का और दयाल जमीदार ताल्लुकेदार व जमीदारों का तथा मोनाई व्यापारियो का प्रतिनिधित्व करता दीख पडता है। इस महाकाल के लिए दयाल जैसे जमीदारों और मोनाई जैसे व्यापारियो को ही जिम्मेदार ठहराया गया है। एक दयाल, एक मोनाई गाँव भर का अनाज खा जाता है गाँव भर के कपड़े पहन लेता है ····[3] दयाल जमीदार है उसके गाँव के लोग मरें उसकी बला से उसकी शान शौकत और ऐशो आराम मे कोई कमी नही। मोनाई के पास गोदाम भरा पड़ा है बोरियो पर बोरियाँ चुनी हुई है, इतना अन्न कि सारा गाँव महीनों खाय पर समाप्त न हो[4] किन्तु फिर भी लालची मोनाई ने निर्धनो के वस्त्र तक उतार लिए, उनके टूटे-फूटे बर्तन तक कौड़ियों के दाम खरीद लिए। पाँचूगोपाल मुखर्जी गाँव का प्रतिष्ठिता अध्यापक भी अकाल पीड़ित है। वह अपनी और अपने परिवार के पेट की ज्वाला को शान्त करने के लिए दस सेर चावल के लिए स्कूल की बेंचें बेच देता है। अतः स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी कि भूखी भीड़ ने मोनाई के घर के अन्दर जाकर गुप्त तहखाने के दरवाजे तोड दिये[5] किन्तु सिपाहियों ने गोली चलायी और दयाल जमीदार ने चावल का गोदाम छिपवा दिया। उसने गाँव में चावल बँटवाया भी तो ईर्ष्या की भावना से मोनाई को सजा देने हेतु और अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए।

---

1. महाकाल : पृ० 11-42
2. महाकाल : पृ० 24
3. वही पृ० 63
4. वही : पृ० 89
5. वही : पृ० 101

पुलिस का अत्याचार और अनैतिक व्यापार

पुलिस के पतन की भी सीमा नही थी। पुलिस वाले असहाय और दुखी भूखी जनता पर प्रहार कर मोनाई से इनाम माँगते है। चावल खरीदने के लिए पैसा पाने के उद्देश्य से लोग सर्राफा बाजार मे गहने बेचते है तो पुलिस उन पर चोरी का आरोप लगाकर उनसे रुपये ऐंठती है, उन्हे बेइज्जत करती है।[1] मोनाई और अजीम जैसे व्यापारी खुले आम स्त्रियो की इज्जत पर डाका डालते हैं। अस्सी प्रतिशत स्त्रियां मजबूर किए जाने पर पैसा या खाना पाने के लालच से वेश्याएँ हो चुकी थी।[2] फरेबी और दुष्टचारी, अजीम नूरूदीन और मोनाई जैसे व्यापारी ने अवसर पाकर, औरतों का व्यापार किया उन्हे चकलो पर पहुँचाया।[3] यही नही उन्होने मरे हुए लोगों के अस्थिपजरो को मेडिकल कालेज मे बेचने की योजना बनाई क्योकि ये अस्थिपंजर पढ़ाई के काम आयेगे। इससे अधिक आत्मा का पतन और क्या हो सकता है। परिस्थितियों वश कुछ भ्रष्टाचारियो के भ्रष्टाचार के कारण लाखोप्राणी स्त्री बच्चे, बूढ़े जवान काल के ग्रास बन गए।

मोनाई जैसा व्यापारी अपनी अर्थिक हानि देखकर क्रोधित होता है। उसके विचार मे जमीदारों व जागीरदारों ने रुपये देकर गाधी जी को जेल भिजवाया और पुलिस से गोलियाँ चलवाकर आन्दोलन दबवा दिया।[4] यही नही शिक्षित पाँचू का विचार भी कुछ ऐसा ही है। उसके विचार मे सुभाष बाबू के आने पर बंगाल उनके साथ न मिल जाय इस भय से बगाल को अकाल का ग्रास बनाया है।[5] और वह ऐसी प्रलय में भी सृष्टि के बीज अकुरित की आस लगाए है।

कुल मिलाकर उपन्यास का आकार छोटा है, कथानक लघु है और पात्र भी गिने चुने है। अकाल पीड़ित लोगों की दशा को चित्रित करने वाले स्थल बहुत है। उपन्यासकार का उद्देश्य भी 'महाकाल' का भयंकर रूप प्रस्तुत करना ही रहा है। अब देखना यह है कि जो कुछ उपन्यास रूप में लेखक ने दिया है उसमें इतिहास कहां तक अभिव्यक्त हुआ है? उपन्यास मे इतिहास की रक्षा पर्याप्त मात्रा में हुई है। इस भयंकर अकाल का पडना तो इतिहास सम्मत है ही साथ ही उपन्यास में दिखलाया गया इस अकाल का समय भी इतिहास से मेल खाता है। द्वितीय महायुद्ध के दौरान जापान का बर्मा पर अधिकार हो गया था।[6] इतिहास के अनुसार जिसके दो परिणाम हुए। (1) बर्मा से चावल के व्यापार रोक लगाने से चावल की कमी हो गई। (2) वर्मा से

---

1. महाकाल : पृ० 111
2. महाकल : पृ० 96
3. वही : पृ० 174-175
4. वही : पृ० 116
5. वही : पृ० 230
6. कांग्रेस का इतिहास (संक्षिप्त) : पृ० 429

हिन्दुओं को निकलना पड़ा। इनमे बहुत से शरणार्थी जो आए वे भी चावल खाने वाले थे, और वे बंगाल मे ही प्रविष्ट हुए। फलस्वरूप चावल का भाव बढ गया। उपन्यासकार ने चावल का भाव बारह रुपये मन से ऊपर बढता हुआ बतलाया है[1] किन्तु इतिहास के अनुसार चावल का भाव 4 रुपये 36 पैसे प्रति मन से बढ़कर 34 रुपये प्रति मन हो गया था।[2]······उपन्यासकार वर्मा से आए शरणार्थियो के सम्बन्ध में मौन रहा है। बंगाल नेशनल चेम्बर आफ कामर्स के अध्यक्ष के अनुसार······कलकत्ते (बंगाल), से भी अधिक दयनीय हालत आसपास के गाँवो में जहाँ गरीबी के कारण लोग अपने प्रियजनों की अन्तिम क्रिया भी नहीं कर सके थे।[3] स्त्रियों के व्यापार के सम्बन्ध में उपन्यासकार ने सत्य को नग्न रूप में प्रस्तुत किया है जो कि इतिहाससम्मत ही है। यूनाइटेड प्रेस के समाचारों के अनुसार —13 वर्ष तक की आयु की लड़कियों का अनैतिक व्यापार होता था।[4] इस सम्बन्ध में यह कथन सीमित ही है। रोग बहुत बढ़ा हुआ था। उपन्यासकार द्वारा किया गया अनैतिक व्यापार का वर्णन सत्य के अधिक समीप प्रतीत होता है। इतिहास इस बात का भी प्रमाण प्रस्तुत करता है कि हमले की भय से खाद्यान्न को इकट्ठा करके भंडारों में सुरक्षित कर दिया गया था। वही बात उपन्यासकार ने कोनाई के गोदाम की ओर संकेत करके कही है। चोर बाजारी, घूसखोरी के कारण ये सचित भंडार वरदान न होकर अभिशाप हो गये थे। सन् 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में नेता लोग गिरफ्तार हो गये थे और विदेशी सत्ताधारियों को भारतीयों की परवाह न थी। अतः कोई सहायक नहीं था। इसी ओर संकेत करता हुआ उपन्यास का पात्र मोनाई रुपये देकर गांधीजी को, जेल भिजवाने तथा आन्दोलन को दबवाने की बात कहता है।[5]

उपन्यास में मोनाई जैसे भ्रष्टाचारी अनाथालय खोलते हैं जहाँ स्त्रियों को भोजन और वस्त्र की सुविधा होगी तथा जमीदार दयाल मोनाई का डाँट डपट कर गाँव के प्रत्येक व्यक्ति को एक सेर चावल तथा भोजन करने वाले ब्राह्मणों को उपचार के लिए एक-एक रुपया दिलवाते है। यह भी ऐतिहासिक तथ्यों की ओर व्यंग्यपूर्ण संकेत है। सरकारी आँकड़ों के अनुसार बंगाल में सरकार की ओर से 3121 सरकारी, 1247 सरकारी सहायता प्राप्त तथा 347 व्यक्तिगत धर्मार्थ भोजनालय खोले गए थे। 5 करोड़ की सहायता भोजन व स्त्र के लिए दी गयी तथा 50 लाख रुपया अकाल

1. महाकाल (पृष्ठ 24)
2. भारत की अर्थव्यवस्था (चतुर्थ संस्करण-1965) तेला व अन्य (पृष्ठ 136)
3. वही
4. वही
5. महाकाल — पृष्ठ 146

के कारण फैली बीमारियों की रोकथाम हेतु दिया गया था।[1] उपन्यासकार ने सम्भवत: कहना चाहा है कि भोजनालय नाम के थे, वहाँ अनैतिक व्यापार चल रहा था, उपचार के लिए सहायता नाममात्र की थी। जिन्हें पेट की ज्वाला शान्त करने की ही चिन्ता हो ये उपचार क्या कराएँगे। कुल मिलाकर उपन्यास यथार्थ की एक भूमि पर रचित है। उसमें इतिहास की सशक्त और यथार्थ अभिव्यक्ति हुई है।

स्वाधीनता के पथ पर : गुरुदत्त (1947)

गुरुदत्त का नाम हिन्दी कथा-साहित्य के क्षेत्र में जाना माना है। गुरुदत्त ने दो दर्जन से भी अधिक कृतियों का प्रणयन किया है और उनकी सभी रचनाएँ राष्ट्रीयता की भावना से अनुप्राणित हैं। स्वाधीनता के पथ पर, स्वराज्य-दान, पथिक, आदि ऐसे ही उपन्यास है। यहाँ हम अपनी अध्ययन-विधि के अनुसार, गुरुदत्त के उपन्यास 'स्वाधीनता के पथ पर' को ही ऐतिहासिक विवेचन की दृष्टि से परखेंगे। 'स्वाधीनता के पथ पर' (1947) चार सौ पृष्ठो में कहानियों के रूप में दस अध्यायों में विभाजित उपन्यास है। सन् 1920 से लेकर 1935 तक की राजनैतिक परिस्थिति का इसे 'ऐतिहासिक उपन्यास' कहा जा सकता है। सारा कथानक हिंसा, अहिंसा, गांधीवाद, साम्यवाद, सत्याग्रह क्रान्तिकारी कांग्रेसी आदि की विचारधाराओं, उनके कार्यक्रम तथा उनकी सफलताओं पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है।[2]"

उपन्यासकार ने 'प्राक्कथन' में लिखा है, सन् 1921 के असहयोग आन्दोलन के असफल होने पर देश में स्थान-स्थान पर हिंसात्मक क्रान्तिकारी दल बन गये थे। सन् 1930 के सत्याग्रह आन्दोलन और क्रान्तिकारी दलों से प्रतिपादित हिंसात्मक प्रकृति में संघर्ष चल पड़ा था। इसी संघर्ष काल की यह कथा है। उपन्यास में हमें एक ओर अहिंसा का समर्थन करने वाले मधुसूदन जैसे व्यक्ति क्रियाशील दिखलायी पड़ते हैं तो दूसरी ओर धीरेन्द्र, नरोत्तम, और पूर्णिमा आदि पात्र, जो आतंकवाद के हामी है। इनके अतिरिक्त रायसाहब हैं जो इन दोनों ही वर्गो से पृथक्, राजभक्त के रूप में हमारे सम्मुख आते है। इसीलिए कलेक्टर को आमन्त्रित करने के बदले में लोग यह आशा करते है कि उन्हें 'नाइट' की पदवी मिलेगी।[3]

जैसा कि अन्यत्र भी कहा जा चुका है यह अंग्रेजों की चाल थी कि वे ताल्लुकेदारों, जमीदारों, रियासती राजाओं आदि को या अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों को कभी

---

1. भारत की अर्थ-व्यवस्था (एस० सी तेला व अन्य) : पृष्ठ 132
2. 'स्वाधीनता के पथ पर' उपन्यास के बाह्य आवरण पर छपी, दैनिक हिन्दुस्तान नई दिल्ली की 'सम्मति' से उद्धृत।
3. स्वाधीनता के पथ पर : गुरुदत्त (पाँचवाँ संस्करण : पृष्ठ 14)

पुरस्कार देकर तो कभी पदवियाँ देकर प्रसन्न करते थे और अपना भक्त बनाते थे। रायसाहब कुंजविहारी को भी ऐसी ही 'नाइट' की पदवी मिलने की लोग कल्पना करते हैं। यद्यपि डाक्टर महोदय स्वयं एक काश्मीरी ब्राह्मण है तथापि ले देकर वे है तो अंग्रेजों की ही मशीन के पुर्जे ! इसलिए आतंकवादी, रायसाहब द्वारा आयोजित उत्सव मे बम फेकते है जिसके कारण रायसाहब भी घायल होते है और कलक्टर की तो मृत्यु हो जाती है।

भारत मे एक ओर गांधीजी अहिंसा और सत्याग्रह के अस्त्र लेकर विदेशी सरकार के विरोध में लडाई के लिए उतरे तो दूसरी ओर आतंकवादी वर्ग अपने कार्य-क्रम को व्यवस्थित करने में संलग्न था। रिवालवर, कारतूस बन्दूकें इनके अस्त्र-शस्त्र थे। कांग्रेस तो गाधीजी के नेतृत्व मे खुल्लम-खुल्ला अहिंसात्मक ढंग से युद्ध करने की नीति अपनाकर जनसाधारण को आकर्षित कर सकी थी। किन्तु आतंकवादियो के क्रान्तिकारी दल के लिए यह सम्भव न था क्योकि एक तो आतंकवादियो का कार्यक्रम गुप्त ढग से संचालित होता था (जनता अहिंसात्मक कार्यक्रम में गाधीजी के साथ निर्भय होकर भाग ले सकती थी।) दूसरे, आतंकवादियों के साथ मिलने पर मृत्यु का भय भी था। आतंकवादी नेता धीरेन्द्र का मत है कि असहयोग आन्दोलन निश्चय असफल होगा और तभी उनके 'एक्शन' का समय होगा।[1] रायसाहब द्वारा असहयोग की प्रतिक्रिया स्वरूप पदवी त्याग देना[2], गांधीजी द्वारा असहयोग आन्दोलन के समय विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार, स्कूल-कालेजों और अदालतों के बहिष्कार के साथ-साथ सरकार द्वारा दी गयी पदवियों का त्याग करने की सलाह का प्रभाव है जो इस बात पर प्रकाश डालता है कि रायसाहब 'राजभक्ति' से 'देशभक्ति' की ओर उन्मुख हो गये है।

एक अन्य महत्वपूर्ण घटना जिसको उपन्यास मे स्थान दिया गया है, वह है साइमन कमीशन और उसका बहिष्कार —जिसके परिणामस्वरूप लाला लाजपत राय जैसे देशभक्त की मृत्यु हुई। स्वाधीनता के पथ पर उपन्यास में जिन पृष्ठों पर साइमन कमीशन की चर्चा की गयी है उन पृष्ठों में उपन्यास का कथानक पूर्णरूप से ऐतिहासिक हो गया है। इतिहास के अनुसार साइमन कमीशन की नियुक्ति का कारण यह था कि भारत सरकार के सन् 1919 के अधिनियम के अनुच्छेद 84 के अनुसार ब्रिटिश संसद् का यह काम था कि वह दस वर्ष के बाद एक आयोग

उपन्यास में 'साइमन कमीशन' की चर्चा

1. स्वाधीनता के पथ पर : गुरुदत्त (पाँचवाँ संस्करण : पृ० 74-75)
2. वही (पृष्ठ 116, 138)

की नियुक्ति करेगी जो भारत सरकार द्वारा संशोधनों की योजना बनाएगा। इस हिसाव से आयोग की नियुक्ति सन् 1931 में होनी चाहिए थी (क्योंकि) द्वैध शासन 1921 में लागू किया गया था। किन्तु इसकी नियुक्ति 3-4 वर्ष पहले ही कर दी गयी जिसके अनेक कारण बतलाए जाते हैं, जिनमें से प्रमुख कारण यह है कि ब्रिटेन मे आगामी चुनाव का समय समीप था अतः रूढ़िदल को भय था कि मजदूर दल विजयी हो जाएगा तो (जैसा कि हुआ भी) भारत के प्रति सहानुभूतिपरक दृष्टिकोण रखेगा।[1] इतिहास के सम्बन्ध में यहाँ हमे इतना ही कहना है, क्योंकि अन्यत्र भी 'साइमन कमीशन' के इतिहास की चर्चा की जा चुकी है। प्रस्तुत उपन्यास मे भी कारणों सहित साइमन कमीशन के आगमन और उसके बहिष्कार आदि का विस्तार से वर्णन मिलता है किन्तु उपन्यास में मजदूर दल की विजय की आशंका वाली बात पर प्रकाश नही पड़ा है केवल द्वैध शासन-प्रणाली के दस वर्ष कार्य करने के बाद उस पर पुनः विचार करने की दृष्टि से आयोग की नियुक्ति की बात कही गयी है।[2] इस कमीशन के प्रधान सर जौन साइमन थे। शेष सदस्य भी गैर भारतीय थे जब कि भारतीय चाहते थे कि कुछ सदस्य उनके भी हो। ऐसा न होने के कारण देश भर मे आन्दोलन किया गया। आन्दोलन को शान्त करने के लिए एक समिति बनायी गयी जिसके सदस्य भारतीय थे। किन्तु भारतीयों ने जब देखा कि इस समिति का अस्तित्व नाममात्र का है तो वे क्रोधित हो उठे क्योंकि समिति के सदस्यों को, प्रधान जब चाहे बुलाकर पास बैठा ले, जब चाहे बाहर जाने के लिए कह दे। यद्यपि इस समिति में भी ऐसे ही भारतीय थे जिन्हें स्वयं भारतीयो का ही विश्वास प्राप्त न था तथापि महत्वपूर्ण प्रश्नोत्तर होने के समय उन्हें बाहर कर दिया गया। इस अपमान को भारतीय सहन न कर सके।[3] उपन्यास में यह नवीन तथ्य मिलता है जो अधिकाशतः इतिहास मे उपलब्ध नही होता। किन्तु शेष विवरण जैसे 'साइमन गो बैक' के नारे लगाना, पजाब केसरी लाल लाजपतराय पर डण्डो की बौछार, जवाहरलाल नेहरू पर डण्डो की मार आदि घटनाएँ इतिहाससम्मत है। इसी प्रकार स्वाधीनता की घोषणा, सैडर्स की हत्या, असेम्बली में बम फेंकने की घटनाएँ जिनकी चर्चा उपन्यास मे हुई है, इतिहास सम्मत है।[4]

---

1. भारत का संवैधानिक विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास डॉ० रथीन्द्रनाथ मिश्र: पृष्ठ 122 (प्रथम संस्करण 1966)
2. स्वाधीनता के पथ पर : (पृ० 242 से 245 तक साइमन कमीशन का विस्तृत विवरण)
3. वही पृ० 243
4. स्वाधीनता के पथ पर : पृ० 245 कांग्रेस का इतिहास : पृ० 184

नमक आन्दोलन भी इतिहास की एक ऐसी ही महत्वपूर्ण घटना है जिसको कथा-साहित्य में पर्याप्त स्थान मिला है। सरकार ने नमक कर लगाया था जिसके विरोध में गाँधीजी ने सत्याग्रह किया। वे दण्डी नामक स्थान पर गये और वहाँ उन्होंने नमक कानून विधिवत् भग किया। उनके साथ अन्य गिने-चुने सत्याग्रही भी थे। अत: सरकार ने उन्हें गिरफ्तार करके जेल भेज दिया था जिसके परिणामस्वरूप देश भर में नमक आन्दोलन प्रारम्भ हो गया और सत्याग्रहियो को पकड़कर जेलों ठूँसा गया।[1] उपन्यास में भी इस आन्दोलन को स्थान दिया गया है। कलकत्ते मे भी नमक आन्दोलन प्रारम्भ हो गया था और लोग बिना पैरवी किए, सीधे जेल जाते थे क्योंकि गाँधीजी के नियमों के अनुसार जेल जाने मे पैरवी नही करानी थी। उस सत्याग्रह में हजारों स्त्री-पुरुषो ने भाग लिया था। उपन्यासकार ने पूर्णिमा के नेतृत्व मे स्त्रियो के जिस जुलूस का वर्णन किया है,[2] जो इस बात का प्रमाण है कि पुरुषों के साथ स्त्रियों में भी राष्ट्रीय चेतना अनुप्राणित हो उठी थी। जो पूर्णिमा क्रान्तिकारी दल की सदस्या थी वही आज अहिंसा की प्रबल समर्थिका बन गयी है। (फिर चाहे मधुसूदन को छुड़ाने के विचार से ही सही) जब वह कहती है कि '...... चाहे लाठियाँ चलें चाहे बन्दूकें। हमारे नेता का कहना है कि किसी अत्याचारी के हाथों को रोकने का सबसे बढ़िया उपाय उसके अत्याचार को सहन करके भी अपने काम मे संलग्न रहना है......' तो पूर्णिमा गाँधी की अहिंसा की प्रतिष्ठा करती हुई प्रतीत होती है।

उपन्यास में नमक आन्दोलन का स्वरूप

उपन्यास में डॉ० तेजबहादुर सप्रू और जयकर के प्रयत्नों की सफलता और गाँधीजी के गोलमेज परिषद् मे जाने की स्वीकृति देने की जो बात कही गयी है वह भी ऐतिहासिक तथ्य की दृष्टि से सही और महत्वपूर्ण है। लार्ड इरविन महात्मा गाँधी का सहयोग चाहते थे और इस काम को करने के लिए सप्रू और जयकर ने मध्यस्थता की थी। ये दोनों उदारवादी नेता थे और यद्यपि गोलमेज परिषद् के दूसरे सत्र को सफल बनाना चाहते थे तथापि नेहरू जी की प्रतिक्रिया इनके प्रति कुछ उग्र थी चूँकि उनके अनुसार ये लोग सिद्धान्तो की अपेक्षा व्यक्तित्व को प्रमुखता देते थे।[3]

उपन्यास मे उस वर्ग को भी स्थान दिया गया है जिसका साध्य एक होते हुए भी साधन अलग-अलग थे। ये साधन थे बम, पिस्तौलें, बन्दूकें, डकैतियाँ आदि और

1. कांग्रेस का इतिहास : पृ० 186-195
2. स्वाधीनता के पथ पर : पृ० 321
3. "नेहरू ही क्यों" डॉ० शरदचन्द्र जैन (प्र० संस्करण 1963 पृ० 36)

उपन्यास में क्रान्तिकारियों की गतिविधियाँ

इनका प्रयोग करनेवाला दल था क्रान्तिकारी दल। धीरेन्द्र, नरोत्तम, पूर्णिमा आदि पात्र जिनकी चर्चा प्रारम्भ मे की गयी है इसी क्रान्तिकारी दल के कार्य-कर्त्ता के रूप मे प्रस्तुत किये गये है। ये अहिसा के विरोधी और हिसा के समर्थक है। रायसाहब कुज बिहारी द्वारा किये गये आयोजन मे कलक्टर की हत्या के लिए बम फेंकने की घटना इन्ही क्रान्तिकारियो के कारण घटित होती है।[1] इसी प्रकार उपन्यास मे बम बनाने के कारखाने की जो चर्चा की गयी है, भले ही वह हारानबाबू का हो जिसमें वह निटिग मशीनें तथा मोटरगाड़ी के बेयरिग बनाने की बात कहकर टाइम बम बनाता हो[2] किन्तु असलियत में ऐसे कारखाने भगतसिंह जैसे क्रान्तिकारियो द्वारा आगरा जैसे स्थानों पर स्थापित किये गये थे। इसी प्रकार क्रान्तिकारियों द्वारा सेठ कुंजबिहारी के यहाँ डाका डालने का प्रयास भी क्रान्तिकारियो के क्रिया-कलापो का उपन्यास पर प्रभाव है।[3]

स्वाधीनता के पथ पर उपन्यास के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इसमे भारत के आधुनिक इतिहास के अहिसात्मक और क्रान्तिकारी स्वरूप की अभिव्यक्ति हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यासकार ने इतिहास के अहिंसात्मक पहलू को ही अधिक श्रेयस्कर माना है। यही कारण है कि पूर्णिमा जैसे पात्र हिंसा से अहिसा की ओर उन्मुख होते दृष्टिगोचर होते है। हिन्दी के अधिकाश उपन्यासो मे, जिनमे भारतीय स्वाधीनता का इतिहास अभिव्यक्त हुआ है, अहिंसा का ही प्रतिपादन हुआ है। बयालिस (प्रतापनारायण श्रीवास्तव) और 'टेढे-मेढ़े रास्ते' (भगवतीचरण वर्मा) इसके प्रमाण है। 'टेड़े-मेढ़े रास्ते' का आतंकवादी पात्र मनमोहन मरते समय अपने साथी को आतंकवाद के इस मार्ग से हट जाने की सलाह देता है। इस तरह का आचरण परोक्ष रूप से अहिंसा का प्रतिपादन करता है। 'स्वाधीनता के पथ पर' की पूर्णिमा जब मधुसूदन से यह कहती है कि 'हाँ, भारतवर्ष के लिए ही नही प्रत्युत् सारे ससार के लिए अहिंसा का मार्ग ही एक मार्ग है[4] तब 'स्वाधीनता के पथ पर' उपन्यास मे अहिसा का प्रतिपादन होता दिखलाई पड़ता है। पूर्णिमा जैसी नारी को क्रान्तिकारिणी के रूप मे प्रस्तुत किया जाना भी इतिहास का ही प्रभाव है। बंगाल मे जिस समय आतकवाद ने जोर पकड़ा था तो अनेक स्त्रियाँ गुप्त रूप से काम करने वाले क्रान्तिकारी दलो मे सम्मिलित हो गयी थीं।

---

1. स्वाधीनता के पथ पर : गुरुदत्त : पृ० 20   2. वही : गुरुदत्त : पृ० 220
3. वही : गुरुदत्त : पृ० 171
4. स्वाधीनता के पथ पर : गुरुदत्त (पृ० 398)

बयालिस : प्रतापनारायण श्रीवास्तव (1948)

प्रतापनारायण श्रीवास्तव की गणना प्रेमचन्दयुगीन कथाकारो मे की जाती है। आपने कई उपन्यासो का सृजन किया है जिसमें 'बयालिस' नामक उपन्यास भी एक है। श्रीवास्तवजी के उपन्यास ऐतिहासिक भी है और सामाजिक भी। आप आदर्शवादी लेखक है; राष्ट्रप्रेम, मानव-प्रेम आपके आदर्शवाद के मूलतत्व रहे है। श्रीवास्तव जी को मानव से, राष्ट्र से, राष्ट्र के इतिहास और सस्कृति से अगाध स्नेह हैं। इसीलिए इतिहास और सस्कृति उन के साहित्य के माध्यम से बोलते है। यो बेकसी का मजार जैसे उपन्यास ऐतिहासिक है किन्तु 'बयालिस' जैसा उपन्यास सामाजिक होते हुए भी इतिहास को ठोस रूप मे अभिव्यक्त करने मे समर्थ है।

बयालिस : आधुनिक इतिहास का उल्लेख

'बयालिस' (1948) उपन्यास के गहन अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यद्यपि उपन्यास का कथानक सामाजिक है तथापि उसके माध्यम से जो कुछ कहा गया है वह भारत की स्वाधीनता की लडाई के इतिहास के और कुछ नही है। जैसा कि उपन्यास के शीर्षक 'बयालिस' से आभास मिलता है; सामाजिक कथानक को उपन्यासकार ने साधन बनाया है उसका साध्य इतिहास ही है। भारतीय स्वाधीनता के इतिहास का निर्माण अनेक घटनाओं से हुआ है। उनमे छोटी-बड़ी अनेक घटनाएँ संगठित हैं। जिस प्रकार 1857 का विप्लव एक महान् घटना है जिसकी ओर सभी का ध्यान बरबस चला जाता है उसी प्रकार सन् 1942 का आन्दोलन है जिसको आधार बनाकर अनेक उपन्यास लिखे गये है अथवा उन उपन्यासो में 1942 की जन क्रान्ति को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इनमे से कुछ उपन्यास ऐसे है जिनकी परिधि में 1942 के कुछ वर्ष बाद का काल आता है तो कुछ उपन्यास 1942 के पर्याप्त पहले के काल से प्रारम्भ होकर 1942 के समाप्त होते-होते समाप्त हो जाते हैं तो कुछ उपन्यास 1941-42 से प्रारम्भ होकर कुछ वर्ष बाद तक की कथा कहते है। अंचल का 'नई इमारत', यशपाल का 'झूठा-सच', सेठ गोविन्ददास का 'इन्दुमती', शेबड़े का 'ज्वालामुखी' ऐसे ही उपन्यास है। 'बयालिस' तो जिसकी काल-सीमा शीर्षक से ही विदित होती है। 1942 से प्रारम्भ होकर 1942 में ही समाप्त हो जाता है। उपन्यास का कथानक उत्तरप्रदेश के, कल्याणपुर, लखनापुर और रमईपुर गाँवों पर केन्द्रित है। रमईपुर की दरअसल घटनाओं का प्रमुख केन्द्र है जहाँ हिन्दू और मुसलमान दोनों जाति के लोग रहते हैं। चूँकि उपन्यासकार को इतिहास के परिप्रेक्ष्य में कथा कहनी थी इसलिए उसने कथा के उपयुक्त ही पात्रों का चयन किया है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि स्वाधीनता की लड़ाई को सफल बनाने में हिन्दू-मुस्लिम जनता का, क्रान्तिकारी दलों का, अहिंसा के समर्थकों का हाथ रहा था तो उसे विफल बनाने का प्रयास, विदेशी सत्ता के हाथों की कठपुतली बने जमींदारों तथा उनके गुर्गों द्वारा किया गया जो अंग्रेजों के संकेत पर हत्या करने और फूट फैलाने का कार्य करते थे। ऐसी ही प्रवृत्ति के व्यक्तियों को चुन-चुनकर कथानक का निर्माण किया गया है। सर भगवान सिंह ऐसे ही जमींदार है और जागेश्वरदयाल व अनवर उनके, फूट फैलाने वाले गुर्गे है। विद्रोह एवं आन्दोलनो तथा स्वाधीनता की लड़ाई के इतिहास को अभिव्यक्त करने वाले उपन्यासो मे प्राय: क्रान्तिकारियो अथवा विदेशी सत्ता का विरोध करने वाले पात्रो के पिता, 'राजभक्त' के रूप में चित्रित किए गिए हैं या कहिए कि 'राजभक्त' वर्ग की सन्तान को सत्याग्रही, क्रान्तिकारी या विदेशी हुकूमत की घोर विरोधी शक्ति के रूप मे चित्रित किया गया है। नई इमारत, ज्वालामुखी, टेडे मेढ़े रास्ते, और बयालिस मे ऐसे उदाहरण देखे जा सकते हैं। इसके पीछे अहिंसा के पुजारी गांधी की वह ललकार और पुकार है जिसमे उन्होंने स्कूल, कालेजों का सरकारी नौकरियो और वकालत आदि का बहिष्कार करके विदेशी सत्ता को समूल उखाड फेकने के लिए देश की जनता का, देश के नवयुवकों का आह्वान किया था। प्रस्तुत उपन्यास मे जमींदार भगवान सिंह का पुत्र दिवाकर, पुत्री माधवी और उनकी पत्नी शारदा भी उनकी शोषक वृत्ति के विरोधी है, वे उनके विरोधी होकर राष्ट्रीय हित की बात सोचते है। लखनपुर के ताल्लुकेदार की सन्तान (रणजीतसिंह और यशोधरा) भी राष्ट्र-प्रेम की भावना से अनुप्राणित है। दूसरी ओर नरेन्द्र नामक युवक क्रान्तिकारी दल का नेता है जो दल का संचालन करता है।

स्वाधीनता की लड़ाई में जमींदारवर्ग की भूमिका

भारत में अंग्रेजों की नीति 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति रही थी और उस नीति मे सफलता प्राप्त करने के लिए जमीदारों को मनमाने अधिकार दिये गये उन्होंने अपनी स्वार्थ की पूर्ति के लिए कुछ उठा न रखा। वे अंग्रेजों के पालतू हो गये और अपने ही देशवासियों पर अत्याचार करने लगे। सर भगवान सिंह व्यक्ति रूप में नही 'टाइप' रूप में चित्रित किये गये है; जो जुल्म उन्होंने ढाये वे उन्ही के नही सम्पूर्ण जमीदार वर्ग के जुल्म हैं। उनके इलाकों मे रियाया के घर लूट लिए जाते थे, स्त्रियों की बेइज्जती की जाती थी और रियाया के फरियाद करने पर जमींदार उनकी एक न सुनते थे, अधिक जोर देने पर बर्बरता का प्रदर्शन करते थे, निहत्थे लोगों पर गोली और डण्डों की बौछार करवाते थे।[1] जमीदारो ने अपने

जमींदारों के जनता पर अत्याचार

1. बयालिस : प्रतापनारायण श्रीवास्तव : पृष्ठ 42, 45

कारिन्दों को व अन्य कर्मचारियों को आज्ञा दे रखी थी कि राजनैतिक आन्दोलन की गन्ध आते ही कुचल दो, नरसहार की परवाह मत करो, घर जलाने पड़ें तो जला दो और ये कारिन्दे थे कि जमीदारो से एक कदम आगे चलते थे।[1] यदि जमीदारों का स्वभाव इस प्रकार था भी तो कोई आश्चर्य की बात नही। जो जमीदार अपनी झूठी प्रतिष्ठा, झूठे गौरव आदि की रक्षा के लिए अपने परिवार का हनन कर सकता हो तो उसकी रियाया उसके सामने कौन चीज है। भगवान सिह जमीदार ऐसे ही जमीदारों के प्रनिनिधि रूप में चित्रित किए गये हैं जो अपने लडके दिवाकर के कन्धे में बल्लम लग जाने की बात सुनकर प्रसन्न होते है क्योंकि दिवाकर उनकी निगाह मे कुलांगार है उससे वश की मर्यादा डूब जाती। जहाँ एक ओर ये जमीदार अपने निकटतम व्यक्तियो के लिए भी इतने क्रूर सिद्ध होते थे वहाँ ब्रिटिश सरकार को हर सम्भव सहायता देने के लिए तत्पर रहते थे। सम्भवत: उनकी यही धारणा थी कि शक्तिशाली अंग्रेजो के आगे निहत्थी जनता कुछ नहीं कर सकती; अंग्रेजों से फिर व्यर्थ दुश्मनी क्यों मोल ली जाए। उन्ही का साथ देने में अपना लाभ देखते थे इसीलिए सर भगवान सिह तो क्रोध में उन्मत होकर अपने पुत्र दिवाकर पर जो कि अहिंसक था, गोली चलाते है जिसके फलस्वरूप पहले वार मे गुलाब नामक तरुणी और दूसरे बार मे दिवाकर की मृत्यु हो जाती है।[2]

यह तो हुई बात उस वर्ग की जो स्वयं की दृष्टि मे राजभक्त और देश की जनता की तथा देशप्रेमियों की दृष्टि मे अत्याचारी और विश्वासघाती था। जब उस वर्ग की ऐतिहासिक गतिविधियों की चर्चा कर ली जाए जो जनता की निगाह में देशप्रेमी और सरकार की निगाह में विद्रोही था। इस वर्ग का विदेशी सत्ता का विरोध करने का अपना ढंग था जिसे न अहिंसा में विश्वास था न सत्याग्रह में। इस वर्ग का स्वभाव था, शत्रु की कमजोरी का पूरा लाभ उठाना। सन् 1939 के महायुद्ध के दौरान अंग्रेज सरकार का जो रुख रहा उससे न तो कांग्रेस ही सन्तुष्ट थी न क्रान्तिकारी वर्ग और न अन्य विरोधी शक्तियाँ। किन्तु गांधी जी के कारण जहाँ कांग्रेस का रुख आक्रामक नहीं होता था वहाँ क्रान्तिकारी वर्ग आक्रामक कार्रवाइयाँ ही करता था।

3 सितम्बर 1939 को मित्रराष्ट्रों व जर्मनी के बीच युद्ध छिड़ा जिसमें भारत को भी घसीटा गया। इधर 7 दिसम्बर 1941 को जापान का मित्रराष्ट्रो पर आक्रमण हुआ।[3] इस युद्ध के दौरान भारतीय सैनिक लड़ाई मे भरती किए गए और भारत मे इंग्लैण्ड द्वारा लड़ाई के लिए धन एकत्र किया गया। इस कारण भारतीयों मे बहुत

1. बयालिस : प्रतापनारायण श्रीवास्तव : पृ० 103
2. वही पृ० 343
3. वही पृ० 157

क्षोभ था। विदेशी सरकार ने अपने युद्ध को सफल बनाने के लिए धन इकट्ठा करने का कार्य जमीदार वर्ग की सहायता से किया। जमीदारो मे होड लगी थी कि कौन अधिक धन इकट्ठा करके दे। यही नही नरेशो और नवाबों ने वायसराय के युद्ध-कोष में उदारतापूर्वक धन दिया था। गोंदल के महाराज ने 'रायल ओक' जहाज के साथ, युद्ध में मरने वालों के आश्रितों की सहायता के लिए 7500 पौण्ड तथा हवाई युद्ध के लिए 'हैदराबाद स्क्वेड्रन' के लिए एक लाख पौण्ड की रकम दी थी। रामपुर के नवाब ने एक लाख रुपया दिया था।[1] उपन्यासकार ने नबाबो, देशी नरेशो और जमीदारों के विदेशी सरकार के प्रति कठपुतली रूप को प्रकट करने के लिए ही जमीदार सर भगवान सिंह के चरित्र में भी यह धन देने की उदारता समाविष्ट की है। सर भगवान सिंह झूठी प्रतिष्ठा के लिए 10 बमवर्षक वायुयान देते है। उनके नाम पर ही सर भगवान सिंह एयर स्क्वेड्रन चलता है।[2] किन्तु दूसरी ओर काग्रेस के अतिरिक्त अन्य क्रान्तिकारी सस्थाएँ भी जन्म ले चुकी थी जिनका आपस में विरोध होते हुए भी उद्देश्य एक था।

चर्चित उपन्यास मे क्रान्तिकारी दल का नेता नरेन्द्र विदेशी सत्ता को उखाडने के लिए दल के लोगो को प्रेरित करता है। क्योंकि अग्रेजो की शक्ति क्षीण हो गयी है हिन्दचीन, मलाया, श्याम, बर्मा आदि का जापान पर आधिपत्य हो गया है इसलिए उसके अनुसार जब अग्रेज जापानियों से भारत की सीमा पर मोर्चा लें उसी समय अंग्रेजों पर आक्रमण किया जाए रसद भेजने के मार्ग काट दिए जाएँ। उपन्यास में, क्रान्तिकारी नरेन्द्र और उसके दल के जिन क्रिया-कलापों पर प्रकाश डाला गया है उनका आधार इतिहास है। आज से 24–25 वर्ष पूर्व, क्रिप्स-मिशन की असफलता के बाद जो विद्रोह हुआ उसमे कांग्रेस के अहिंसा और सत्याग्रह, आक्रमण और तोड-फोड की कार्रवाइयो के समक्ष मन्द पड़ गए थे। डाकघर जलाए गए थे, रेलवे लाइनें उखाड़ दी गयी थीं, तार काट दिए गए थे और थानों पर कब्जा कर लिया गया था। किन्तु यह भी सत्य है कि इससे भी तीव्र गति से सरकार द्वारा दमन किया गया था और कुछ क्रान्तिकारियों ने यही निष्कर्ष निकाले थे कि हिंसा और क्रान्ति से अहिंसा का मार्ग ही अधिक श्रेयस्कर है। तभी तो 'बयालिस' उपन्यास में अहिंसा को वीरत्व नष्ट करने का सबसे सरल उपाय बतलाने वाला दिवाकर अहिसा का समर्थन करता है और क्रान्तिकारी दल का नेता नरेन्द्र भी अन्त में कहने लगता है कि 'हम अहिंसक सेना के

'बयालिस' में क्रान्तिकारीदल की गतिविधियाँ

---

1. भारत का राजनैतिक इतिहास : पृ० 283
2. बयालिस : पृष्ठ 276
3. बयालिस : पृ० 305

सिपाही हैं। सत्य हमारी ढाल है अहिंसा हमारा अस्त्र है और जनता हमारी शक्ति है। कुछ दिन पहले मै अहिंसा पर विश्वास नहीं करता था, अस्त्र-शस्त्र एकत्र करने मे लगा हुआ था······शस्त्रों से भी अधिक बल जनता मे है।' यही नही यशोधरा नामक नारी पात्र भी दिवाकर के सम्मुख अपने विचार प्रस्तुत करते समय युग-पुरुष गांधी की अहिंसा, और सत्य का समर्थन करती है।[1] जनता पथ से विमुख होकर कही हिंसा का मार्ग अपना ले इस विचार से गाधीजी अहिसा और सत्याग्रह की शक्ति और सामर्थ्य का बल बतलाने के लिए बहुधा इस प्रकार के विचार व्यक्त किया करते थे।

उपन्यास मे एक अन्य वर्ग है जो जमीदारो के सकेत पर चलता और हिन्दू मुसलमानों मे फूट के बीज बोता है। अनवर व अब्दुलगनी नामक मुसलमान पात्र ऐसे ही वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जो मुसलमानों को हिन्दुओं के खिलाफ भडकाता है। सर भगवान सिंह के संकेत पर वे यह कार्य करते हैं। इधर हिन्दुओ को मुसलमानो के विरुद्ध भडकाने का काम पण्डित जगदेश्वरदयाल करते है और मुसलमानों के प्रति हिन्दुओं में विद्रोह की भावना भरते है, पाकिस्तान बनने की बात कहकर हिन्दुओ को भयभीत करते है और बदले में इन गुर्गो को सर भगवान सिह धन देते है। वस्तुतः यह नीति अंग्रेज सरकार की रही थी जो 'फूट डालो और राज्य करो' को आधार बनाकर हिन्दू और मुसलमानों को लड़वाती थी। सर भगवान सिह भी चूँकि अंग्रेज सरकार के हाथ की कठपुतली है इसलिए उसी नीति पर वे स्वय आचरण करते दिखलाई पड़ते है।[2] इन कामों के लिए विशेष रूप से धार्मिक अवतारो की प्रतीक्षा की जाती थी त्योहारो पर, धर्म के नाम पर फिर चाहे वह हिन्दू जाति हो या मुसलमान जाति, भड़कते देर नही लगती और भड़काने वाले लोग इसी दुर्बलता का लाभ उठाया करते थे।

अनवर रमईपुर गाँव में मोहर्रम के अवसर पर ताजिए निकलने में बाधक पाकर पीपल का पेड़ कटवाता है और इसी को लेकर उपद्रव मचता है। रहीम व महीपाल सिह पीपल काटने का विरोध करते हैं और अन्त मे दिवाकर जो दोनों दलो को समझाने की चेष्टा करता है एक गुण्डे के बल्लम से आहत होता है। इस प्रकार के सारे प्रयास उन साम्प्रदायिक दंगों की ओर संकेत करते हैं जो विदेशी सरकार द्वारा अपनी 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति को सफल बनाने के लिए कराये जाते थे।

जिन अन्य ऐतिहासिक तथ्यों की अभिव्यक्ति उपन्यास मे हुई है वे है, मादक द्रव्यों का वहिष्कार, कांग्रेस का अधिवेशन, संस्थाओं का गैर कानूनी करार दिया जाना,

1. बयालिस : पृ० 112 2. वही : पृ० 152

अन्य ऐतिहासिक गतिविधियाँ

8 अगस्त 1942 का भारत छोड़ो प्रस्ताव आदि। कांग्रेस की कार्य-समिति द्वारा अनेक उपसमितियाँ बनायी गयी थीं जिन्हें भिन्न-भिन्न कार्यक्रम सौंपे गए थे। मादक द्रव्यों का निषेध करने वाली समिति भी बनायी गयी थी जिसका कार्य राजगोपालाचार्य के हाथ में था। इसके अतिरिक्त अगस्त 1939 में बम्बई में नशाबन्दी आन्दोलन चला था। इसकी चर्चा भी उपन्यास में हुई है। रमजानी नामक पात्र के ये कथन कि—'अगर कांग्रेस नशा-खोरी बन्द करती है तो बिल्कुल ठीक है······हम लोगों ने तो कसम खा ली है कि जिन्दगी में कोई नशा नही करेंगे।' —तथा—'···नशे की कोई चीज हमारे गाँव में किसी तरह नही घुस सकती। हमारे यहाँ पंचायती राज कायम होने जा रहा है······ नशा पीने वाला हमारे गाँव मे नही रह सकता'[1] कांग्रेस की मादक द्रव्यों के बहिष्कार सम्बन्धी नीति पर प्रकाश डालते है। रमईपुर में होने वाला चर्खा दंगल कांग्रेस की खादी सम्बन्धी नीति से सम्बन्ध रखता है। बम्बई में अगस्त 1942 में होने वाला अधिवेशन भारत के स्वाधीनता संग्राम की प्रमुख घटनाओं मे से एक है। इस अधिवेशन के अन्तर्गत अखिल भारतीय महासमिति ने एक प्रस्ताव 7 और 8 अगस्त को पास किया था जिसके अन्तर्गत भारत से ब्रिटिश सत्ता को हटा लेने की माँग की गयी थी,[2] उसी की चर्चा उपन्यास में हुई है। इस अधिवेशन में पास हुए प्रस्ताव की सूचना सरकार को मिल गयी थी। उसे यह भी पता चल गया था कि कांग्रेस में विभाजन हो गया है; एक दल अहिंसात्मक ढंग से निशस्त्र आन्दोलन करेगा और दूसरा दल सशस्त्र विद्रोह करने पर आमादा है। इस बात मे सत्यता थी भी। वस्तुतः सभी भारतीयों का उद्देश्य एक होते हुए भी इनके ढंग अलग-अलग थे। क्रान्तिकारी दल बम फेंकने, तोड़-फोड़ करने आदि में ही विश्वास करता था। दूसरी बात यह भी थी कि नेताओं के गिरफ्तार हो जाने से जनता पर अंकुश नहीं रह गया था और वह सरकार को ईंट का जवाब पत्थर से देती थी।[3] सरकार का सभी राष्ट्रीय संस्थाओ को गैर कानूनी करार देने सम्बन्धी सर रार्बट का कथन भी इतिहास का ही सत्य है। सरकार ने सभी संस्थाओं को गैर कानूनी करार देकर सभी प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार करके दमन प्रारम्भ कर दिया था। अगस्त मे 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास होते ही आन्दोलन की लहर उठने लगी थी; जनता ने पुलिस स्टेशनो पर अधिकार कर लिया था और कचहरी आदि पर राष्ट्रीय झंडा फहरा दिया था। उपन्यास में आन्दोलन के दौरान हुई इन घटनाओं के जो चित्र प्रस्तुत किए गए हैं वे ऐतिहासिक सत्य हैं।[4] वस्तुतः उन्हीं को आधार बनाकर उपन्यास के

1. बयालिस : पृष्ठ 247-248
2. कांग्रेस का इतिहास : पृ० 432
3. वही : पृ० 445
4. वही : पृ० 445-447, बयालिस; पृ० 318

कथानक का निर्माण हुआ है। इस आन्दोलन मे दमन भी बहुत हुआ किन्तु यह सत्य है कि सरकारी दमन के प्रस्ताव को कम करने मे उसकी शक्ति को क्षीण करने में गाँधी जी के अहिंसात्मक पहलू को लेकर चलने वाले दलों का बहुत बड़ा हाथ रहा था।

इन्दुमती : सेठ गोविन्ददास (1950)

यो, हिन्दी साहित्य जगत् मे सेठ गोविन्ददास की ख्याति हिन्दी एकाकीकार के रूप मे है किन्तु सेठ जी ने उपन्यास के नाम पर अपनी जो कृति 'इन्दुमती' नाम से प्रस्तुत की है उसका अपना निजी महत्व है। स्वयं सेठ जी के मतानुसार 'इन्दुमती' सामाजिक उपन्यास है। उपन्यास के अवलोकन से यह विदित भी हो जाता है कि उपन्यास का कथानक, भारतीय समाज के परिवारो द्वारा ही निर्मित है। इस दृष्टि से उपन्यास को सामाजिक कह देना ठीक भी है किन्तु सच पूछा जाए तो उपन्यासकार का ध्येय उपन्यास में सामाजिक चित्रण रहा ही नही है उसने तो सामाजिकों की कथा कहने के बहाने राष्ट्रीय वातावरण मे व्याप्त कांग्रेस की ऐतिहासिक गतिविधियों की शृङ्खला प्रस्तुत की है उन्हें एक सूत्र में पिरोकर रखने की चेष्टा की है। ऐसे अनेक स्थल प्रमाणस्वरूप देखे जा सकते हैं जहाँ ऐसा विदित होता है कि लेखक ने प्रत्यक्ष रूप से इतिहास को उभारा है और जब वह स्वयं मन-ही-मन अनायास चौक उठा है कि उसका विषय इतिहास चर्चा नही है उसे तो उपन्यास की कथा कहनी है तब उसने पुनः किसी-न-किसी रूप में क्षीण रूप से चलने वाली कथा को अग्रसर करने की चेष्टा की है।[1] कहने का अर्थ यह है कि 'इन्दुमती' मे यदि अधिक नहीं तो कम-से-कम आधा भार तो निश्चय ही इतिहास के कन्धो पर डाला गया है।

'इन्दुमती' उपन्यास के आकार को देखते हुए उसका कथा-पटल अत्यन्त लघु है, पात्रों की संख्या भी कम ही है, किन्तु काल-विस्तार अपेक्षाकृत बहुत अधिक है। कथानक के चारो ओर ऐतिहासिक गतिविधियो को जोड़ने के कारण ही ऐसा हुआ है। कथानक का प्रारम्भ सन् 1916 के आसपास होता है जबकि इन्दुमती की आयु 16 वर्ष की थी और कथा का अन्त लगभग 1943 की घटनाओं के साथ होता है जब इन्दुमती नैतालीस वर्ष की हो गयी है। दूसरी बात यह है कि उपन्यास की नायिका इन्दुमती, जैसा कि सामान्यतः अन्य औपन्यासिक पात्र देखने में आते हैं, 'टाइप' नहीं है उसका अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है। तीसरी बात यह है कि उपन्यास सन् 1916 से लेकर सन् 1943 तक के इतिहास की झांकी प्रस्तुत

इन्दुमती : 1916 से 1943 तक के इतिहास का अभिलेख

1. इन्दुमती : पृ० 261

करता है। कहीं केवल घटनाओं का नामोल्लेख मात्र कर दिया गया है तो किन्हीं घटनाओं का किञ्चित् विस्तृत उल्लेख हुआ है। जो हो ! इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उपन्यासकार का प्रमुख उद्देश्य ऐतिहासिक गतिविधियों से ही पाठकों को अवगत करना रहा है, कोई कथा-रूप प्रस्तुत करना कम। ऐसा सम्भवतः इसीलिए हुआ है कि उपन्यासकार स्वयं कांग्रेस का अच्छा कार्यकर्ता रहा है इसीलिए उसने अपने इस इतिहास-ज्ञान का उपन्यास-निर्माण में प्रयोग कर एक पत्थर से दो चिड़िया मारने जैसा प्रयास किया है; उपन्यास का उपन्यास और ऐतिहासिक गतिविधियों का परिचय-ग्रन्थ अलग।

यद्यपि उपन्यासकार ने इन्दुमती के चरित्र को ही विशिष्ट रूप प्रदान किया है तथापि उसकी विवाह आदि के सम्बन्ध में जो मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं[1] वे वस्तुतः तत्कालीन परिस्थितियों के परिणाम हैं। यदि हम इतिहास उठाकर देखें तो ज्ञात होगा कि 1916-17 के आसपास 'नारी स्वातन्त्र्य आन्दोलन' जोरों पर था, नारी वर्ग में चेतना प्रवाहित हो उठी थी। नारीवर्ग अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की पराधीनता के प्रति उपेक्षाभाव अपनाने लगा था। इसी प्रकार युवकवर्ग भी अपूर्व चेतना से अनुप्राणित हो उठा था। गांधी के असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ करने पर विद्यार्थी वर्ग शिक्षणालयों को त्याग कर देश सेवा की ओर अग्रसर हो गया था। इसीलिए ललित मोहन भी इसी असहयोग की पुकार सुनकर कालेज छोड़कर मुल्क की खिदमत में लग गया।[2]

मजदूरों की आवास-समस्या का चित्रण

मजदूरों के आवास की समस्या, उनके मिल मालिकों से झगड़े और उनकी हड़तालों ने भी भारतीय इतिहास के लिए सामग्री प्रदान की है। क्या तो मजदूरों के आवास की समस्या, क्या उनके झगड़े और हड़तालें, सभी के प्रति हिन्दी उपन्यासकार सचेत रहे हैं और अनेक ने अपनी कृतियों में इन घटनाओं और संघर्षों का चित्रण किया है। प्रेमचन्द के 'कर्मभूमि' और 'गोदान' में उठायी गयी इन समस्याओं पर विचार किया जा चुका है। 'इन्दुमती' में भी ये समस्या और संघर्ष प्रस्तुत किए गये हैं। इस समस्या की ओर लोगों का ध्यान विशेष रूप से सन् 1929-30 के आसपास आकर्षित हुआ जब इस सम्बन्ध में नियुक्त किए गये 'कमीशन' ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। मेरे विचार में ऐसे कमीशन की नियुक्ति 1929-30 में इंग्लैण्ड में मजदूर दल की विजय का परिणाम ही रही होगी। भारत में उसी की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप इस ओर सरकार ने भी ध्यान देने की चेष्टा की। इन्दुमती

1. इन्दुमती : पृष्ठ 16 2. इन्दुमती : पृष्ठ 267

में आवास की इस समस्या पर, ट्रेड यूनियन कांग्रेस के शिष्ट-मण्डल की रिपोर्ट देने के बहाने प्रकाश डाला गया हैं।[1] मजदूर लोग ऐसी कोठरियो मे रहे जो अत्यन्त छोटी बदबूदार हों, जिनमें हवा का नाम न हो, कीडे-मकोड़ों का साम्राज्य हो तब उनके जीवन मे सुखों की तो कल्पना ही नही की जा सकती। एक समय आया जब ऐसे गिरे हुए स्तर का मजदूर वर्ग भी नव चेतना से अनुप्राणित हो उठा। इस नवस्फुरण और जागृति के मूल में रूस की 1916-17 की अक्टूबर क्रान्ति मानी जाती है। इस चेतना का पोषण किसी सीमा तक गांधीवादी प्रवृत्तियो ने तथा इंग्लैण्ड मे सन् 1929-30 में मजदूर दल की विजय ने किया। मेरा ऐसा अनुमान है कि पीड़ित एवं दलित मजदूर वर्ग 1917 मे रूस की सफल क्रान्ति से प्रेरित होकर पूँजीवाद एव पूँजीपतियों के विरोध को ग्रहण कर हड़तालें आदि करने लगा था।[2] प्रेमचन्द के गोदान मे मिल-मालिक मजदूर संघर्ष सम्भवतः ऐसी ही किसी क्रान्ति का परिणाम या उसके पडने वाले प्रभाव की प्रतिक्रिया रहा होगा। गोदान चित्रित मिल-मालिक मजदूर संघर्ष में अत्यधिक साम्य रखने वाला संघर्ष हमे 'इन्दुमती' मे दृष्टिगोचर होता है। मजदूरों की कानपुर और लखनऊ की इन हडतालों का नेतृत्व वीरभद्र करता है और फलस्वरूप 'बनवारीलाल गिरधारी लाल ऑयल मिल' के मालिको को पराजित होना पडता है।[3] मजदूरों की विजय, उनमें जागृत नव चेतना की ओर संकेत करती है सेठ रामस्वरूप के मकान में आग लगाने की घटना से पूँजीपतियो के विरुद्ध मजदूर वर्ग की भावनाओं का अनुमान लगता है।

एक अन्य चीज जिसमें सामाजिक इतिहास के कुछ पृष्ठों के लिए सामग्री प्रदान की है वह है वनिताश्रम, जिसे कथानक में स्थान देकर उपन्यासकार ने

---

1. इन्दुमती : पृष्ठ 587
2. 1905 में रूसी क्रान्ति के बाद ही तमाम एशिया मे जनचेतना की एक नई लहर फैल गयी। 1905 से 1908 के तीन सालों मे भारतीय जन आन्दोलन इतना तीव्र हो उठा कि उसके सम्बन्ध मे लेनिन ने कहा —"भारत के मज़दूर भी सचेत हो उठे है और उनकी लड़ाई संघबद्ध राजनीतिक रूप ले रही है।";······इसके बाद ही रूस की महान् समाजवादी क्रान्ति ने दुनिया भर को सिखा दिया कि मज़दूरों और किसानो में कितनी ताकत है। भारतवर्ष मे यह प्रभाव 1919-21 के इन्कलाबी आन्दोलन में दिखाई पड़ा।'—देखिए रामेश्वरप्रसाद मेहरोत्रा द्वारा अनूदित वी० एस० वेसक्रवनी का लेख 'प्रेमचन्द' (प्रेमचन्द और गोर्की (1955) पृष्ठ 81 और 84)
3. इन्दुमती : पृष्ठ 711

नारी की अवस्था का चित्रण

सामाजिक बुराई को प्रकाश में लाने की चेष्टा की है, समाज के रगे-सियारों की धूर्तता का पर्दाफाश किया है।[1] तत्कालीन समाज में नारी वर्ग, चेतना से अनुप्राणित हो उठा था अवश्य किन्तु वह जागृति अन्त की प्रारम्भिक अवस्था थी जिसका प्रभाव शिक्षित समुदाय पर ही अधिक थे, अशिक्षित नारीवर्ग के लिए इतनी शीघ्र उसको ग्रहण कर पाना इतना सुगम नही था। यही कारण था कि वीरभद्र, की भोली अशिक्षित पत्नी पार्वती वनिताश्रम के रगे सियारो का शिकार होती हैं और अन्त मे वेश्या-जीवन व्यतीत करने को विवश होती है।[2] यो, यह समाज की एक ऐसी बुराई है जो दीर्घ काल से समाज में व्याप्त रही है, आज भी व्याप्त है और कदाचित् आगे भी रहेगी किन्तु उसका व्यापकत्व शनैः-शनैः घटता जा रहा है दिन-दिन नारी वर्ग अधिकाधिक शिक्षित और जागृत तथा चेतनानुप्राणित होता जा रहा है उसमे अपने नारीत्व और स्वाभिमान की रक्षा करने की सामर्थ्य बढ़ रही है। ऐतिहासिक घटनाओ का उपन्यास में उपलब्ध, यह परोक्ष रूप कहा जा सकता है। 'इन्दुमती' मे हमें इससे कही अधिक मात्रा में इतिहास का प्रत्यक्ष रूप देखने को मिलता है।

इतिहास का प्रत्यक्ष रूप हमारे सामने सन् 1916 से उभर कर आता है। उपन्यासकार ने कांग्रेस के सन् 1916 के अधिवेशन का उल्लेख ठीक उसी प्रकार किया है जिस प्रकार कोई इतिहासकार करता। अनेक बार ऐसा होता है कि उपन्यासकार इतिहास की घटनाओं को लेता है किन्तु कल्पना के आधार पर उन घटनाओं को एक नवीन रूप में प्रस्तुत करता है। इन घटनओं से इतिहास का आभास तो मिलता है किन्तु ध्वनित रूप में। उदाहरण के तौर पर रंगभूमि (प्रेमचन्द) के सूरदास और उसके जीवन-काल को लिया जा सकता है जो स्वयं एक अन्धा भिखारी होते हुए भी एक महान् नेता के प्रतीक रूप में उभर कर आया है जिससे न केवल गांधीजी का व्यक्तित्व वरन् उनकी गतिविधियाँ हमारे सम्मुख चित्रित हो जाती हैं किन्तु इन्दुमती में ऐसा नही किया गया है। उसमें प्रस्तुत किये गये इतिहास का किसी भी इतिहास की पुस्तक से मिलान करने पर हम देखते हैं कि उसमें शब्दों का परिवर्तन भले ही मिल जाय किन्तु घटनाओं के विवरण में पूर्णसाम्य है।[3] अमुक व्यक्ति अधिवेशन का सभापति चुना गया था, गरम-नरम दल की सूरत कांग्रेस की फूट पुनः एकता में परिवर्तित हो गयी थी, दलों के अमुक-अमुक नेता थे आदि तथ्यों का विवरण बिना किसी मिलावट के 'इन्दुमती' में उपलब्ध होता है। इसी प्रकार सन् 1917 में होम-रूम आन्दोलन, रूसीक्रान्ति, चम्पारन

---

1. इन्दुमती पृष्ठ 306
2. वही पृष्ठ 791-792
3. इन्दुमती : पृष्ठ 19 (साथ में देखिए : कांग्रेस का इतिहास) डॉ० पट्टाभि सीतारमैया : पृष्ठ 75

सत्याग्रह एवं मांटेगु चेम्सफोर्ड के आगमन सम्बन्धी घटनाओं के उल्लेख की सत्यता भी इतिहास के पृष्ठों के आधार पर सिद्ध होने वाली वस्तु है।[1]

ललित मोहन और उसके अन्य मित्रों को एक युवक द्वारा जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड का आँखों देखा हाल सुनवाने के बहाने उपन्यासकार ने स्वयं इस हत्याकाण्ड का विस्तार से वर्णन किया है। किस प्रकार हड़ताल और सभाएँ हुईं रौलटबिल का विरोध हुआ किस प्रकार माइकेल ऑडायर ने दर्दनाक हत्याएँ करवाईं और बेरहमी से कड़ी सजाएँ दीं, इसका ब्यौरेवार विवरण उपन्यास से उपलब्ध होता है जिसकी सत्यता, यद्यपि उसमें सन्देह का प्रश्न नहीं उठता इतिहास द्वारा जाँची जा सकती है।[2] सन् 1919 की अमृतसर कांग्रेस में पास होने वाले प्रस्ताव, गाँधी जी का 1920 में असहयोग लेकर अवतरित होना आदि भी इसी प्रकार की इतिहाससम्मत बातें हैं। 1920 के नागपुर अधिवेशन के बाद से ही कांग्रेस कुछ सीमित लोगों की संस्था न रहकर जनता की संस्था हो गयी थी। नागपुर अधिवेशन के साथ-साथ नागपुर में ही मुस्लिम लीग ने भी अधिवेशन आयोजित किया था जिसका मार्ग कोई भिन्न मार्ग न होकर कांग्रेस वाला मार्ग ही था।[3] सन् 1921 के मार्च माह से तो असहयोग आन्दोलन की गति बहुत तेज हो गयी, वकालत छोड़े हुए वकील, शालाएँ छोड़े हुए विद्यार्थी घर-घर गाँधीजी का सन्देश पहुँचा रहे थे, विदेशी वस्त्रों की होली जलाते तथा शराब न पीने की और खादी पहनने की प्रतिज्ञाएँ करवाते थे। सन् 1921 में प्रिंस आफ वेल्स के बहिष्कार, अहमदाबाद के कांग्रेस अधिवेशन आदि के विवरण कहीं चलते हुए हैं तो कहीं उनका विस्तृत विवरण दिया गया है। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि 'इन्दुमती' उपन्यास है ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं, ये विवरण विस्तृत ही कहे जाएँगे। विवरणों का विस्तार कहीं-कहीं इतना अधिक है कि यदि पाठक उस विवरण को ही पढ़े, आगे-पीछे की सामग्री को हिसाब में न ले तो उसे निश्चित रूप से ऐसा भ्रम हो जायेगा कि वह इतिहास का अध्ययन कर रहा है।[4]

कुछ प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख

विदेशी सत्ता से हर क्षेत्र में, हर कदम पर असहयोग करना, विदेशी वस्त्रों के परित्याग और शराब छुड़ाने के लिए धरना देना एक आम बात हो गयी थी। इन प्रवृत्तियों के पीछे राष्ट्रीयता उफान ले रही थी। इसीलिए तो ललित मोहन जैसा राष्ट्रसेवी अपने राजभक्त पिता सेठ रामस्वरूप के विरुद्ध भी पिकेटिंग करने से नहीं

1. वही : पृष्ठ 94
2. इन्दुमती : पृष्ठ 137-140 और कांग्रेस का इतिहास : पृष्ठ 94-98
3. वही : पृष्ठ 263
4. इन्दुमती : पृष्ठ 292-294

चूकता और गिरफ्तार हो जाता है।[1] असहयोग का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। असहयोग के ही अनेक कार्यों में जिनमें सरकार से असहयोग करना था, एक था 'कौन्सिल प्रवेश'। कौंसिल प्रवेश निषेध द्वारा सरकार से असहयोग करना भी इसी आन्दोलन का अंश था किन्तु आगे चलकर कुछ कांग्रेसियों ने कौन्सिल-प्रवेश की बात का समर्थन किया और इस बात को लेकर पुनः एक बार कांग्रेस में मतभेद हुआ। डॉ० अंसारी, राजाजी, राजेन्द्र बाबू आदि असहयोग के अन्तर्गत कौन्सिल प्रवेश पर लगी रोक को हटाने सम्बन्धी परिवर्तन नही करना चाहते थे, अतः ये अपरिवर्तनवादी कहलाए और देशबन्धु अजमलखाँ, मोतीलाल नेहरू आदि इस रोक को हटाकर कौन्सिल प्रवेश के पक्ष में थे इसलिए ये परिवर्तनवादी कहलाए। इन्ही परिवर्तनवादियों ने स्वराज्यपार्टी का निर्माण कर अपरिवर्तनवादी कांग्रेसियों से संघर्ष छेड़ दिया था।[2] यह सब विवरण उपन्यासकार ने प्रत्यक्ष रूप से इन्दुमती के समाचारपत्र द्वारा उपलब्ध कराया है। कौन्सिल प्रवेश और परिवर्तन व अपरिवर्तनवादियों सम्बन्धी ऐतिहासिक विवरण उपन्यासकार ने प्रत्यक्ष एवं विस्तृत रूप से प्रस्तुत किया है तो आगे चलकर 1923 से 1925 में हुई कानपुर कांग्रेस तक की विश्व एवं भारत की ऐतिहासिक गतिविधियो का केवल नामोल्लेख करके ही उपन्यासकार आगे बढ़ गया है। सन् 1925 में कानपुर वाले कांग्रेस अधिवेशन से पुनः काग्रेस और स्वराजियों मे तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गया था। परिवर्तनवादी कौन्सिलों मे जाकर अपनी नीति को भूल गए थे, कौन्सिल के मेम्बर देश-सेवा को भूल कर स्वार्थ-सिद्धि में लगे थे, उनकी मनोवृति संकीर्ण हो गयी थी।[3]

1928 के आसपास नवयुवकों की विचारधारा एक नया मोड ले चली थी। युवक वर्ग रूसी क्रान्ति के प्रभाव को ग्रहण कर रहा था, कार्ल मार्क्स और फ्रायड को समझ रहा था। इन्दुमती के कृत्रिम गर्भाधान (टेस्ट ट्यूब बेबीज) को लेकर जो विरोध समाज में उठा उसकी चपेट में बज़ीर अली का आना और क्लब से निकाल दिया जाना तथा बज़ीर अली का एक शिक्षित वर्ग का नेता बन जाना ऐसे ही युवा वर्ग में जाग्रत चेतना का प्रमाण है। यह वह समय था जब संघर्ष न केवल विदेशी सत्ता के विरुद्ध हो रहा था अपितु देश के अन्दर पूँजीवाद के विरुद्ध भी संघर्ष छिड़ गया था। अब तक देश के बाहरी फोड़े की चिकित्सा हो रही थी और सन् 1928 के आस-पास देश के अन्दुरूनी फोड़े की चिकित्सा मजदूर वर्ग करने पर उतारू हो गया था जिसके परिणामस्वरूप पूँजीपतियों और मजदूर वर्ग में संघर्ष छिड़े, दंगे हुए, हड़तालें हुई। चर्चित उपन्यास में इस संघर्ष की जो अभिव्यक्ति हुई है उसका उल्लेख प्रारम्भ में किया जा चुका है।

---

1. वही : पृष्ठ 307-308 2. वही : पृष्ठ 353-354, 358-362
कांग्रेस का इतिहास : पृष्ठ 135, 138-139, 144-146
3. इन्दुमती : पृष्ठ : 486-487

उपन्यास में जिस बात की ओर विशेष रूप से ध्यान जाता है वह यह है कि उपन्यासकार ने ऐतिहासिक गतिविधियों की कही विस्तृत तो कही संक्षिप्त चर्चा ही की है, कही घटनाओं का तारतम्य पूरा दृष्टिगोचर होता है कही विशृंखलित। उपन्यासकार ऐसी ही अवस्था में सन् 1928 तक तो जैसे-तैसे आ पहुँचा किन्तु उसके वाद तो जैसे वह ऊब उठा है; उसे कदाचित् ध्यान आ गया है, कि वह इतिहास नही उपन्यास लिख रहा है और इसका परिणाम यह हुआ है कि उपन्यासकार ने नेहरू कमेटी की रिपोर्ट से लेकर गाँधी-इर्विन समझौते तक का इतिहास वजीर अली द्वारा इन्दुमती के अनुरोध पर सुनाने के बहाने केवल नामोल्लेख किया है और उसके बाद तो जैसे उपन्यासकार मिल-मालिक व मजदूरों के झगड़े में उलझकर सब-कुछ भूल गया है। विहार के भूकम्प आदि का यद्यपि बीच में उल्लेख किया गया है तथापि छुटपुट चर्चाएँ घटनाओं के नामोल्लेख रूप मे ही हुई हैं। महायुद्ध छिड़ने तक उपन्यासकार मालिक-मजदूरों के ही संघर्ष में उलझा रहा है किन्तु महायुद्ध छिड़ते ही वह पुनः अपने उसी क्षेत्र में उतर आया है और तब पुनः हमको इतिहास के दर्शन होते हैं।

सन् 1939 का महायुद्ध और भारत

अंग्रेजों ने भारत की बिना उसकी इच्छा के द्वितीय महायुद्ध में जर्मनी के विरुद्ध घसीटने का अनुचित कार्य किया था। उसके विरोध में साम्यवादियों ने जोर पकड़ा, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी गैर कानूनी घोषित कर दी गयी थी अतः साम्यवादी गुप्त रूप से युद्ध विरोधी कार्यों में जुट गए थे। गुप्त रूप सेयुद्ध विरोधी लेख प्रकाशित करना, विज्ञापन छापना एवं पोस्टर चिपकाना उनके कार्यक्रम के प्रमुख अंग थे।[1] कांग्रेस ने सरकार की इस नीति के विरुद्ध कई प्रस्ताव पास किए।[2] सन् 1939 से 1940 तक, एक वर्ष का समय तो बिना किसी महत्वपूर्ण घटना के व्यतीत हुआ किन्तु 1940 में पुनः गाधीजी के नेतृत्व में व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ। इधर जर्मन ने फ्रांस को पराजित करने के बाद रूस पर आक्रमण किया जिसके कारण साम्यवादी रूस और ब्रिटेन मित्र हो गए। फलस्वरूप भारत के गिरफ्तार साम्यवादी छूट गए और एक नई प्रतिक्रियास्वरूप भारत के साम्यवादियो ने ही भारत द्वारा अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ी जाने वाली लड़ाई से हाथ खीच लिया। इतना ही नहीं वे भारतीयों के स्वतन्त्रता संग्राम में बाधाएँ पहुँचाने लगे थे। इधर जापान ने, युद्ध की घोषणा करते ही बर्मा मलाया में घुसना प्रारम्भ कर दिया तो भारत पर भी जापानी आक्रमण की सम्भावना को देख ब्रिटिश सरकार ने भारत में क्रिप्स-मिशन भेजा किन्तु भारतीयों की सहनशीलता समाप्तप्राय थी, उनका धैर्य जाता रहा था, नेताओं और जनता में असन्तोष व्याप्त था, क्रिप्स मिशन असफल हो गया था और 'भारत छोड़ो,' 'करो या मरो'

1. इन्दुमती : पृष्ठ : 812, 815   2. इन्दुमती : पृष्ठ 833-836

के नारों के साथ विदेशी सत्ता के विरुद्ध 'खुला विद्रोह' जन्म ले चुका था।[1] अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के 8-9 अगस्त के बम्बई अधिवेशन की समाप्ति पर तो जैसे भारत, क्रान्तिकारियों के खेल का मैदान बन गया था। क्रान्तिकारी रूपी खिलाड़ी युद्ध के मैदान में बिना चोट के भय के, विजय की आशा से खुल कर खेल रहे थे। इधर यद्यपि मुस्लिम लीग भी, अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज्य करो' नीति की शिकार होकर पाकिस्तान की माँग कर रही थी। इसी माँग की पूर्ति को उसने अपना ध्येय बना लिया था।[2] तथापि यह एक निर्विवाद तथ्य था कि क्या तो कांग्रेस और क्या मुस्लिम लीग दोनों का प्रधान उद्देश्य विदेशी सत्ता से छुटकारा पाना था। इसी से सम्भवतः हिन्दुओं के साथ-साथ बहुत से मुसलमान युवक भी सर्वप्रथम क्रान्ति में अपनी भूमिका अदा कर रहे थे।

सन् 1942 के आन्दोलन का चित्रण

सन् 1942 के इस क्रान्तिपूर्ण आन्दोलन का सूत्रपात बम्बई से हुआ जिसके प्रारम्भ होते ही विदेशी सत्ता का दमनचक्र भी प्रारम्भ हो गया था। यह विद्रोह हड़तालों, सभाओं से प्रारभ हुआ जिसकी लपटें शहरों से गाँवों तक में पहुँच गयीं। न जाने कितनी रेल की पटरियाँ उखाड़ी गयी, टेली-फोन के तार काटे गए और कितने ही थाने जला दिए गए, डाकघर लूटे गए तथा कितनी ही सरकारी इमारतों पर कांग्रेसी झण्डे फहराए गए। इसके बदले में कसूरवारों, बेकसूरों, स्त्रियों, निरीह निर्दोष बच्चों पर अत्याचार किए गए।[3] यह सभी कुछ जो सन् 1942 की क्रान्ति के समय हुआ वह उपन्यासकार की कल्पना की उपज नहीं है, इतिहाससंगत है, यदि हम इतिहास के पृष्ठ पलट कर देखें तो ज्ञात होगा कि उपन्यासकार ने तो 'सचाई' को सीमित रूप से ही चित्रित किया है वस्तुतः क्रान्ति का रूप इससे कहीं अधिक भयंकर था।[4] इस सम्बन्ध में यहाँ यही कहा जायगा कि चूँकि 'इन्दुमती' उपन्यास है इसलिए उसमें इतिहास के स्वभाव और गुण को समाविष्ट करना औचित्य को ध्यान में रखते हुए सम्भव नहीं था और सम्भवतः यही कारण है कि उपन्यासकार ने जिसका उद्देश्य ही भारत के इतिहास को प्रस्तुत करना रहा है, उपन्यास की परिणिति ऐति-हासिक तथ्यों के साथ न कर उपन्यास की नायिका इन्दुमती वृत्तान्त के साथ ही की है। वही इन्दुमती जो 'भारत रक्षा कानून' के अन्तर्गत जेल भेज दी गयी थी अब भी देश-विदेश की घटनाओं, जैसे जापान की दुर्दशा, बंगाल का अकाल, 15 अगस्त 1947 को भारत

---

1. इन्दुमती : पृष्ठ : 858
2. वही : पृष्ठ : 837
3. वही : पृष्ठ 867-868
4. कांग्रेस का इतिहास : डॉ० पट्टाभि सीतारमैया (पृष्ठ 445-447)

की स्वतन्त्रता और पाकिस्तान की स्थापना आदि की घटनाएँ सुनती थी[1] परन्तु जैसे उनका उस पर कोई प्रभाव ही न पड़ना हो।

यह बृहदाकार उपन्यास कथा कम कहता है, इतिहास विवेचन अधिक करता है। जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि चर्चित उपन्यास के अध्ययन से विदित होता है कि उपन्यासकार का उद्देश्य देश के इतिहास की विशद् झाँकी प्रस्तुत करना रहा है और चूँकि लेखक की लेखनी इतिहास-पथ की नहीं साहित्य-पथ की अनुगामिनी रही है अतः उपन्यासकार ने भी साहित्य की उपन्यास नामक विधा के माध्यम से प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है।

बीज : अमृतराय 1950

जैसा कि उपन्यासकार ने स्वयं लिखा है, उपन्यास प्रारम्भ करने से पहले 'बीज' सन् 1950 में अंकुरित हुआ और उसके चरम विकास की परिणति हुई 1952 में। किन्तु जब हम बीज का साहित्यिक विश्लेषण करने बैठते हैं तो देखते है कि उसके पोषण के लिए जिस खाद-सामग्री का उपयोग किया गया है उसका सचय उपन्यासकार ने बहुत पहले से प्रारम्भ किया है। उपन्यासकार ने सन् 1929-30 की घटनाओं और वातावरण के बीच पहुँचने की चेष्टा की है और फिर आगे की ओर बढ़ता चला आया है। इस प्रकार सन् 29-30 से लेकर देश के विभाजन के समय तक के बीच व छोटी-बड़ी घटनाओं के सहारे उसने एक प्रेम-कथा को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उपन्यास के पात्र सामाजिक है, वे इतिहास-पुरुष नहीं हैं किन्तु उन्हें ऐतिहासिक व्यक्तियों, ऐतिहासिक घटनाओं और ऐतिहासिक वातावरण से जैसे अत्यधिक लगाव है। प्रफुल्ल बनर्जी का परिवार, दमयन्ती और साहनी का लघु परिवार, सत्य और ऊशा की जोड़ी, राजेश्वरी का जीवन, समाज में विभिन्न-विभिन्न परिस्थितियों से जूझते हुए आगे बढ़ते चलने वाले मनुष्य की जीवन-झाँकियाँ प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर तो उपन्यास भारतीय समाज का दर्शन कराता है किन्तु साथ ही बहुत सरल ढंग से इतिहास की कुछ चुनी हुई घटनाओं के हल्के-फुल्के स्वरूप को भी उपन्यास मे प्रस्तुत किया गया है। ऐसी ही ऐतिहासिक घटनाओ का अवलोकन हम करते आए हैं और यहाँ भी करेंगे।

'बीज' नमक कानून से प्रारम्भ होकर, अशफाकउल्ला, बिस्मिल और भगतसिंह जैसे शहीदों की शहादत, गाधी जी के व्यक्तिगत सत्याग्रह, 1942 के आन्दोलन, बंगाल के अकाल आदि का चित्र कलनापट पर उभारता तथा देश के विभाजन की घटनाओं से हमें अवगत कराता है। बीच-बीच में समाज में सदा वर्तमान रहने वाली समस्याओ जैसे

1. इन्दुमती : पृष्ठ 932

ज्योतिषियों, पण्डितों के पाखण्ड, अनमेल विवाह, दहेज प्रथा, भ्रष्टाचार आदि की ओर भी पाठक का ध्यान आकर्षित करता चलता है।

कथा साहित्य में इतिहास की अभिव्यक्ति कई प्रकार से होती है। यदि उपन्यास ऐतिहासिक है तो उपन्यासकार ऐतिहासिक व्यक्तियो को उनके वास्तविक नाम से प्रस्तुत करता है और वे ऐतिहासिक पात्र अपनी ही अदा की गयी भूमिका का ब्यौरा प्रस्तुत करते हैं। यदि ऐतिहासिक घटनाएँ सशक्त रूप मे नही आयी हो और पात्रों के नामों पर दूसरे नामों का आरोप किया गया हो तो ऐसी अवस्था में इतिहास परोक्ष ढंग से हमारे सामने आता है। पाठक को मस्तिष्क पर जोर देना पड़ता है इतिहास के स्वरूप को समझने के लिए। उदाहरण के तौर पर रगभूमि के सूरदास को लीजिए। सूरदास नाम का गांधी के नाम पर आरोप किया गया है और उनकी अहिंसात्मक वृत्ति ज्यों-की-त्यों सूरदास ने ग्रहण की है। यों सूरदास ऐतिहासिक व्यक्ति नही है किन्तु उसके जीवन और क्रिया-कलापों का जो स्वरूप प्रेमचन्द ने उपन्यास में चित्रित किया है वह बरबस ही पाठक को संकेत दे देता है कि हो-न-हो यह सूरदास और कोई नही अहिंसा का पुजारी गांधी है, इसकी गतिविधियाँ गांधी की गतिविधियाँ है और इस प्रकार इतिहास की घटनाएँ पाठक के मानस पटल पर अंकित हो जाती है। कई बार उपन्यासकार जब अपनी ओर से पृष्ठभूमि बतलाते समय टीका-टिप्पणी करता है तब भी इतिहास प्रत्यक्ष रूप से उभर कर सामने आता है। एक अन्य ढंग इतिहास को प्रस्तुत करने का यह है कि उपन्यास के पात्र सामाजिक होते हैं उनके क्रिया-कलाप, गतिविधियाँ समाज के आँचल में घटित होती हैं जिनमें इतिहास नाम की कोई चीज नहीं होती किन्तु ये सामाजिक पात्र अपने सामाजिक जीवन में अग्रसर होते समय ऐतिहासिक पात्रों, ऐतिहासिक घटनाओं की चर्चा करते हैं, उनका सहारा लेते है, अपने जीवन का निर्माण करते समय उनसे प्रभावित होकर कई बार अपना जीवन-पथ ही मोड़ देते हैं। अमृतराय ने 'बीज' उपन्यास में इतिहास को इसी रूप में प्रस्तुत किया है।

'बीज' में नमक आन्दोलन का चित्रण

सत्य उपन्यास में सामाजिक पात्र है उसका इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु वह भगतसिंह, अशफाकउल्ला, चन्द्रशेखर आजाद जैसे वीरो की चर्चा करता है, उनके जीवन से प्रभावित होता है।[1] उपन्यासकार सत्य के प्रारम्भिक जीवन का परिचय देते समय उसके स्वभाव पर भी हल्का-सा प्रकाश डालता है। 'सत्य' को लड़कपन के दिन याद हैं, यह बतलाने के बहाने वह देश में उस समय नमक कानून के विरुद्ध चल रहे आन्दोलन की चर्चा करता है और इस प्रकार इतिहास का प्रत्यक्ष रूप हमारे सामने आता है। सत्यवान को अपने लड़कपन के वे दिन याद हैं 'जब पार्क

1. 'बीज' (दूसरा संस्करण 1959) पृ० 12-14

में नमक बनाया जाता था और सड़कों पर हजारो आदमियों के जुलूस निकलते थे, जब लाख-लाख दो-दो लाख लोगों की मीटिंगें होती थी जिनमें तिल रखने को जगह न होती थी,··· ··अशर्फी पार्क में जब नमक बनाया जा रहा था। तब उस नमक के कडाहे के लिए पुलिसवालों और वालंटियरों में कैसी छीना-झपटी हुई थी।[1]··· ···

अंग्रेज सरकार के 'नमक कानून' के विरुद्ध गांधीजी ने आन्दोलन छेड दिया था। यह इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। मार्च 1930 में गांधीजी ने दण्डी यात्रा की और नमक कानून तोडा जिसके पीछे लाखों-करोड़ों की संख्या में देशवासियों का समर्थन था। विदेशी हुकूमत के जुल्मों को सहकर भी उसका विरोध भारतीयो ने किया था जिसका उल्लेख उपन्यासकार ने अपने उपन्यास में बडे कौशल के साथ किया है। सत्यवान नामक यह पात्र जहाँ एक ओर भगतसिह, चन्द्रशेखर आजाद, बटुकेश्वर दत्त और अशफाकउल्ला से प्रभावित है वहाँ गाँधी के नमक कानून के विरुद्ध आन्दोलन से भी वह उतना ही प्रभावित प्रतीत होता है।

उपन्यास के नायक सत्य पर अहिंसा का प्रभाव

अतन्त: तो हम सत्य को गांधीवादी विचारधारा मे ही प्रवाहित होते देखते है। उसे यह भान होने लगता है कि क्रान्तिकारियों का रास्ता सही रास्ता नहीं है, आजादी का रास्ता नही है, उन्होंने जो रवैया अपनाया उसकी उन्हें बहुत बड़ी कीमतें चुकानी पड़ी।[2] उनका रवैया ऐसा था जो केवल उन जैसे ही दस–पाँच वीरों द्वारा अपनाया जा सकता था आम जनता द्वारा नहीं और इसी से सफलता कोसों दूर रही। गांधी का रास्ता सत्य की निगाह में सही रास्ता है आजादी को पाने का। गांधी की पुकार पर देश की समूची जनता दौड़ी आती है। असख्य लोगो का जहाँ सहयोग हो वहाँ सफलता आखिर कब तक उनके कदमों को न चूमेगी। देश की करोड़ों जनता को पीछे छोड़कर आजादी की लड़ाई नही लड़ी जा सकती।[3]

गांधी जी के व्यक्तिगत सत्याग्रह और सन् 1940 मे ही इग्लैण्ड द्वारा भारत को बिना उसकी इच्छा के युद्ध में घसीटने, लड़ाई के दौरान काले बाजार पनपने की जो चर्चा उपन्यास में की गयी है, इतिहाससम्मत है।[4], सन् 1942 का आन्दोलन आंधी और तूफान के वेग के समान आया था। लोग आक्रोश में थे। सत्य की निगाह में तो हिन्दुस्तान में भी इन्क्लाब की घड़ी आ पहुँची थी और उन्ही इन्क्लाबी विचारों में, वह रेल की पटरी के पास सन्देहजनक हालत में घूमता हुआ पकड़ा गया था। जेल से छूटने के बाद वह राज (राजेश्वरी) और अमूल्य आदि से भेंट करता है। भेंट के दौरान वार्तालाप भी होते हैं। सत्य और अमूल्य के वार्तालाप के माध्यम से ही उपन्यासकार

1. वही पृ० 11-12
2. बीज पृष्ठ 17
3. वही पृष्ठ 18
4. कांग्रेस का संक्षिप्त इतिहास पृष्ठ 390, 392, और बीज पृष्ठ 18, 20

बंगाल के अकाल को भी ला उपस्थित किया है और इस प्रकार सामाजिक पात्रों के माध्यम से ऐतिहासिक तथ्य को प्रस्तुत किया है।

अकाल का प्रारम्भ हुआ ही था। विभिन्न इलाको को भूखों की भीड़ का छोड़ कर जाना, प्रारम्भ हो गया था, मौतें होनी भी शुरू हो गयी थीं। सरकार के डर से अखबार अकाल सम्बन्धी समाचारों के सम्बन्ध में मौन साधे हुए थे, किसी हिम्मत वाले सम्पादक के छाप देने पर ही वस्तुस्थिति स्पष्ट होती थी। सरकार खाद्य-सामग्री सेना के लिए भेज रही थी; गल्ला ईराक, रंगून और सिङ्गापुर जा रहा था, और लोग बंगाल में भूखों मर रहे थे।[1] कुछ लोगों के मतानुसार 'अकाल' की स्थिति अंग्रेजो द्वारा पैदा की गयी थी जिसका एक उद्देश्य यह था कि लोग भूख से पीड़ित हों और झख मार कर सेना में भरती हों।[2] दरअसल 'अकाल' की स्थिति के कारण मिले-जुले थे। युद्ध मोर्चों पर सेना के लिए गल्ला पहुँचाना एक कारण था तो देश के ही मुनाफाखोरो और जमाखोरों द्वारा फसल को सरकारी दर से कुछ अधिक कीमत पर चावल खरीदकर 'ब्लैक' मार्केटिंग करना दूसरा कारण था। तभी तो चावल पचास, साठ और सत्तर रुपये मन तक बिक रहा था। साम्राजवादी सरकार को क्या पड़ी जो उस पर रोक लगाए।[3] नन्हें-नन्हें चच्चे दम तोड़ रहे थे, जवान लड़कियाँ जाल में फँसी मछलियों की तरह छटपटा रही थीं...... ऐसा था यह बंगाल का अकाल मुनाफे का जाल आदमी भूख से बेहाल, उनकी जेबों में माल......[4] इधर लोग पेड़ की छाल और पत्ते तथा घास खा रहे थे बाप अपने हाथ से लड़की को रंडी के दलाल के हाथ बेच रहा था, माँ अपने बेटे का कौर छीन कर खा रही थी।[5]

बंगाल के अकाल की घटना इतिहास समर्थित है, यह क्रमशः 'विषाद मठ' और 'महाकाल' उपन्यासों में बतलाया जा चुका है। देखने में आया है कि प्रायः उपन्यासकारों ने भारत के आधुनिक इतिहास में अहिसा की लड़ाई को और उसमें भी सन्-1942 की क्रान्ति को विशेष महत्व प्रदान किया है। इसका प्रधान कारण यह है कि यह बहुत ही बड़े पैमाने पर हुई जन क्रान्ति थी जिसका स्वतन्त्र भारत के निर्माण में बहुत बड़ा हाथ रहा है। इसीलिए सम्भवतः इस ऐतिहासिक घटना को महत्व दिया जाता रहा है। किन्तु कुछ ऐसे भी ऐतिहासिक तत्व हैं जिनका महत्व स्वतन्त्र भारत के निर्माण मे किसी तरह कम नही होते हुए भी साहित्य के क्षेत्र मे उन्हे अपनाने की कम ही चेष्टा की गयी है। ऐसे ही तत्वों मे एक है आजाद हिन्द फौज जिसके साथ सुभाषचन्द्र बोस का नाम जुड़ा हुआ है।

1. बीज : अमृतराय पृष्ठ 41 2. वही पृष्ठ 42
3. पृष्ठ 44 प्रफूल्लबाबू, अमूल्य और सत्य का वार्तालाप
4. पृष्ठ 48 5. पृष्ठ 51

आजाद हिन्द फौज का सुव्यवस्थित संगठन नेताजी ने किया जिनका नाम लेते ही आज भी नौजवानो में जोश उत्पन्न हो जाता है। 'बीज' उपन्यास में आजाद हिन्द फौज की चर्चा करके अमृतराय ने साहित्य के माध्यम से इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना को प्रस्तुत किया है।[1] 'बीज' में उपन्यासकार ने आजाद हिन्द फौज के जिन आधार स्तम्भो के नामो का उल्लेख किया है वे ऐतिहासिक व्यक्ति है। ढिल्लन, सहगल और शाहनवाज खाँ और कैप्टेन लक्ष्मी, ये सभी आजाद हिन्द फौज के ऐसे स्तम्भ रहे है जो अपने आप को सैनिक समझकर ही सदा विदेशी सत्ता के विरुद्ध लड़े है।[2] इनमे लेफ्टीनेन्ट कर्नल शाहनवाज खाँ सेना के प्रतिनिधि और कप्तान श्रीमती लक्ष्मी महिला संगठन (जिसका नाम था 'रानी झाँसी रेजीमेन्ट') की नेत्री थी।[3] दुर्भाग्यवश आजाद हिन्द फौज को पराजित होना पड़ा। उसके बचे हुए जिन लोगो पर विदेशी हुकूमत ने मुकदमा चलाया उनमे शाहनवाज खाँ, ढिल्लन और सहगल थे। इनके भाग्य का फैसला जनता ने जैसे अपने हाथ में ले लिया था। मीटिंगें होती, चर्चाएँ होती, गोलियाँ चलती, किन्तु जनता की इकाई छिन्न-भिन्न नही हुई। जो हो इस सम्बन्ध में लोगो की यह धारणा रही है कि जन-आन्दोलन के कारण ही कर्नल शाहनवाज खाँ और उनके साथियों को मुक्त कर दिया गया था। किन्तु मन्मथनाथ गुप्त ने अपनी पुस्तक "भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास" मे लोगो की इस धारणा को भ्रामक बतलाया है।[4]

उपन्यास में आजाद हिन्द फौज की चर्चा

जैसा कि प्रारम्भ मे कहा जा चुका है, 'बीज' उपन्यास की कथा प्रेम-कथा है। इसके कथानक का चयन समाज के बीच से हुआ है। अतः उपन्यास भी स्वभाव से सामाजिक ही है। किन्तु कथानक के निर्माण में इतिहास का भी प्रमुख हाथ रहा है। जिस प्रकार नमक कानून, आजादी के दीवाने भगतसिंह और अशफाकउल्ला तथा असहयोग आन्दोलन आदि के ऐतिहासिक विवरण से कथानक पुष्ट हुआ है उसी प्रकार सन् 1942 के आन्दोलन के इतिहास का सहारा लेकर भी कथानक को विस्तार मिला है, कथानक का मार्ग प्रशस्त हुआ है। इतिहास की इस प्रमुख घटना का प्रारम्भ, उपन्यास में 'माउन्ट बैटन' योजना से हुआ है। अमूल्य (प्रफुल्ल बनर्जी का सबसे बड़ा पुत्र) उक्त योजना को हिन्दुस्तान मे अपने पैर टिकाये रखने की ब्रिटिश शासन की आखिरी साजिश बताता है। उसके भाषण का प्रारम्भ ही माउण्टबैटन योजना की

कुछ अन्य ऐतिहासिक घटनाएँ

1. बीज : अमृतराय : पृष्ठ 148   2. वही पृष्ठ 149
3. भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास : मन्मथनाथ गुप्त, पृष्ठ 515-516
4. भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास : मन्मथनाथ गुप्त, पृष्ठ 518

आलोचना से प्रारम्भ होता है।[1] 'माउन्टबैटन योजना' ऐतिहासिक सत्य है, भारत के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है जिसका बड़े पैमाने पर जबर्दस्त विरोध हुआ था और बदले में गिरफ्तारियाँ हुई थी। अमूल्य नामक पात्र ऐसी ही गिरफ्तारी की चपेट में आता है। अंग्रेजी सरकार उन दिनों बहुत सतर्क थी। यह साम्राज्यवादी विदेशी सरकार जहाँ अपना विरोध होते देखती कि दमन करना प्रारम्भ कर देती थी। तलाशियाँ होती थीं, धर-पकड़ होती थी। इधर भारत का नौजवान वर्ग ही नही, बच्चा-बच्चा सरकार के विरुद्ध क्रान्ति करने पर तुला था। प्रफुल्ल का छोटा पुत्र ज्योति भी पोस्टर चिपकाते समय पकड़ा जाता है। पोस्टर उस क्रान्ति के समय का एक प्रधान अंग था। जनता को उत्तेजित करने, उन्हें सही स्थिति से अवगत कराने व मार्ग-दर्शन करने का कार्य पोस्टरों के माध्यम से होता था। यह काम बड़ी ही सावधानी से किया जाता था क्योंकि पोस्टर चिपकाते हुए पकड़े जाने पर सजा भुगतनी पड़ती थी, जेल जाना होता था।

पोस्टरों के माध्यम से अपने कार्यक्रम को अभिव्यक्त करना, जनता को मार्ग दर्शाना सन् 1942 के आन्दोलन या विद्रोह की एक प्रमुख विशेषता थी, क्योंकि जन साधारण को एकत्रित करना और उनके बीच खुलेआम विदेशी सरकार के विरुद्ध क्रान्ति के बीज बोना सम्भव नही था। इसीलिए कार्यकर्ता पोस्टरों की सहायता लेते थे। पोस्टर गुप्त स्थानों पर गुप्त ढंग से तैयार होते थे ओर रात के अँधेरे में उन्हे चिपकाया जाता था। रामेश्वर शुक्ल अंचल के उपन्यास 'नयी इमारत' में भी इसकी चर्चा हुई है। महमूद नामक पात्र यह काम करता है। 'बीज' उपन्यास मे यही कार्य ज्योति नामक पात्र करता हुआ दिखलाई पड़ता है और अंततः गिरफ्तार होता है।

'बीज' में इतिहास से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं को लेखक ने बड़े ही कौशल के साथ कथासूत्र में पिरोया है। किसी एक घटना को प्रस्तुत करने के बाद वह कथानक के सामाजिक रूप को ही हमारे सन्मुख ले आता है। पोस्टर की घटना के बाद भी उसने ऐसा ही किया है। पोस्टर की घटना के बाद 28-30 पृष्ठो मे कथानक का सामाजिक रूप ही देखने को मिलता है। इसके बाद एकाएक उपन्यासकार ने पुनः इतिहास को स्थान दिया है, मानो वह एकाएक चौंक उठा हो और एक ही वाक्य के माध्यम से कि 'अरुण अभी सो ही रहा था और उधर हिन्द का अरुणोदय हुआ'[2] वह वह कथानक को स्वतन्त्रता दिवस पर खीच लाया है।

देश 15 अगस्त 1947 को स्वतन्त्र हुआ था। उसी दिन को पृष्ठभूमि मे रखकर लेखक ने 1947 के तुरन्त बाद की घटनाओं का व्यंग्यात्मक ढंग से उद्घाटन किया है। स्वतन्त्रता के साथ ही देश का विभाजन हुआ या कहिए कि देश के

1. बीज : पृष्ठ 210 2. बीज : पृष्ठ : 289

उपन्यास में देश के विभाजन के समय का चित्रण विभाजन के साथ ही स्वतन्त्रता मिली। देश के विभाजन के समय बड़ी ही दर्दनाक और भयावह स्थिति थी। एक ओर स्वतन्त्रता दिवस की खुशी में लोग दीपक जला रहे थे तो कही होली जल रही थी, मकानों की, जिस्मो की, आबरुओ की·· ···बूढ़े, जवान और बच्चे भूने जा रहे थे।[1]······देश के विभाजन के समय यही स्थिति हो गयी थी। मजदूरों के, किसानों के दुःख दूर नही हुए थे, सूदखोर महाजन स्वतन्त्र भारत मे भी किसानों को चूस रहा था, मजदूरों की आवास समस्या ज्यों-की-त्यों थी·· ·· और धीरे-धीरे करके सारी आशाएँ धुआँ हो गयी[2]····· उपन्यासकार ने यहाँ स्वातन्त्र्योत्तर इतिहास प्रस्तुत किया है। कांग्रेस ने सजा पाने के बाद ऊपरी तौर पर दिखावे के लिए कभी अयोग बैठाये तो कभी समिति नियुक्त की, किन्तु मजदूरों और किसानो आदि की समस्याएँ हल न हो पायी, उल्टे बुर्जुआ वर्ग शक्तिशाली बनता गया।

विदेशी ब्रिटिश सत्ता विदा हुई, कांग्रेस ने सत्ता हथियाई। लोगो ने देखा 'स्वराज' मिला किन्तु 'बीज' में छिपे इतिहास से ध्वनित होता है कि भारतीय जनता भुलावे में रही। उसने सोचा था स्वराज में सुख होगा, अमन चैन होगा किन्तु असलियत कुछ और ही सिद्ध हुई। 'सत्ता' सत्ता है उसमें 'शक्ति' का नशा होता है फिर चाहे वह ब्रिटिश हुकूमत हो या कांग्रेस हुकूमत, अत्याचार तब भी हुए और अब भी कम नही हुए। कैदियों को खाना ठीक न मिले और जब वे विरोध करे तो लाठी चार्ज हो, उनका सिर फूटे, आजाद हिन्दुस्तान के मजिस्ट्रेट जल्लादी दिखलाने में ही अपनी गौरव समझें।[3] इसी प्रकार कांग्रेस के इशारे पर पलने वाले उनका ही अनुकरण करें। समाचारपत्रों में भी विचार-स्वातन्त्र्य पर पाबन्दी लगे, रूस की खबरें छापने पर कर्मचारी की नौकरी छीन ली जाए।[4] यह सब प्रारम्भ हो चला था स्वतन्त्रता के बाद। कहने का अर्थ यही है कि स्वतन्त्रता नाम की ही रही, गुलामी की जकड़न तो पहले से भी कहीं अधिक बढ़ गयी। अछूतोद्धार हुआ ·भी तो नाममात्र के लिए, अछूत की जगह हरिजन शब्द आ गया पर छूत और अछूत के बीच का फासला ज्यों-का-त्यो बना रहा। कांग्रेसियों का यह अछूतोद्धार ढकोसला सिद्ध हुआ।[5] कांग्रेस अछूतोद्धार का स्वाँग तो रचाती है परन्तु अछूतों के कष्ट और उनकी असुविधाएँ सुनना नही चाहती। यही कारण था कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद विदेशी सत्ता के स्थान पर कांग्रेस हुकूमत के विरुद्ध भी आन्दोलन होने लगे, हड़तालें प्रारम्भ हो गयीं। हरिजनों

स्वतन्त्र्योत्तर देश की अवस्था का चित्रण

---

1. वही पृष्ठ : 250
2. वही पृष्ठ 251-253
3. बीज : पृष्ठ : 344, 345
4. वहीं पृष्ठ 368
5. वही पृष्ठ 392

तक ने हड़तालें कीं[1] क्योंकि उनकी असुविधाओं के प्रति कांग्रेस की कोई सहानुभूति नहीं थी। हड़ताल का नेतृत्व उषा करती है और नेतृत्व करते समय अन्य लोगों के साथ घायल होती है।

इन हड़तालों, आन्दोलनों और विरोध प्रदर्शनों मे 'बीज' के रचयिता की आस्था है, वह उनका समर्थक है। तभी तो सत्य के मुख से उसने कहलवाया है, 'उषी तू नहीं जानती, तेरे इस घाव मे हमारे नये जीवन के विराट अश्वत्थ का बीज छिपा हुआ है, हमारे नये सुख का बीज, नए प्रभात का बीज'[2]......'बीज' नामकरण की सार्थकता भी इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाती है। उपन्यासकार ने इन सब ऐतिहासिक घटनाओं के अतिरिक्त समाज के सदियों से चले आने वाले दोषों, ज्योतिषियों का पाखंड, अनमेल विवाह, दहेज प्रथा आदि का विवरण भी बीच-बीच मे बड़े ही कौशल के साथ प्रस्तुत किया है।[3]

इस प्रकार बीज का कथानक अपनी परिधि मे विदेशी-सत्ता के समय के नमक कानून, असहयोग आन्दोलन से लेकर कांग्रेसी हुकूमत की स्थापना के बाद हुई हड़-तालों और आन्दोलन आदि ऐतिहासिक गतिविधियों को समेटे हुए है। यद्यपि उपन्यास निस्संदेह सामाजिक है किन्तु उसके आंचल में इतिहास का पोषण भी बड़े ही स्वाभाविक एवं सुन्दर ढंग से हुआ है।

बाबा बटेसर नाथ : नागार्जुन 1954

नागार्जुन ने हिन्दी उपन्यास साहित्य को अब तक, लगभग आठ उपन्यास दिये हैं। आंचलिकता के साथ-साथ आधुनिक युग में व्याप्त वर्ग-विषमता, शोषण, रूढ़ियों और परम्पराओं का तथा जमींदारी प्रथा और पूजीवाद का विरोध आदि इन उपन्यासों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। अपने उपन्यासों के माध्यम से नागार्जुन ने उक्त दोषों का ह्रास और बढ़ती हुई सामूहिक, सामाजिक चेतना की प्रगति का सही रूप चित्रित कर उपन्यासों को यथार्थ की भूमि पर ला खड़ा किया है।

बाबा बटेसरनाथ (1954) लेखक की एक प्रौढ़ प्रयोगवादी रचना है जिसका कथानक बिहार प्रान्त के रूपउली ग्राम से चुना गया है। जमींदारी उन्मूलन, भयंकर दुर्भिक्ष, गोरों का विरोध और गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन तथा अशिक्षित रूपउली निवासियों के आपसी झगड़ों को लेकर उपन्यासकार ने कथानक का निर्माण किया है। प्रस्तुत उपन्यास की शैली नवीन न होते हुए भी आकर्षक है। 'बटेसर नाथ' की शैली की अपनी विशेषता है। बाबा बटेसरनाथ, बरगद के पेड़ का सुसंस्कृत नामकरण है।

1. वही पृष्ठ 402 2. वही पृष्ठ : 412

3. बीज : पृष्ठ क्रमशः 4, 7-9, 119-120, 197

इन्ही बटेसर नाथ के माध्यम से जिनका उपन्यासकार ने मानवीकरण कर दिया है, कथानक प्रारम्भ होता है। बटेसरनाथ द्वारा जैकिसुन नामक युवक को आप बीती सुनाने के बहाने लेखक ने एक निश्चित काल की, अतीत और वर्तमान की घटनाएँ प्रस्तुत की हैं जिनको इतिहास की परिधि में समेटा जा सकता है। वस्तुतः बाबा बटेसर नाथ जैकिसुन को अतीत की घटनाओ से ही अवगत कराते है। 1942 का आन्दोलन तो जैकिसुन के लिए 'आँखो देखा तमाशा' था।[1] अतः, बाबा बटेसर नाथ इसमे पूर्व के इतिहास के इतिहास से जैकिसुन को अवगत कराते हैं।

उपन्यास मे इतिहास का प्रारम्भ होता है जमीदारी उन्मूलन से। काग्रेस वालोकी पहली मिनिस्ट्री का जमाना था।[2] जमीदार घबरा गए थे। किन्तु चूँकि पहले से चौकस थे इसलिए उन्होने सार्वजनिक उपयोग की भूमि चोरी-छिपे वेचनी प्रारम्भ कर दी थी। यही नही, उनके बागो के फल, जो केवल दरबारियो और बड़े अफसरों के यहाँ सौगात रूप मे जाया करते थे वे भी बाजार मे औने-पौने दाम पर बिकने लगे। जमीदारों को नकदी बनाने की धुन थी।[3]······जाते-जाते भी ये राजा, जमीदार भू-स्वामी और सामन्त चाँदी काट रहे थे। घोड़े की कीमत पर हाथी, बछड़े की कीमत पर घोड़ा और बिल्ली की कीमत पर बछड़ा हटा रहे थे। इधर काग्रेस सरकार उल्टे, सामन्तो को ज्यादा-से-ज्यादा हरजाना देने की तिकड़म भिड़ा रही थी, जमीदारी प्रथा का नकली श्राद्ध किया जा रहा था।[4] जमीदारों की निर्दयता और अत्याचारों की सीमा न थी, वे सर्व-सर्वा होने के नाते मनमानी करते थे। मुँहलगों के कहने मे आकर इलाके के किसी भी व्यक्ति को सजा दे देना उनके लिए साधारण बात थी। हाथ ऊँचे करवा कर लाल चीटो के छत्ते से कटवाने की सजा जो कि शत्रु मर्दनराय को दी गई वह इस बात का प्रमाण है।[5] जमीदार लोग इलाके की जनता से लगान वसूली तो निर्ममता से करते थे किन्तु संकट के समय में उनके प्रति सहानुभूति नाममात्र को भी रखते थे। उनकी बला से किसान हो या फिर अन्य कोई व्यक्ति, मरे चाहे जीए इस बात से उन्हें कोई सरोकार नही था।

बंगाल और बिहार एक-दूसरे की सीमा से मिले हुए प्रान्त हैं और दोनो ही प्रान्तों को अनेक बार दुर्भिक्ष का सामना करना पड़ा है। लाखों लोग 'अकाल' के कारण अकाल ही, काल के गाल में समा चुके है, इतिहास इस बात का

1. बाबा बटेसर नाथ : नागार्जुन : पृष्ठ 105 प्रथम संस्करण 1954.
2. बाबा बटेसर नाथ : नागार्जुन : पृष्ठ 14, प्रथम संस्करण 1954
3. वही पृष्ठ 36
4. वही पृष्ठ 37
5. वही पृष्ठ 47

बिहार में सन् 1876-78 में पड़े दुर्भिक्ष का उल्लेख

साक्षी है।[1] उपन्यासकार ने अकाल के सन्दर्भ में जिस सन् की चर्चा की है, उसके अनुसार बिहार में सन् 1876 से 1878 के भीषण दुर्भिक्ष को ही ध्यान में रखना होगा। यों इसके पूर्व भी बिहार में सन् 1865-67 में और 1873 में भी अकाल पड़ा था किन्तु सन् 1876 से 78 का दुर्भिक्ष भीषण था (इस दुर्भिक्ष का प्रभाव मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश आदि प्रान्तों पर भी पड़ा था) और ½ करोड़ मनुष्य प्रभावित हुए थे। इस दुर्भिक्ष के दौरान जो स्थिति जनसाधरण की बिहार में हो गयी थी उसका यथार्थ चित्र उपन्यासकार ने 'बाबा बटेसर नाथ' मे प्रस्तुत किया है। इतिहास के आलोक में इस वर्णन की सत्यता खरी सिद्ध होती है। यही नहीं, डॉ० रांगेय राघव के 'विषाद मठ' और अमृतलाल नागर के 'महाकाल' से मिलान करें तो भी इस उपन्यास में 'अकाल' का विवरण सही प्रतीत होता है। अन्तर है तो केवल यह कि उक्त दोनों उपन्यासों में 'अकाल' का मार्मिक और दर्दभरा चित्र प्रस्तुत किया गया है जब कि चर्चित उपन्यास में अकाल का एक परिचयात्मक विवरण मिलता है।[2] कारण यही है कि उक्त दोनों उपन्यासों का ध्येय ही 'अकाल' के भीषण रूप को उभार कर प्रस्तुत करना रहा है।

यों तो बिहार में चम्पारन का इलाका गोरों का अड्डा रहा था। वहाँ गोरे लोग किसानों को नील की खेती करने के लिए विवश करते थे किन्तु रुपउली (बिहार प्रान्त का वह अंचल जिस पर उपन्यास का कथानक आधारित है)

नील की खेती का विवरण

भी नील की खेती से बचा न था। एक साहब (गोरा अग्रेज) ने महाराज बहादुर से जमीन लेकर वहाँ नील की खेती की। यह गोरा मजदूरों की मेहनत, माल और जान का पूरा मालिक था। इसने पचास वर्ष तक पास-पड़ोस की जनता को रौंदा। इसने 'तीन कठिया' लागू कर दिया था।[3] मिथ्याभिमानी गोरे, भोले किसानों और मजदूरों पर अत्याचार करते थे, उन्हें जरा-जरा-सी बात पर बुरी तरह पीट देते थे। जैकिसुन के दादा को गोरे साहब के साले द्वारा हण्टरों से पीटा जाना उनके अत्याचार का सबूत है। दरअसल नील की खेती ये गोरे लोग धौंस-धपड़ और दबाव से कराते थे। एक बीघा जमीन में बीस कट्ठा जमीन होती है। बीस कट्ठा जमीन में से तीन कट्ठा जमीन पर नील की खेती करना अनिवार्य कर दिया गया था। इसी को 'तीन कठिया' की संज्ञा दी गयी थी। एक तो वैसे ही यह इलाका दुर्भिक्षों का शिकार रहता था तिस पर यह बेमतलब की नील की खेती किसानों के लिए हानिप्रद सिद्ध होती थी किन्तु वे विवश थे, लाचार थे। क्योंकि बंगाल टेनेन्सी एक्ट के अन्तर्गत ऐसा कानून बनवा-दिया गया था। इसी समस्या का

---

1. भारत की अर्थ व्यवस्था : तेल व अन्य : (चतुर्थ संस्करण 1965) पृष्ठ 13
2. बाबा बटेसर नाथ : पृष्ठ 50-60
3. बाबा बटेसर नाथ : पृष्ठ 78-79

निराकरण करने के लिए गांधीजी ने चम्पारन का दौरा किया। वहाँ सरकार के विरोध के बावजूद उन्होने बीस हजार किसानो के बयान लेखनी बद्ध किए और अन्त में 'तीन कठिया' के कानून को रद्द करवा कर 'नील की खेती' से किसानों को मुक्ति दिलायी।[1]

यों विदेशी सरकार के विरुद्ध देश की जनता की जो विरोधी गतिविधियाँ चली वे देशव्यापी थी उसमें देश के सभी भागों में नगरों और ग्रामो के लोगो ने भाग लिया था किन्तु चूँकि उपन्यास का कथानक बिहार के रूपउली अचल से सम्बद्ध है इसलिए उपन्यासकार ने उसी के सन्दर्भ मे तत्कालीन इतिहास की घटनाओ को प्रस्तुत किया है। सन् 1930-32 के आन्दोलन मे रूपउली ग्राम के लोग भी जेल गए थे, नमक कानून तोड़ा था। लार्ड कर्जन द्वारा बंगाल का विभाजन करने के विरोध में कुछ लोग, जिन्हें गांधीजी के असहयोग, सत्य, अहिंसा में विश्वास नहीं था और जो बंगाल (बिहार का पड़ोसी प्रान्त) से प्रभावित थे, क्रान्ति दल में घुस गए थे। वीरभद्र नामक युवक ऐसे ही क्रान्ति दल के युवकों का प्रतिनिधित्व करता दीख पड़ता है। चौरी-चौरा कांड और झण्डा सत्याग्रह तथा असहयोग आन्दोलन जैसी ऐतिहासिक घटनाओं की हल्की-फुल्की चर्चा भी प्रस्तुत उपन्यास मे हुई है।[2] सन् 1921 के अन्त में 'प्रिंस आफ वेल्स' के बहिष्कार और प्रथम बार देश में विराट प्रदर्शन की बात भी उपन्यासकार ने बाबा बटेसर नाथ के मुख से जैकिसुन को सुनवाई है। यही नहीं, 'मोपला उत्पात' और प्रमुख नेताओं की गिरफ्तारी की चर्चा भी उपन्यासकार ने की हैं। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यासकार वर्तमान स्थिति तक आने के लिए बीज की घटनाओ की शृंखला को तोड़ नही सका है, मानों राष्ट्र के विगत इतिहास का विवरण दिए बिना उसका काम ही नही चलता। कही-कही तो उपन्यासकार ने बटेसर नाथ द्वारा आप बीती सुनाने के बहाने इतिहास की पंक्तियाँ ज्यों-की-त्यों उठाकर रख दी हैं।[3] इसी प्रकार चटगाँव के शस्त्रागार पर छापा मारने तथा पेशावर में गढ़वाली सिपाहियों

अन्य ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख

---

1. काँग्रेस का इतिहास : (संक्षिप्त) पृष्ठ 113
2. बाबा बटेसर नाथ : पृष्ठ 88, 89, 90
3. (क) जन-संग्राम के प्रति महात्माजी की यह खिलवाड़ देश के लिए बहुत बड़ी दुर्घटना थी। गांधी जी के खास साथी जेल के अन्दर बन्द थे। यह समाचार पाकर क्रोध और दुख के मारे वे पागल हो उठे।······'
(बा० ब० ना० : पृष्ठ 94)
(ख) '······गाँधीजी ने कहा था—' ऐसा करने पर हम देखेंगे कि स्वराज्य हमारे दरवाजे खड़ा है।' (बाबा बटेसर नाथ : पृष्ठ 95)

द्वारा निहत्थी भीड़ पर गोली चलाने से इनकार करने की जो बात कही गयी है वह भी इतिहाससम्मत है।[1]

इतिहास की इतनी झलक प्रस्तुत करने के पश्चात् उपन्यासकार अनायास वर्तमान के इर्द-गिर्द आ पहुँचा है। देश विभिन्न प्रकार की घटनाओं से गुजरता हुआ अगस्त 1947 के स्वतन्त्रता दिवस तक आ पहुँचा तो उसका भाग्य विदेशी सत्ता के चगुल से छूटकर स्वदेशी धूर्तो के हाथ में जा पड़ा। पारस्परिक ईर्ष्या, रागद्वेष ने स्थान बना लिया, स्वार्थसिद्ध साध्य बन गयी। कांग्रेस कहलाने वालों ने झाँसे देने शुरू किये, सहयोग और सहायता देने के वादे किये और सब झुठला दिये। निम्न स्तर पर लाकर राजनीति का जाल फैला दिया। 'शोषण' का पोषण करने का भार परायों से अपनों ने अपने हाथों में ले लिया। इन्हीं सब कारणो के परिणामस्वरूप संयुक्त मोर्चे की स्थापना हुई जिसके द्वारा पूँजीवाद का नाश किया जा सके।

स्वातन्त्र्योत्तर देश की अवस्था का चित्रण

अस्तु, इतिहास की घटनाओं से सबक लेते हुए आज दयानाथ जैसे नौजवान आगे आ गये है जो स्वाधीनता, शान्ति, प्रगति के हामी है यह उनका प्रगतिशील दृष्टिकोण है।

इसके अतिरिक्त ग्रामीणो की पारस्परिक कलह और द्वेष भाव, उनकी अन्ध-विश्वास, रूढ़ियों और परम्पराओं मे आस्था दिखलाकर भी लेखक ने तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्र उपस्थित किया है। बाबा बटेसरनाथ वाली जमीन और पोखर को लेकर चल रहे झगड़े-फिसाद में टूनाई पाठक और जैनरायण की पराजय तथा दयानाथ व जैकिसुन की विजय दिखला कर लेखक ने देव की दानव पर, सत्य की असत्य पर और मंगल की अमंगल पर विजय की ओर सकेत किया।

मैला आँचल : फणीश्वर नाथ 'रेणु' 1954

'हिन्दी उपन्यास' को आँचलिकता की नयी दिशा देने मे फणीश्वर नाथ रेणु का महत्वपूर्ण योगदान है। आँचलिकता नवीन 'तत्व' नही है केवल उसको संकीर्णता की परिधि मे समाविष्ट करके गहरे रग दे दिये गये हैं। 'गहरे रंग' देने में रेणु जैसे कथाकारो का प्रमुख हाथ रहा है। यदि यह कहा जाये कि आँचलिकता किसी बहाने अपने अस्तित्व को पृथक् रखकर कथा साहित्य मे जीवित रह सकती है तो केवल रेणु के 'मैला आँचल' जैसे उपन्यासों की दुहाई देकर।

'मैला आँचल' (1954) रेणु का आँचलिक उपन्यास है जिसका कथा बिहार प्रान्त के पूर्णिया जिले के एक सीमित आँचल 'मेरीगंज' गाँव में रहने वाले लोगों के

1. बाबा बटेसर नाथ : पृष्ठ 97 एवं कांग्रेस का इतिहास : पृष्ठ 206

जीवन पर आधारित है। उपन्याम में उनके जीवन के सभी पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है और इसी रूप में बीच-बीच में इतिहास की अभिव्यक्ति हुई है।

गाँव के निवासी अधिकतर अशिक्षित है। केवल दस व्यक्ति पढ़े-लिखे हैं जिनमें ऐसे भी व्यक्ति है जो केवल हस्ताक्षर ही कर सकते हैं। लेकिन इस गाँव के लोग शिक्षा से दूर होते हुए भी राजनीति में रुचि लेते है और दलबन्दी करते है। गाँव में धार्मिक अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता, तथा अन्य सामाजिक बुराइयाँ, जैसे जातिभेद आदि का भी खूब जोर है। यादव टोली, राजपूत टोली और कायस्थ टोली मे परस्पर मतभेद रहता है। यहाँ तक कि गाँव के शेष व्यक्ति भी अपनी-अपनी समझ के अनुसार, जाति के आधार पर यादव, राजपूत और कायस्थो के दल से सम्बद्ध है। यहाँ विषयानुरूप हम इन सब बातों पर विचार न करके केवल ऐतिहासिक गतिविधियों का विवेचन करेंगे।

जिस समय भारत में स्वाधीनता की लड़ाई लड़ी गयी उस समय गाँधी जी के नेतृत्व में एक विशाल वर्ग कार्य कर रहा था जो अहिंसा का समर्थक था और स्वाधीनता प्राप्ति के लिए अहिंसा को ही उपयुक्त साधन मानता था। दूसरा वर्ग क्रान्तिकारियों का था जो आंतकवादी था और हिंसा के द्वारा शत्रु को परास्त करने मे विश्वास रखता था। इस वर्ग में भगत सिह जैसे लोग थे। जहाँ ये वर्ग देश की स्वाधीनता के लिए प्रयत्नशील थे वहाँ उसमें बाधक सिद्ध होने वाले वर्ग भी विद्यमान थे। ऐसे वर्ग में विदेशी सरकार, उनके हाथ को कठपुतलीवत् रियासतों के राजा लोग तथा जमीदार थे। साथ ही भारतीय समाज मे व्याप्त अन्धविश्वास और रूढ़ियाँ तथा स्वार्थ-लिप्त व्यवसायी लोग भी कम बाधक न थे। ये व्यवसायी लोग 'कालाबाजार' के पोषक थे। अत: कम या ज्यादा रूप में ये सभी तत्व मैला आँचल में भी परिलक्षित होते है।

नील की खेती, नमक कानून और सन् 1942 का भारत-छोड़ो आन्दोलन ऐसी घटनाएँ हैं जिनके प्रति अनेक कथाकारों का ध्यान आकर्षित हुआ है। 'मैला आँचल' में भी उपन्यासकार ने इन घटनाओं को स्थान दिया है। 'नील की खेती' के सम्बन्ध में उपन्यासकार ने अपनी ओर से कथन किया है। "पूर्णिया जिले मे बहुत से ऐसे गाँव है जो आज भी अपने नामों पर नीलहे साहबों का बोझ ढो रहे है। वीरान जगलों और मैदानों में नील कोठी के खण्डहर राही बटोहियो को आज भी नीलयुग की भली हुई कहानियाँ याद दिला देती है।"[1] उपन्यासकार के कथनानुसार राही और बटोहियों को भले ही कोठी के खण्डहर देखकर नील युग याद आ जाए किन्तु सभी के लिए विशेषकर आने वाली पीढ़ी के लिए यों खण्डहरों को देखकर या उनकी बात सोचकर 'नील युग' का इतिहास समझ में नही आ सकता। 'नील की खेती' का

मैला आँचल में 'नील की खेती' ऐतिहासिक घटना

1. मैला आँचल : रेणु : पृष्ठ 13 (चौथा संस्करण 1963)

इतिहास सम्मुख होने पर ही यह सम्भव है और इसके लिए हमे गाँधीजी द्वारा चम्पारन मे सत्याग्रह की घटनाओं को देखना होगा जब उन्होंने 'तीन कठिया' बन्द कराया था। तीन कठिया शब्द भी अपने-आप में इतना समर्थ है कि इस अकेले शब्द में नील की खेती का इतिहास बोलता है। विगत पृष्ठो में नागार्जुन के 'बाबा बटेसर नाथ' उपन्यास का विवेचन करते समय नील की खेती और तीन कठिया पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

'नमक आन्दोलन' की घटना भी इसी प्रकार की है। सन् 1929-30 में नमक पर कर लगाये जाने के विरोध में गांधी जी ने नमक बनाने का आन्दोलन चलाया, दण्डी-यात्रा की ओर नमक कानून का उल्लंघन किया। उपन्यास में इस घटना की केवल 'पुरानी स्मृति' के रूप में ही चर्चा की गयी है। जब जोतखी जी खेलावन बाबू से कहते हैं, "हमारे मामा का घर सिमरबनी में ही है। आज से दस-बारह साल पहले की बात कहते हैं। हम मामा के यहाँ गये थे।······स्कूल से पच्छिम, कांग्रेसी तेवारी नीमक कानून बनाने वाला था। बड़े-बड़े चूल्हे पर कड़ाहियों मे चिकनी मिट्टी और पानी डालकर खौला रहे है।······इसी समय हल्ला हुआ, दारोगा आ रहा है।······दारोगा साहब तेवारी जी को पकड़कर ले गये"।[1] इसी प्रकार जब बालदेव जी साथियों को कालीपुल का परिचय देते हुए बतलाते है;······"नीमक कानून के समय इसी पुल के नीचे पुलिस के सिपाहियों ने जाड़े की रात मे भोलन्टियरो को लाकर पानी में भिगा-भिगा कर पीटा था"।[2] तो हमारे सम्मुख नमक कानून, उसके विरुद्ध किया गया आन्दोलन तथा गांधीजी की दण्डीयात्रा का इतिहास उपस्थित हो जाता है।[3] यद्यपि यह आन्दोलन अहिसा और सत्याग्रह पर आधारित था जिसमे हिंसा का लेश भी न था तथापि जैसा कि उपन्यास में देखने को मिलता है, 'भोलन्टियरों' (वालन्टियरो) को अत्याचारी विदेशी सरकार के दमनचक्र का शिकार होना पड़ा था। इतिहास बतलाता है कि हड्डियाँ चूर-चूर करके और अण्डकोष दबा-दबा कर स्वयंसेवकों से नमक छीनने के लिए सरकार ने निकम्मा प्रयत्न किया था।[4]

'नमक आन्दोलन' तथा दण्डी यात्रा का विवरण

'मैला आँचल' में जिस सर्वाधिक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना को स्थान दिया गया है, वह है 1942 का आन्दोलन। सन् 1942 के इस आन्दोलन में अनेक प्रतिष्ठित परिवारों और अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से

---

1. मैला आँचल : रेणु : पृष्ठ 48 2. वही : पृष्ठ 113
3. कांग्रेस का इतिहास : डॉ० पट्टाभि सीतारमैया पृष्ठ 190
4. वही पृष्ठ : 195

सन् 1942 के आन्दोलन की चर्चा

आन्दोलन के सचालन मे सहायता की थी। लोगों में उत्साह था। राष्ट्रीय भावना से पूर्ण अनेक गीत रच-रच करके गाये जाते थे, जुलूस निकलते थे और कचहरियों पर कब्जा करके उन पर 'तिरंगा' फहरा दिया जाता था। इन्ही सब बातों का उल्लेख उपन्यासकार ने 'मैला आँचल' में किया है। डॉ० प्रशान्त को नजरबन्द कर दिया गया था चूँकि वह उस उपाध्याय परिवार का व्यक्ति था जिसने फरार नेताओं की मदद ही नही की, बल्कि गुप्त रूप से आन्दोलन का संचालन भी किया था।[1] इस अवसर पर अनेक गीतो की रचना हो गयी थी, लोग जुलूस में सम्मिलित होते और इन गीतों को गाते थे। बालदेव 1942 का जो गीत बतलाता है वह भी ऐसा ही गीत है—

'जिन्दगी है किरान्ति की, किरान्ति मे लुटाएजा' तथा नमक आन्दोलन के समय का गीत—

'आओ वीरो मरद बनो, अब जेहल तुम्हें भरना होगा' जैसे गीत ही बालदेव को आते है।[2]

इसी प्रकार बौनदास का पुलिस की गोलियों की परवाह न करते हुए कचहरी तक पहुँचना और झण्डा फहरा कर महात्मा गांधी की जय बोलना भी अगस्त क्रान्ति के ही इतिहास का प्रभाव है।[3]

भारतीय स्वाधीनता की लड़ाई के ये अहिसात्मक प्रयास थे। भारत का क्रान्तिकारी दल अहिंसा में विश्वास नही करता था। आजाद भगत सिह, राजगुरु, और बिस्मिल क्रान्तिकारी थे जिनका अस्त्र अहिंसा नही, पिस्तौल थी, सत्याग्रह नहीं, 'बम' था। साध्य एक होते हुए भी दोनों के साधन अलग-अलग थे। उपन्यास में भगतसिह आदि को कोई विशेष स्थान नही मिला है। केवल स्वराज्य मिल जाने पर खुशी के अवसर पर होने वाले खेलों आदि के समय जब 'मस्ताना भगतसिंह' खेल होता है[4] तो जैसे मन्द प्रकाश क्रान्तिकारियों के इतिहास पर पड़ता है।

समाजवाद की अभिव्यक्ति

राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने भारत में एक नई विचारधारा को जन्म दिया जिसे समाजवाद का नाम दिया जाता है। इसका श्रेय 1917 की रूसी-क्रान्ति को है जिसने पराधीन देशों को जिनमें भारत भी एक था, अपनी ओर आर्कषित किया और उन देशो में 'समाजवादी व्यवस्था' की विचार धारा को जन्म दिया। भारत का युवक-वर्ग समाजवाद से विशेष

1. मैला आंचल : पृष्ठ 66
2. वही : पृष्ठ 112
3. वही : पृष्ठ 155,171
4. मैला आँचल : पृष्ठ 296-297

तौर पर प्रभावित था। भारत में समाजवादी पार्टी जन्म ले चुकी थी।[1] अतः समाजवाद की चर्चा भी उपन्यास में मिलती है—

किसान-राज कायम हो !
मजदूर-राज कायम हो !
....

सोशलिस्ट पार्टी जिन्दावाद ! आदि के नारे लगाने और लाल झण्डे का उल्लेख कर समाजवाद के प्रभाव को दर्शाया गया है।[2]

'मैला आँचल' उपन्यास में इसी प्रकार की कुछ प्रत्यक्ष तो कुछ परोक्ष चर्चा ऐतिहासिक घटनाओं की मिलती है तथा सुगठित और लम्बे कथानक की अपेक्षा पूर्णिया जिले के मेरीगंज गाँव का राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक वातावरण ही अधिक अभिव्यक्त हुआ है।

जिस प्रकार पात्र 'टाइप' हो सकता है उसी प्रकार 'आँचल' भी 'टाइप' हो सकता है और इस दृष्टि से मेरीगंज का मैला आँचल 'टाइप' है। मेरीगंज का धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक वातावरण विशिष्ट होते हुए भी सामान्य है। दूसरे भागों में भी ऐसे ही आन्दोलनों, ऐसे ही धार्मिक अन्ध विश्वासों और सामाजिक बुराइयों का वातावरण देखने को मिल सकता है, वहाँ भी बालदेव, लच्छमी और डॉ० प्रशान्त जैसे अस्तित्व खोजे जा सकते हैं। ऐतिहासिक घटनाओं का जो स्वरूप मेरीगंज के 'मैला आँचल' में छिपा है वही देश के अन्य आँचलों में भी उसी या उससे कम-अधिक रूप में, छिपा हुआ है, आवश्यकता है उस पर विचार करने और उसे समझने की।

ज्वालामुखी : अनन्त गोपाल शेवड़े (1956)

उपन्यास-रचना में कल्पना और यथार्थ का अत्यधिक महत्व होता है। कोरी कल्पना की नींव पर जैसा कि प्रारम्भ में इंगित किया जा चुका है, उपन्यास का भवन-निर्माण करना प्रायः असम्भव-सा है क्योंकि उसमें यथार्थ से प्रभावित होकर उसे स्थान दिए बिना उपन्यासकार रह नहीं सकता। उपन्यासों में कही कल्पना प्रधान होती है तो कही यथार्थ के बराबर तो कही कम। जिस प्रकार कोरी कल्पना पर उपन्यास की नींव नही रखी जा सकती है उसी प्रकार विशुद्ध यथार्थ की कल्पना भी सहज नहीं। उसकी प्रधानता हो सकती है। किसी उपन्यास में कल्पना और यथार्थ का अनुपात समानुपात क्या है और क्यो है यह उस उपन्यास के लिए चुने गए विषय तथा लेखक के स्वभाव एवं रुचि पर निर्भर करता है।

ज्वालामुखी : अनन्त गोपाल शेवड़े (1956)

कुछ उपन्यासकार अपनी कृतियों में यथार्थ को ही स्थान देना पसन्द करते हैं,

---

1. कांग्रेस का इतिहास : पृष्ठ 292   2. मैला आँचल : पृष्ठ 116, 133

कल्पना को वे उतना ही स्थान देते है जितने से उनके यथार्थ की ईंटे जम जाएँ । ऐसी ही पसन्द के कुछ उपन्यासकारो ने सन् 1942 के क्रान्तिपूर्ण आन्दोलन को अपने उपन्यास का विषय चुना है । उनके ये उपन्यास सामाजिक होते हुए भी घटनाओं की दृष्टि से ऐतिहासिक महत्व के है । यों सन् 1942 की चर्चा तो अनेक उपन्यासो मे हुई है जैसे, यशपाल के 'झूठा सच' मे, सेठगोविन्द दास के 'इन्दुमती' मे और अमृतराय के 'बीज' उपन्यास में, किन्तु कुछ उपन्यास स्वतन्त्ररूप से सन् 1942 की जन-क्रान्ति पर ही आधारित है जैसे, प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'बयालिस', रामेश्वर शुक्ल अंचल का 'नई इमारत' तथा अनन्तगोपाल शेवड़े का ज्वालामुखी आदि । प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'बयालिस' का तथा रामेश्वर शुक्ल अंचल के 'नई इमारत' का विवेचन, इतिहास की दृष्टि से किया जा चुका है । यहाँ शेवड़े जी के 'ज्वालामुखी' उपन्यास के माध्यम से हम तत्कालीन इतिहास का अवलोकन करेंगे ।

'ज्वालामुखी' का आधार : अगस्त क्रान्ति

जिस प्रकार सन् 1917 की रूस में हुई क्रान्ति अक्टूबर क्रान्ति अथवा बोलशेविक क्रान्ति के नाम से जानी जाती है उसी प्रकार भारत में हुई सन् 1942 की क्रान्ति 'अगस्त क्रान्ति' की संज्ञा पा चुकी है और जिस प्रस्ताव के पारित होने के परिणाम स्वरूप यह क्रान्ति हुई वह प्रस्ताव इतिहास में अगस्त प्रस्ताव या 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के नाम से जाना जाता है ।[1] 'ज्वालामुखी' उपन्यास का आधार है सन् उन्नीस सौ बयालिस की अगस्त क्रान्ति जिसके परिणामस्वरूप देश में एक भयंकर विस्फोट हुआ और जिसके बाद देश स्वतन्त्र हुआ । इस संघर्ष का सजीव वातावरण इस उपन्यास में उपलब्ध होता है ।[2] क्रान्ति के इस विस्फोट को ही उपन्यासकार ने 'ज्वालामुखी' कहा है ।

'ज्वालामुखी' के अंचल में जो इतिहास छिपा है उसको प्रकाश में लाने के पूर्व उपन्यास के सम्बन्ध में कुछ कहना है । और वह यह कि 'ज्वालामुखी' और 'नई इमारत' के कथानकों, पात्रो और घटनाओं में अद्भुत साम्य दृष्टिगोचर होता है । 'नई इमारत' और 'ज्वालामुखी' का प्रतिपाद्य एक है तथा पात्रों की संख्या दोनों में सीमित है । नई इमारत का महमूद व 'ज्वालामुखी' का अभय कुमार दोनों रिसर्च स्कालर हैं । इधर आरती और विजया विश्व-विद्यालयी स्तर की छात्राएँ हैं । दोनों नायिकाओं के अभिभावक समाज के प्रभावशाली व्यक्ति है, अतः दोनों ही निर्धन छात्रों से उनका विवाह न कर उच्चपदासीन युवको से करने के पक्ष में हैं । किन्तु दोनों ही उपन्यासों की नायिकाएँ समान रुचि की हैं और

'ज्वालामुखी' और 'नई-इमारत' : महत्वपूर्ण समानताएँ :

1. भारत के क्रान्तिकारी : मन्मथनाथ गुप्त (पृष्ठ 203)
2. ज्वालामुखी : पृष्ठ=9 (प्रकाशकीय से—प्र० संस्करण 1956)

वे अपनी ही रुचि के अनुसार क्रमशः महमूद और अभयकुमार से प्रेम करती है। आरती और विजय दोनो का ही जीवन पति के देशप्रेम पर अर्पित होता है, वे अपने सुखो की लेश-मात्र भी परवाह न कर अपने प्रेमियों को उनकी योजना और उनके कार्यक्रमों में सहयोग देती है। महमूद और अभय में कुछ अन्तर भी है। महमूद गिरफ्तार होने के बाद भी जेल से भाग निकलता है किन्तु अभयकुमार अपने बचाव के लिए वकील की सहायता लेने से भी इन्कार कर देता है। ऐसा होते हुए भी दोनों नायक, गांधी के सिद्धान्तों पर आचरण करते प्रतीत होते हैं। महमूद का जेल से भाग निकलना गांधी के सामयिक कथन (19 जुलाई 1942) का कि 'इस बार मैं मागकर जेल नहीं जानेवाला हूँ इस संग्राम में मांगकर जेल जाना नही है'[1] उसके आचरण पर इसका प्रभाव है तो अभयकुमार का बचाव के लिए वकील करने से इन्कार करना वृति से 'सत्याग्रही' होना प्रमाणित करता है।[2] दोनों उपन्यासों में क्रान्तिकारियों के जुलूस, प्रदर्शन तोड़-फोड और आगजनी की घटनाओं आदि का विवरण अभूतपूर्व साम्य रखता है। अन्तर यही है कि 'नई इमारत' मे मुसलमान पात्रों के समावेश के कारण उर्दू का बाहुल्य है, उपन्यासकार के 'कवि' के सजग रहने से कल्पना काव्यात्मकता का गुण लिए हुए है जबकि 'ज्वालामुखी' की भाषा विशुद्ध हिन्दी है सीधी, सरल और स्पष्ट।

दोनों उपन्यासों में इस समानता का कारण तत्कालीन इतिहास के यथार्थ रूप को प्रस्तुत करना है। जो हो, अंचल जी जहाँ एक ओर क्रान्ति के कारण कम्पित समय पटल के पीछे 'नई इमारत' का स्वप्न देखते है तो शेवड़े जी की दृष्टि 'ज्वालामुखी' के सदृश विस्फोटक क्रान्ति की परिधि तक ही सीमित रही है।

'ज्वालामुखी' के माध्यम से उन्नीस सौ बयालीस के आन्दोलन का इतिहास बोलता है। सन् 1939 में जर्मनी और मित्रराष्ट्रों के बीच छिड़े महायुद्ध की लपटें अभी मन्द भी नही पड़ी थी कि जापान ने अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी। 7 दिसम्बर 1941 को जब जापान ने इस युद्ध की घोषणा सिंगापुर के पास अंग्रेजों के दो जहाज डुबोकर सिंगापुर पर आक्रमण के साथ की तो जैसे भारत के नेताओं को इस बात के लक्षण दिखायी देने लगे कि युद्ध की ज्वालाओं की लपटे भारत में भी आने वाली हैं।[3] स्थिति का अनुमान कर, भारतीय नेताओं ने भी इस बात की घोषणा कर दी थी कि जब तक भारत को अंग्रेज स्वतन्त्र नही करते तब तक भारत किसी भी प्रकार युद्ध में भाग नही लेगा क्योंकि कांग्रेस नहीं चाहती थी कि मलाया, सिंगापुर और बर्मा पर जो बीती है वही भारत पर भी बीते। किन्तु भारतीय नेताओं, उनकी संस्था कांग्रेस के विचारों और सुझावों

1. भारत के क्रान्तिकारी : मन्मथनाथ गुप्त : पृष्ठ 201
2. ज्वालामुखी : पृष्ठ 229
3. ज्वालामुखी : पृष्ठ 23

को कोई महत्व नही दिया गया और घोषित कर दिया गया कि भारत भी इग्लैण्ड की ओर से युद्ध मे सम्मिलित है।[1] भारतीय नेताओ का कहना था कि अंग्रेज हमे मुक्त करें तो जापान फिर हमारा शत्रु नहीं रहेगा और यदि रहेगा तो उसके साथ निपट लेंगे परन्तु विदेशी सत्ता सुनती न थी। सीमाप्रान्तीय प्रदेशों की भयाक्रान्त जनता स्थानो को छोड़-छोड़ कर जा रही थी। दूसरी ओर देश मे ही राजभक्तो, व्यापारियों की देश के प्रति गद्दारी और स्वार्थलिप्सा खुलकर खेल रही थी।[2] ऐसी विषम परिस्थितियो मे वर्धा मे 14 जुलाई को कांग्रेस की कार्यकारिणी की बैठक मे 'भारत छोड़ो प्रस्ताव' पास हुआ और बम्बई के 8-9 अगस्त 1942 के प्रस्ताव द्वारा इस भारत छोडो प्रस्ताव का समर्थन हुआ। 'भारत छोड़ो' की ललकार समूचे देश मे गूँज उठी। इधर नौकरशाही ने गुप्तचर विभाग को सजग कर दिया, हथियार सम्हाले जाने लगे और जेलों की सफाई होने लगी।[3]

सन् 1942 में देश में व्याप्त वातावरण

अगस्त प्रस्ताव पास होते ही प्रमुख नेतागण रातों रात गिरफ्तार कर लिए गए थे और उसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि भड़की हुई जनता चोट खायी सर्पिणी के समान फुंफकार उठी थी। पथप्रदर्शन करने वाला जन-नेता तो गिरफ्तार हो चुका था उसकी अहिंसा भी जैसे उसी के साथ कैद हो गयी थी और मानो उसी खुशी मे हिंसा खुलकर मैदान मे खेल रही थी। अत्याचारी सरकार की हिसा के मुकाबिले मे भारतीय जनता भी खुलकर लड रही थी। पुलिस थानो पर कब्जे किए गए, सरकारी खजाने लूटे गए, हथियार जब्त किए गए, रेल गाड़ियो को उलटा गया[4] और बदले मे स्त्री-पुरुषो को गिरफ्तार किया गया; जेलें ठसाठस भर गयी। लेकिन विद्रोह की ज्वाला इतनी तीव्र भड़की कि भारतीय जनता ने बचे हुए नेताओं की गुप्त सभाएँ की और सरकार के विरुद्ध स्वाधीनता की लड़ाई जारी रखने के लिए कार्य क्रम निश्चित किए। कुछ क्रान्तिकारियो ने तो गांधीजी के कार्यक्रम से तोड़-फोड़ की जोड़-तोड़ भी बैठा ली और पटरियाँ उखाड़ने, पुल उड़ाने, तार काटने का कार्य भी उसी कार्यक्रम मे सम्मिलित कर लिया। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने भी अपनी ओर से विज्ञप्ति जारी की थी जिसे, गिरफ्तार होने से पहले अपने प्रान्तीय केन्द्रों तक पहुँचाने की हिदायतें भी दी गयी थी। नागपुर जैसे शहर इन कार्यवाहियो के प्रमुख केन्द्र थे। इन गुप्त सभाओं में कार्य-क्रम की योजना पर विचार होता था। इन सभा करने वालों में भी मतभेद था। कुछ तो हिंसात्मक कार्यवाही में विश्वास करते थे और कुछ केवल गांधीजी की असहयोग नीति पर ही आचरण करने के पक्ष में थे। वे सरकार को ठप करने,

1. ज्वालामुखी : पृष्ठ 23
2. वही : पृष्ठ 30-31
3. वही : पृष्ठ 53
4. वही : पृष्ठ 59-60

सरकारी खजाने चुकाने, सरकार को रंगरूट न मिले ऐसी व्यवस्था करने पर ही विचार करते थे। वे थानेदारो को नही, थानो को जलाने के तथा रेल के मुसाफिरों को मारने के नही केवल रेल व्यवस्था समाप्त करने के ही पक्ष मे थे। उपन्यास का नायक अभय-कुमार ऐसा ही सत्याग्रही है जो क्रान्ति के अहिंसात्मक रूप का ही समर्थक है, गांधी की जीवन प्रणाली में ही उसकी निष्ठा है।[1] इन्हीं सभाओं मे स्त्रियों के लिए भी योजना बनायी गयी। परचे और बुलेटिनो को घर-घर बाँटने, गुप्त सन्देश पहुँचाने, आहतों की सेवा सुश्रूषा करने, क्रान्ति के लिए धन संग्रह आदि के कार्य स्त्रियों को सौपे गये थे। स्कूल और कालेज छोड़कर अनेक युवक-युवतियाँ क्रान्ति में शामिल हो गये थे। उनका उपयोग ऐसे ही कामों में अच्छा हो सकता था। ये विद्यार्थी और युवक-युवतियाँ अपने माता-पिता की इच्छाओं के विरुद्ध क्रान्ति में भाग लेते थे।[2]

सन् 1942 की क्रान्ति की लपटें शहरो से गाँवों तक पहुँच गयी थीं। गाँवों की जनता के अशिक्षित होने के कारण काग्रेस और क्रान्तिकारी पार्टियो ने कार्यक्रम का मिला-जुला रूप अपना लिया था।

क्रान्ति जनता द्वारा संचालित होती है, अतः यह कार्यक्रम किसी संस्था विशेष का नही रह गया था। जो समुदाय जिस प्रकार चाहता था सहयोग देता था। बस एक बात थी, हर भारतीय का उद्देश्य क्रान्ति की लपटों में विदेशी सत्ता को भस्म करने का था। इस सारे कार्यक्रम की आयोजना पर्चो एवं बुलेटिनों के द्वारा होती थी। कांग्रेस पार्टी के अलावा क्रान्तिकारी पार्टियाँ भी तोड़-फोड़ सम्बन्धी कार्यक्रम को पर्चे द्वारा सफलीभूत करने में प्रयासशील थी किन्तु चूँकि अशिक्षित जनता उनमे भेद नही कर सकती थी इसलिए कार्यक्रम का मिला-जुला रूप चल रहा था।[3]

'ज्वालामुखी' उपन्यास में भोला ठाकुर कुछ कर गुजरने की बात कह कर प्रोग्राम सम्बन्धी लाल पर्चा मुखिया जी को दिखाता भी है जो लाल क्रान्तिकारी पार्टी का है और इसमें थाना जलाने, पुल उखाड़ने, शस्त्रागार लूटने, जालिम अफसरों को सजा देने आदि बातों का उल्लेख किया गया है।[4] इस सम्बन्ध में हमें यहाँ कहना है कि श्री मन्मथनाथ गुप्त ने अपनी पुस्तक 'भारत के क्रान्तिकारी' में 'आन्ध्र की गश्तीचिट्ठी' की चर्चा अवश्य की है।[5] जिसका सम्बन्ध भी श्री गुप्त ने उन्ही रेल, तार, यातायात तथा संचार के साधनों का तोड़-फोड़ करने तथा व्यापक हड़ताल आदि करने से बताया है जो भोला ठाकुर के लाल क्रान्तिदल वाले लाल पर्चे से मेल खाता है, किन्तु ऐसी किसी लाल क्रान्तिकारी पार्टी का स्पष्ट या अस्पष्ट उल्लेख इतिहास में नही मिलता।

---

1. ज्वाला मुखी : पृष्ठ . 29
2. वही : पृष्ठ 116-117
3. ज्वालामुखी : पृष्ठ : 122
4. वही : 139
5. *भारत के क्रान्तिकारी : मन्मथनाथगुप्त पृष्ठ 204*

क्रान्तिपूर्ण तरीके से कार्यवाही करने वाले जवानो का वर्ग तो छिपे-छिपे काम करता ही था किन्तु गाँवों मे सामूहिक रूप से भी जनता जुलूसो के रूप में विरोध करती थी जिनमे स्त्रियाँ भी शामिल रहती थी। जुलूस मे अपार उत्साह था, मरने का भय नही था। नारे लगा-लगाकर भीड़ थानो पर कब्जा करने का प्रयास करती थी। कभी भीड़ "माँ रग दे बसन्ती चोला" गाती थी तो कभी 'जेल के फाटक तोड़ दो' 'हमारे नेता छोड दो' के नारे लगाती थी।[1] यह भीड़ गोली चलने पर भी भागती न थी मुकाबला करती थी, पुलिस की हिसा का उत्तर हिसा से देती थी। थानो के साथ-साथ विरोध करने वाले सिपाहियो तक को जिन्दा जला दिया गया था। कैसा हिंसात्मक प्रतिशोध लेती थी भीड़ आश्चर्य था।[2] किन्तु प्रतिशोध का भी पुनः प्रतिशोध लेने की प्रवृत्ति अंग्रेजी सरकार की थी। हिंसा का जबाब हिसा से दिया गया। लोगो को गिरफ्तार करके उनसे उन थानों की मरम्मत करायी गयी जिन्हे भीड़ ने जला दिया था, जिनकी दीवारें ढह गयी थी। आनाकानी करने पर बूट की ठोकरें खाने को मिलती थी। जेले ठसाठस भर गयी थीं फिर भी फौज मे भरती जारी थी। वस्तुओं के भाव बढ़ गये थे, निम्न एवं मध्य वर्ग के लिए तो दोनो जून की रोटी जुटाना भी कठिन हो गया था।[3] फिर भी देशभक्त क्रान्तिकारी तो अपने कार्य को यथावत बल्कि पहले से भी अधिक सतर्कता से रहे थे। ऐसे क्रान्तिकारियों को गिरफ्तार करने-कराने में सहायता देने वालों के लिए सरकार इनाम की घोषणा कर देती थी। क्रान्तिकारियों को पकडने के लिए पुलिस और खुफिया विभाग का जाल बिछवा दिया गया था।

नायक अभयकुमार पर अहिंसा का प्रभाव

उपन्यास का क्रान्तिकारी नायक युवक अभयकुमार उनके इस जाल मे तब तक नही फँसा जब तक उसने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए जेल से बाहर रहना उचित समझा किन्तु अब बाहर रहने की आवश्यकता ही समाप्त हो गयी तब वह स्वयं की गिरफ्तारी से चिन्तित नही हुआ। यहाँ तक कि उसने जो कुछ किया उसे स्वीकारने में भी नही सकोच किया। सत्याग्रही की भाँति अपने बचाव के लिए वकीलों की सहायता लेने से भी इन्कार कर दिया। यही नही फाँसी की सजा हो जाने के बाद भी यद्यपि बचाव समिति ने जनता की ओर से फैसले के विरोध में अपील भी की किन्तु अभयकुमार तो इसके भी खिलाफ था। उसे वायसराय से प्राणों की भीख माँगना स्वाभिमान के विरुद्ध लगा।[4] अभयकुमार को फाँसी लगी तो उसके शव का जुलूस निकला जिसमें पुलिस ने हस्तक्षेप करने की चेष्टा की किन्तु परिस्थिति का अनुमान कर जुलूस

1. ज्वालामुखी : पृष्ठ : 140, 152
2. वही : पृष्ठ : 156
3. ज्वालामुखी : पृष्ठ : 168
4. वही : पृष्ठ : 229 पृष्ठ 286

को निकलने दिया गया। जुलूस द्वारा विद्रोह की भावना के भय से पुलिस का दब जाना दिखलाकर तथा मजिस्ट्रेट चौधरी द्वारा अपने पद से त्यागपत्र दिलवाकर उपन्यासकार ने भारतीय जनता की विजय के चिह्नों को अंकित किया है।

यद्यपि शहीद भगतसिंह और उपन्यास के नायक अभयकुमार के व्यक्तित्व में बहुत अन्तर है तथापि मैं यह कहने का दावा कर सकता हूँ कि नायक रूप में अभयकुमार की सृष्टि करते समय उपन्यासकार की कल्पना में शहीद भगतसिंह की जीवनी और कारगुजारी अवश्य विद्यमान रही है। उपन्यास को पढ़ने पर यह स्पष्ट धारणा बनती है कि उपन्यासकार ने अभयकुमार का चरित्र शहीद भगतसिंह से लिया है। शहीद भगतसिंह अपने शिक्षाकाल से ही अन्दोलनों की दुनिया में प्रविष्ट हो गए थे उन्हें अपनी माता से असीम स्नेह था, फाँसी की सजा बहाल कराने के लिए मुकदमें की अपील प्रिवी कौंसिल तक हुई थी किन्तु अन्त में भगतसिंह को तो शहीद होना ही था।[1] उपन्यास के नायक अभयकुमार के जीवन मे भी ये तीनों बाते स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं। अभयकुमार की फाँसी को रद्द करने के लिए वायसराय के पास देश से हजारों तार गए, किन्तु फाँसी की सजा रद्द नही हुई।[2]

नायक अभयकुमार भगतसिंह का प्रतीक

'ज्वालामुखी' के सम्बन्ध में अन्त मे यही कहना है कि इस उपन्यास के माध्यम से जो इतिहास उपलब्ध होता है वह इतिहास प्रामाणिक है, उसमें कल्पित पात्रों के माध्यम से अतीत के आँचल मे छिपी यथार्थ घटनाओ को उभारने का सफल प्रयास हुआ है। उपन्यास में प्रस्तुत इतिहास की प्रामाणिकता भारत के स्वाधीनता संग्राम के इतिहास से जाँची जा सकती है। डॉ० पट्टाभिसीतारमैय्या द्वारा रचित "कांग्रेस का इतिहास" के "खुला विद्रोह 1942" शीर्षक के अन्तर्गत उन्नीस सौ बयालीस की जन क्रान्ति पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।[3] इस विवरण से मिलान करने पर ज्वालामुखी मे अभिव्यक्त हुआ इतिहास सही प्रमाणित होता है।

झूठा सच : यशपाल (1959-60)

प्रारम्भिक अध्याय में 'इतिहास क्या है ?' तथा इतिहास, उपन्यास एवं ऐतिहासिक उपन्यास शीर्षक के अन्तर्गत इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है कि इतिहास का प्रत्यक्ष सम्बन्ध 'सत्य', 'तथ्य' एवं 'यथार्थ' से है। कहा यह भी जा चुका है क्या तो उपन्यासकार क्या इतिहासकार दोनों के लिए ही यह नामुमकिन है कि वे कल्पना के रंग को ग्रहण न करें। यही बात झूठा सच के लब्ध प्रतिष्ठित उपन्यासकार यशपाल के

1. भारत के क्रान्तिकारी : मन्मथनाथ गुप्त : पृष्ठ 184
2. ज्वालामुखी : पृष्ठ : 289
3. कांग्रेस का इतिहास (संक्षिप्त) : पृष्ठ 445

सम्बन्ध में भी कही जायेगी। यशपाल ने तो स्वयं ही, झूठा सच, में सच को कल्पना से रंग कर प्रस्तुत करने की बात कही है।[1] उपन्यास प्रारम्भ करने के पूर्व यशपाल ने झूठा सच के दोनों भागों 'वतन और देश' व 'देश का भविष्य' (1959-60) मे सामयिक और राजनैतिक वातावरण को यथासम्भव ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में चित्रित करने का प्रयत्न किए जाने का उल्लेख भी किया है।[2]

झूठा सच : ऐतिहासिक यथार्थ

चूँकि स्वयं उपन्यासकार ने 'ऐतिहासिक यथार्थ' की बात कहकर कथावस्तु के स्वभाव की ओर संकेत कि-ा है अत: ऐतिहासिक यथार्थ के सम्बन्ध मे भी संक्षेपत: कुछ कह देना अप्रासंगिक नही होगा। 'यथार्थ' और 'यथार्थ वाद' शब्द साहित्य की पारिभाषिक शब्दावली में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान बनाए हुए है। देशकाल में अन्तर आ जाने पर यथार्थवाद ही ऐतिहासिक यथार्थ कहलाने लगता है। कल के लिए जो यथार्थ था वह आज के लिए, यदि परिस्थिति में भेद पड जाये तो ऐति-ासिक यथार्थ हो सकता है। ऐतिहासिक यथार्थवाद के अन्दर बीते हुए काल की सामाजिक एव राष्ट्रीय परिस्थितियों का वास्तविक चित्र उपस्थित किया जाता है।[3] यद्यपि इतिहास और ऐतिहासिक यथार्थ में परस्पर अन्तर माना गया है तथापि मेरे विचार मे यह अन्तर विशेष रूप से तिथियों तथा घटनाओं की सत्यता का है। जिसका पालन करते हुए कोई भी उपन्यासकार सिद्धान्त की कठोरता का निर्वाह व्यवहार मे नही कर पाता। यदि वह ऐसा करने लगे तब तो उसका स्थान इतिहास ले लेगा, और औपन्यासिकता का अन्त हो जायेगा। व्यवहार मे इसीलिए उपन्यास के प्रति उपन्यासकार का दृष्टिकोण लचीला होता है। अस्तु, यहाँ उपन्यासकार का उद्देश्य 'झूठा सच' को उपन्यास का 'पद' दिलवाने वाली कल्पना की सहायता से, भारत के आधुनिक इतिहास की झाँकी प्रस्तुत करना है। 'झूठा सच' के दोनों ही भाग 'वतन और देश' 'तथा 'देश का भविष्य' एक दूसरे के पूरक होते हुए भी अपने आप में स्वतन्त्र उपन्यास की गरिमा से युक्त हैं।

सन् 1939 की युद्धकालीन परिस्थितियाँ

भारत को अंग्रेजों के चंगुल से छुड़ाने के लिए कांग्रेस और लीग के जो संयुक्त प्रयास चल रहे थे वे सन् 1939 के महायुद्ध से एक नवीन रूप धारण कर चले थे। जहाँ इन प्रयासों में उग्रता और हिंसा का समावेश हो गया था वहाँ पारस्परिक फूट भी जन्म ले चुकी थी जिसके कारण उग्रता और हिंसा इन प्रयासों में सहायक न होकर बाधक ही सिद्ध हुई। साम्यवादियों, समाजवादियो, राष्ट्रीय प्रजातन्त्रवादियों, किसानों

1. झूठा सच : (समर्पण)
2. झूठा सच : (आवश्यक)
3. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : डॉ० त्रिभुवनसिह : पृष्ठ 163 (तृतीय संस्करण : 1961)

और अग्रगामी दल वालों के विरोध और मतभेद चल रहे थे। किसाननगर नामक स्थान पर सुभाषचन्द्र बोस की अध्यक्षता मे कांग्रेस विरोधी सम्मेलन हुआ। इधर सन् 1941 में मुस्लिम लीग ने अपने वार्षिक अधिवेशन मे भारत मे पाकिस्तान की स्थापना या मुस्लिम बहुल प्रान्तों का एक पृथक स्वायत्त शासन प्राप्त संघ की बात भी अपने उद्देश्यो मे शामिल कर ली। अन्ततोगत्वा कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच परस्पर बढ़ गए तनाव ने साम्प्रदायिक झगड़ों को जन्म दिया जिसका परिणाम देश के विभाजन के रूप में सामने आया।

'झूठा सच' का कथा-पटल देश के विभाजन के 2 वर्ष पूर्व अर्थात् सन् 1945 से लेकर विभाजन के 8-9 वर्ष बाद तक के काल को अपनी परिधि में समेटे हुए है।

झूठा सच : स्वातन्त्र्य पूर्व की विषमपरिस्थितियों का आलेख

विभाजन के दो-तीन वर्ष पूर्व द्वितीय महायुद्ध समाप्त हुआ ही था अत: देशवासियों को 'मंहगाई' का सामना करना पड़ रहा था। गेहूँ, घी, कपड़ा, चीनी सभी के भाव चढ़े हुए थे। सभी वस्तुएँ 'राशन' से मिलती थी।[1] कांग्रेस और लीग के तीव्र मतभेदों और पारस्परिक तनाव ने साम्प्रदायिक झगड़ों की शुरुआत करा दी थी, मुसलमान हिन्दुओं को और हिन्दू मुसलमानों को कत्ल करने पर आमादा थे। बंगाल में हिन्दुओं को लूटकर उनकी स्त्रियों को बेइज्जत किया गया।[2] जो लीग कांग्रेस से मिलकर स्वतन्त्रता प्राप्त करने की बात कहती थी वही लीग पाकिस्तान बनाने के नारे लगाने लगी थी। कांग्रेस, अकालीदल और हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीगी मन्त्रि-मण्डल को न बनने देने पर उतारू थे।[3] ब्रिटिश नौकरशाही और शासक साम्प्रदायिकता को जन्म देकर फूट डाल रहे थे और झगड़ा-फिसाद करा रहे थे, रेल्वे-मजदूर यूनियन व स्टूडेन्ट्स फेडरेशन ने मिलिटेन्ट पीस मूवमेन्ट (जगी आन्दोलन) आरम्भ किया ताकि शान्ति और एकता बनी रह सके। किन्तु अन्ततः इनके प्रयास भी असफल रहे क्योकि रेल्वे मजदूरों की ही एक बड़ी संख्या दंगों को बढ़ावा दे रही थी। वर्कशाप में बम फट जाने से अनेक मौतें हुई।[4] कर्फ्यू का बिगुल बजना, छूरे चलना व जहाँ-तहाँ झगड़े-फिसाद हो जाना, आग लग जाना एक सामान्य बात हो गयी थी, लोग ऐसी खबरें सुनने के आदी हो गये थे; ऐसी खबरें सुनकर उन्हें विस्मय नही होता था। इन दंगों और फिसादों का मूल कारण पाकिस्तान के निर्माण की माँग बन चुकी थी।

लीग पाकिस्तान बनाने पर उतारू हो गयी थी और कांग्रेस यह नही चाहती थी। किन्तु सत्ताधारी अंग्रेज, लीग को बढ़ावा दे रहे थे जिसके परिणामस्वरूप कांग्रेस

---

1. झूठा सच : वतन और देश : पृष्ठ 27 2. वही : पृष्ठ 72
3. वही : पृष्ठ 120-121 4. झूठा सच : वतन और देश पृष्ठ : 226-227

ने भी पाकिस्तान मंजूर कर लिया किन्तु झगड़ा फिर भी बना रहा। जिन्ना महोदय चाहते थे कि पूरा पंजाब और पूरा बंगाल तथा इन दोनों प्रान्तों को मिला सकने वाले मार्ग के रूप में एक भूभाग सम्मिलित करके पाकिस्तान बनाया जाये जबकि कांग्रेस पूरा पंजाब, व पूरा बंगाल भी देने के लिए तैयार नही थी। पंजाब और बंगाल का वही भाग जहाँ मुस्लिम जनसंख्या का आधिक्य हो, कांग्रेस पाकिस्तान के रूप में देने के लिए तैयार थी।[1] आखिर जून के प्रथम सप्ताह में मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की स्थापना के लिए बंगाल और पजाब की हिन्दू बहुल और मुस्लिम बहुल भागों मे बाँट देने की शर्त स्वीकार कर ली।[2] कत्लेआम और अग्निकाण्ड की घटनाएँ जोरों पर थीं। सुरक्षा का ठेका आमतौर पर पुलिस के जिम्मे होता है किन्तु इन अवसरों पर उच्च पुलिस अधिकारी भी साम्प्रदायिकता के शिकार हो गये थे। वे अपने-अपने विपक्षियों का संहार कराने में सहायता दे रहे थे, अपराधी और निर्दोष का प्रश्न नही रह गया था। चाहे हरिजन हो या तांगे वाला अथवा राह चलता राहगीर; देखा हिन्दू है तो मुसलमान ने उसके खून से अपनी प्यास बुझाई और देखा मुसलमान है तो हिन्दू ने भी वही किया। घोर जन-सहार के लिए ही अनेक मकानों और इमारतो को जला दिया गया था।[3]

मुस्लिम लीग द्वारा पाकिस्तान की माँग

इधर, पंजाब और बंगाल के विभाजन द्वारा पाकिस्तान के निर्माण की बात लीग द्वारा स्वीकार कर लेने से लोगों मे हलचल और भगदड़ मच गयी थी। वे अपने-अपने 'वतन' को छोड़कर नए निर्मित देश की सीमा में बसने के लिए आने-जाने लगे थे आवास की नयी समस्या खड़ी हो गयी थी। कैम्पो में तादात से अधिक संख्या मे लोग आ-आकर भर गए थे।[4] ऐसी स्थिति में हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की स्थापना के लिए 15 अगस्त 1947 का दिन निश्चित कर दिया गया था[5] और लार्ड माउन्ट बेटन द्वारा पाकिस्तान की सत्ता 14 अगस्त 1947 को जिन्ना को व भारत की सत्ता राजेन्द्र प्रसाद को सौंपने की घोषणा कर दी गयी थी। इस घोषणा को होते ही नर-संहार अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। एक ओर से दूसरी ओर जाती हुई रेलगाड़ियो में भरे हुए लोगों को कत्ल कर दिया गया था।[6] विभाजन के तुरन्त बाद तो कत्लेआम, हत्या और बेशर्मी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी थी।

भारत विभाजन से उत्पन्न समस्याएँ

---

1. वही पृष्ठ 256 2. झूठा सच : यशपाल (वतन और देश पृष्ठ 303)
3. वही : वतन और देश (पृष्ठ 317—18) 4. वही : वतन और देश :(पृ०334)
5. झूठा सच : यशपाल (वतन और देश पृष्ठ 360)
6. वही : (वतन और देश पृष्ठ 3917)

साम्प्रदायिक वैर का बदला लेने के बहाने लोग अनैतिक व्यापार करने पर उतारू हो गए थे। सरकार ने विभाजन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली समस्याओं के निराकरण के प्रयास किए थे। शरणार्थी कैम्पों की स्थापना द्वारा, निराश्रित हो गए लोगों को आश्रय दिया तथा मुफ्त भोजन बाँटने की व्यवस्था भी की तथापि 'समस्या' इतनी विकराल रूप लिए हुए थी कि कई वर्षो तक उसका प्रभाव देश की आर्थिक और सामाजिक स्थिति पर पड़ा रहा। आबादी का सन्तुलन बिगड़ गया था। यहाँ तक कि उत्तर प्रदेश की सरकार ने तो पाकिस्तान क्षेत्र से आने वाले लोगों के प्रवेश पर रोक लगा दी थी। अतः भागे हुए लोग दिल्ली में ही प्रविष्ट हो गए। (दिल्ली में तो आवास की समस्या आज भी विकट रूप से बनी हुई है।)......जिन नगरों की आबादी बहुत कम थी वे भी घने बस गए थे उनके रहने के लिए सरकार को सूने स्थानों में छोटे-छोटे मकान भी बनाने पडे थे। लुधियाना की मॉडल टाउन बस्ती इसी समस्या का परिणाम है।[1] लोग मस्जिदों, मकबरों और खंडहरों में आश्रय पाने की दृष्टि से पहुँच गए थे, भागने और जान वचाने के प्रयत्नों में परिवार छिन्न-भिन्न हो गए थे। अतः ऐसे भटके हुए और असहाय लोगों को आश्रय देने के लिए सुविधानुसार 'शरणार्थी कैम्प' बना दिए गए थे, 'केवल स्त्रियों के लिए' कैम्पों की भी व्यवस्था की गयी थी। अनेक परिवारो के सदस्य बिछुड़ गए थे अतः उनको पुनः मिला देने के लिए आकाशवाणी से नाम, पते सहित विवरण प्रसारित करने की व्यवस्था भी सरकार को करनी पड़ी। विभाजन के कारण स्त्रियों के लिए एक नई समस्या खड़ी हो गयी थी। वे स्त्रियाँ जो अपने परिवार से बिछुड़ गयी थीं पता पा जाने पर भी अपने परिवारों द्वारा इस तर्क के आधार पर स्वीकार नही की गयी कि वे धर्म भ्रष्ट हो चुकी है। ऐसी अनेक विवश स्त्रियो ने आत्महत्या कर ली थी।[2] लोगों का, विशेष रूप से निम्न एवं मध्यम वर्ग का सामान्य जीवन अस्त-व्यस्त हो गया था। उनके लिए उदरपूर्ति भी एक समस्या हो गयी थी। हर चीज पर राशनिंग था बड़ी कठिनाई से मील-मील लम्बी लाइन में घंटों खड़े रहकर आवश्यकता की चीजें प्राप्त होती थी।

गांधी जी की हत्या

इधर साम्प्रदायिक उत्तेजना ज्यों की त्यों बनी हुई थी। जहाँ पकिस्तानी क्षेत्रों से भारतीयों को बेघरबार बनाकर निकाला जा रहा था वहाँ भारत में गांधीजी मुसलमानो के प्रति दया और सहानुभूतिपरक दृष्टिकोण अपनाए हुए थे। उन्होंने सरकार द्वारा उनकी सुरक्षा और सुख-सुविधा की ठीक व्यवस्था न करने पर अनशन तक का सहारा लिया था। इसी से हिन्दुओं में गांधीजी के प्रति विरोध का भाव उत्पन्न हो गया था

1. झूठा सच : देश का भविष्य: (पृष्ठ 58, 413)
2. वही—वही : (पृष्ठ 140—142)

उनके प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी थी और लोग 'गाधी गद्दार है, गांधी मुल्क का दुश्मन है'' के नारे लगाने लगे थे। उनकी घृणा और उत्तेजना इतनी बढ़ गयी थी कि उनकी हत्या के प्रयास होने लगे थे। आखिरकार 30 जनवरी 1948 को उसी उत्तेजना के शिकार नाथूराम गौडसे नामक एक हिन्दू व्यक्ति ने गांधी की जीवन-लीला समाप्त भी कर दी।[1]

देश के विभाजन से उत्पन्न सामाजिक विघटन

यदि हम भारत के इतिहास को उठाकर देखे तो ज्ञात होगा कि 'देश के विभाजन' के साथ-साथ प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में अनेको छोटी-बड़ी समस्याओं ने जन्म ले लिया था। हिसा के परिणामस्वरूप अंग-भग हुए लोग जो कुछ कर सकने में विवश हो गए भीख माँगने लगे और भिखारी समस्या और बढ़ गयी। आने वालो को एकदम रोजगार न मिलने से बेरोजगारी भी बढ़ी जिसके परिणामस्वरूप अन्य सामाजिक अपराधो में वृद्धि हो गयी अनेक स्त्रियाँ असहाय हो गयी जिनके लिए किसी का आश्रय नही था और ऐसी निरीह, भोली स्त्रियो के वासना का शिकार होने से अनैतिक व्यापार बढ़ गया था। इसी प्रकार 'शरणार्थी' वर्ग को मुफ्त भोजन की व आवास की व्यवस्था व सुविधाओं ने कामचोर और मुफ्तखोर वना दिया था। उपन्यासकार के अनुसार सरकार की शरणार्थियों को ये सुविधाएँ प्रदान करने मे दस लाख रुपये प्रतिदिन का व्यय वहन करना पड़ता था। अतः बहुत विरोध के बावजूद भी शरणार्थियो को मुफ्त राशन देना बन्द कर दिया गया था।[2] मुफ्त राशन बन्द कर देने से लोगों को अधिक कठिनाई का सामना नही करना पड़ा क्योंकि अधिकांश लोग किसी-न-किसी रोजगार, व्यवसाय या धन्धे मे डट गये थे केवल मुफ्त मिलने वाले लाभ को न छोड़ने के विचार से कैम्पों में पड़े हुए थे। जो केवल मुफ्त राशन के ही आश्रित थे, उसे बन्द होता देखकर वे भी किसी-न-किसी प्रकार उदर-पूर्ति के साधन की खोज की चिन्ता करने लगे थे। वस्तुतः समय के मरहम से लोगो के घाव भर चले थे, जीवन सामान्य स्तर पर आ गया था और रहने खाने के अतिरिक्त लोग समाज और राष्ट्र की गतिविधियों की ओर आर्कषित हो चले थे।

देष का भविष्य : स्वार्थ के घेरे में

शरणार्थियों की सेवा की आड़ में अवसरवादी नेता लोग अपनी स्वार्थसिद्धि की वात सोचने लगे थे। देश की स्वतन्त्रता पाँच वर्ष की भी नहीं हुई थी कि राजनीति, स्वार्थ के घेरे में खेलने लगी; व्यक्तिगत स्वार्थो के आगे राष्ट्रीय क्षति हो तो भले ही हो। नया शासन मानों भूखे लोगो के हाथ मे आ गया और भाई-भतीजावाद चलने लगा। योग्य-अयोग्य का कोई

1. झूठा सच : देश का भविष्य: पृष्ठ 231
2. झूठा सच : देश का भविष्य: पृ० 370

फर्क नही था। जो मन्त्रियों का अपना था वह ऊँचे पदों का अधिकारी था।[1] वहाँ उन क्रान्तिकारियों का कोई महत्व न था जिन्होंने सत्ता के कांग्रेस के हाथ में आने के पूर्व अंग्रेजों के विरुद्ध क्रान्ति में भाग लिया था और आन्दोलनों में भाग लेने के कारण जेल गये थे। उल्टे उन्हें 'कम्युनिस्ट' कह कर भारतीय शासन में भी नौकरी तक से वंचित रखा गया। ये सभी तथ्य उक्त उपन्यास के माध्यम से प्रकाश में आते हैं।

पुरी द्वारा सिफारिश किये जाने पर भी दौलतराम आजाद का नाम टीन की चादर के कोटे की सूची मे से इसलिए काट दिया गया कि एक तो वह कम्युनिस्ट है और दूसरे इसलिए कि शंकर लाल मठानी को तीन टन का कोटा देना है क्योंकि मठानी का सिन्धियों में बहुत प्रभाव है।[2] वह थी चुनाव के लिए किले बन्दी। पाँच वर्ष में एक बार सरकार का चुनाव होता है। सरकार के चुनाव पर ही देश का भविष्य निर्भर करता है। किन्तु देश के भविष्य की चिन्ता सरकार के नुमाइन्दों को नहीं होती, उन्हे तो जैसे-तैसे कुचक्रों और षड्यन्त्रों का सहारा लेकर अपने प्रतिद्वन्दी को पछाडना होता है। स्वतन्त्र भारत के प्रथम चुनाव मे कैसी-कैसी धाँधलियाँ हुईं इसका पता हमें उपन्यास से चलता है।[3] सभी क्षेत्रों में नीचे से ऊपर तक अनैतिकता का साम्राज्य था। उच्च वर्ग को कोई हानि नही थी, मरण था तो साधारण, मध्य और निम्न वर्ग का, टैक्स और मँहगाई के भार ने जिनकी कमर तोड़ रखी थी। नौकरशाही ऊपर से नीचे तक स्वार्थ में डूबी हुई थी। जनता का अरबों रुपया करोड़पतियों और सरकारी अफसरों की जेबो मे जाये, चवन्नी की जगह रुपये का 'एस्टीमेट' बने तब कोई सोचकर देखे कि देश का भविष्य क्या होगा ? इधर मजदूर वर्ग अपनी धाक जमाने की कोशिश में था। काम कम, आराम अधिक, यही उसकी तमन्ना रहे, उसमें व्यवधान पड़े तो हड़ताल की धमकी······राष्ट्र हित का खयाल न मजदूरों को रहा न नौकरशाही को और न मिनिस्ट्री को।[4]

अपनी तानाशाही और स्वच्छन्दता का गला घुटता देख सत्ता के कर्णधार कहलाने वाले व्यक्ति, लोगों के व्यक्तिगत जीवन तक को तबाह करने पर उतारू हो गए थे। सूदजी नही चाहते कि योजना का राष्ट्रीयकरण हो जब कि डॉ० नाथ को वह काम सौंपा गया था और उनके द्वारा पंचवर्षीय योजना का प्रमुख अंश राष्ट्रीय नियन्त्रण में रख लेने के कारण सूद जी डॉ० नाथ से शत्रुता ठान लेते है और इस वैर का बदला वे उनके दाम्पत्य जीवन को तवाह करके लेना चाहते है। वे तारा की आड़ में डॉ० नाथ

1. वही पृ० 420
2. झूठा सच : देश का भविष्य : पृ० 427
3. वही : पृ० 491-496
4. वही : पृ० 644-645

का शिकार करना चाहते हैं ।[1] यह बात इस ओर संकेत करती है कि मिनिस्टर तक 'देश के भविष्य' का खयाल न कर अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए सब कुछ उचित, अनुचित करने पर उतारू हो जाते हैं । वस्तुत: लेखक ने इस घटना के चित्रण द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि भारत की स्वाधीनता के प्रारम्भ से ही राजनीति छिछली हो चली थी, व्यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि के लिए छल, कपट, धूर्तता, बेईमानी का सहारा लिया जाता था । देश के भविष्य की सभी वर्गो की ओर से उपेक्षा होने लगी थी ।

यह ऐतिहासिक विवरण हमे झूठा-सच के दो भागो 'वतन और देश' एवं 'देश का भविष्य' से उपलब्ध होता है। यदि हम भारत के इतिहास के आधार पर उपन्यास के माध्यम से उपलब्ध होने वाले ऐतिहासिक विवरण की जाँच करें तो ज्ञात होगा कि वह प्रामाणिक है, इतिहास सम्मत है । लीग और कांग्रेस के बीच साम्प्रदायिक दगे, मुस्लिम लीग की 16 अगस्त 1946 को प्रत्यक्ष कार्रवाई (Direct Action), देश का विभाजन, जनसंख्या की अदल-बदल, कत्ले आम, लूट मार, अग्निकाण्ड, वलात्कार आदि की घटनाओं का इतिहास साक्षी है ।[2]

झूठा सच : आंचलिक स्वरूप

अन्त में 'झूठा-सच' के सम्बन्ध में एक बात और कहनी है और वह यह कि उपन्यास में आई घटनाएँ केवल पंजाब तक ही सीमित रखी गई है जबकि स्वतन्त्रता के पहले और स्वतन्त्रता के बाद तक सम्पूर्ण देश में साम्प्रदायिक दगों का जोर था । लगभग एक-सी घटनाएँ देश के सभी कोनों में घटित हो रही थी । हाँ यह अवश्य है कि पजाब, बगाल और बिहार के क्षेत्र इन घटनाओं से अधिक प्रभावित थे । किन्तु उपन्यास में घटनाएँ पंजाब के ही आंचल से बटोरी गई हैं । इससे उपन्यास का स्वभाव आंचलिकता की हल्की छाप लिए हुए है । 16 अगस्त 1946 को मुस्लिम लीग की (Direct Action) प्रत्यक्ष कार्रवाई के परिणामस्वरूप कलकत्ता लाशों का समुद्र वन गया था ।[3] 'प्रत्यक्ष संघर्ष' के द्वारा मुस्लिम लीग यह प्रदर्शित कर रही थी कि पाकिस्तान ताकत के जोर पर लिया जायगा । प्रत्यक्ष सघर्ष के दिन ही कलकत्ता में एक ओर सुहरावर्दी अपने

1. झूठा सच : देश का भविष्य : पृष्ठ 693-700
2 कांग्रेस का इतिहास : पृष्ठ 51 से 53, 56, 64
3. Between dawn on the morning of 16 August 1946 and dusk three days later, the people of Calcutta hacked, battered, bearned, stabbed or shot 6000 of each other to death and raped and maimed another 20,000...But the filthy and dreadful slaughter which turned Calcutta into a carnel house for seventy two hours in August, 1946 is importent because it did more than murder innocent people.
The last days of British Raj By Leonard Mosley (1961) P. 11 14

भाषण में मुसलमानों की पाकिस्तान लेने के लिए दिखाई गयी जवांमर्दी को सराह रहे थे और दूसरी ओर पास की गलियों में लोगों को मौत के घाट उतारा जा रहा था। अस्पतालों में पीड़ितों की संख्या इतनी अधिक हो गयी थी कि अस्पतालों के बाहर 'खाली नहीं है' (Full) के इश्तिहार लगा दिए गए थे।[1] 16 अगस्त 1946 के प्रत्यक्ष संघर्ष की ओर झूठा सच में भी संकेत मिलता है किन्तु पंजाब में उसके परिणाम गम्भीर नही हुए थे इस बात की भी झलक मिलती है।[2] पंजाब की अपेक्षा बंगाल में विशेष रूप से कलकत्ता में स्थिति अधिक गम्भीर और शोचनीय थी। पंजाब में तो इवान जेन्किन्स नामक गवर्नर द्वारा कठोर नियन्त्रण रखे जाने से शान्ति कायम रही थी किन्तु बिहार के हिन्दू, कलकत्ता में अपनी जान और माल की हानि का बदला चुकाने पर आमादा थे।[3] इससे एक बात स्पष्ट है कि कुछ क्षेत्र ऐसे भी थे जो समय-समय पर पंजाब से अधिक संकट ग्रस्त रहे किन्तु उपन्यासकार उस ओर से उदासीन रहा है और केवल पंजाब की भूमि पर ही विचरण करता रहा है। उपन्यासकार का यह दृष्टि-कोण उपन्यास में संजोई गयी कथावस्तु को ध्यान में रखते हुए सीमित जान पड़ता है। उपन्यास के माध्यम से ऐतिहासिक गतिविधियों का प्रतिबन्धित सीमित रूप ही उभर कर आता है, जब कि तथ्य की बात यह है कि इसी प्रकार का इतिहास देश के अन्य भागों मे भी निर्मित हो रहा था।

जो हो, यशपाल ने झूठा-सच उपन्यास में आधुनिक इतिहास की महत्वपूर्ण घटनाओं को उपजीव्य बनाया है।[4] महात्मा गाधी और जवाहरलाल नेहरू के भाषणों के सम्बन्ध में यशपाल का कहना है कि उन्होंने सन् और तारीख ही नही वक्तव्य भी सही-सही उद्धृत किए हैं। किन्तु मन्मथनाथ गुप्त को उनके इस कथन मे सन्देह है। फिर भी इतना अवश्य है कि वे भी यशपाल के झूठा सच को औपन्यासिक महाकाव्य स्वीकार करते है।[5]

---

1. The last days of British Raj : Page 34, 36
2. झूठा सच : वतन और देश : पृष्ठ 78
3. The strong man of the party Sardar Patel, had been to see the Viceroy several times to request military help in restoring order in Bihar, where the Hindus had begun to rape, kill and mutilate in reprisal for their losses in Calcutta. And congress knew only too well that peace in the Punjab where there were 160,00,000 Muslims, and 1,20,00,000 non Muslims, was maintained only due to tight control by Evan Jenkins..." The last days of British Raj. Page 46....
4. समसामयिक हिन्दी साहित्य : उपलब्धियाँ (सम्पादित) पृ० 74 प्रथम संस्करण 1967
5. वही पृष्ठ 88

पाँचवाँ अध्याय

इतिहास-मुक्त उपन्यास

जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, हमने उपन्यासों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है और तीसरी श्रेणी में आने वाले उपन्यासों को 'इतिहास-मुक्त' की संज्ञा दी है। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि ऐतिहासिक उपन्यासों व इतिहास प्रभावित उपन्यासों के अतिरिक्त जो शेष रह गये वे स्वतः ही इतिहास मुक्त उपन्यासों की श्रेणी में आ जायेंगे। तब ऐसा वर्गीकरण क्यों किया गया? इस प्रश्न का सीधा-सा उत्तर यह है कि इतिहास मुक्त उपन्यास की श्रेणी में सम्मिलित किए गए उपन्यासों के माध्यम से यह दर्शाना रहा है कि उपन्यासकार इतिहास के प्रति कितना भी उदासीन अथवा तटस्थ रहने की चेष्टा करे, वह युग के इतिहास के प्रति अपने मोह को पूर्ण रूपेण तोड़ नही सकता। यद्यपि हमारे इस कथन के अपवाद भी मिल जायेंगे, किन्तु ऐसे उपन्यासों की संख्या नगण्य है। अस्तु, 'इतिहास मुक्त उपन्यास' शीर्षक के अन्तर्गत हमने जैनेन्द्र के 'त्याग पत्र', अश्क के 'बड़ी-बड़ी आँखें', उदय शंकर भट्ट के 'सागर लहरें और मनुष्य', बलभद्र ठाकुर के 'आदित्यनाथ', नरेश मेहता के 'डूबते मस्तूल' एवं राजेन्द्र यादव के 'उखड़े हुए लोग' को स्थान देते हुए इनके माध्यम से इतिहास की अभिव्यक्ति पर विचार किया है।

त्यागपत्र : जैनेन्द्र

हिन्दी उपन्यासों के क्षेत्र में जैनेन्द्र जी 'परख' (1929) को लेकर आए। आगे चलकर उन्होंने सुनीता (1934) की सृष्टि की और फिर 1937 में हिन्दी कथा साहित्य को 'त्यागपत्र' दिया। इसके पश्चात् 'कल्याणी', 'सुखदा', विवर्त, 'व्यतीत' और 'जयवर्धन' जैसे उपन्यासों की रचना की। जैनेन्द्र जी के उपन्यासों के सम्बन्ध में एक सामान्य बात तो यह है कि उनमें कथानक अत्यन्त लघु मिलता है, दूसरे, दार्शनिक दृष्टिकोण अत्यन्त प्रबल है। जहाँ तक कथानक का प्रश्न है 'त्यागपत्र' में भी वह नहीं के बराबर है। 'त्यागपत्र' की कहानी केवल दस पंक्तियों में इस प्रकार कही जा सकती है—मृणाल जो कि अपने भाई-भावज के साथ रहती है सर्वाधिक अपने भतीजे प्रमोद को प्रेम करती है। अपनी सखी के भाई से प्रेम करती है, किन्तु प्रेम असफल सिद्ध होता है। मृणाल का विवाह भी हुआ किन्तु विवाहित जीवन सुखी नही है। पति द्वारा

घर से निकाल दी जाती है। अन्त में एक कोयले वाले के यहाँ आश्रय लेती है और गर्भवती हो जाती है। मृणाल कन्या को जन्म देती है किन्तु उसकी भी मृत्यु हो जाती है। वह एक डाक्टर के यहाँ शिक्षण कार्य करती है किन्तु उसी डाक्टर के यहाँ प्रमोद के विवाह की बात चलती है। प्रमोद द्वारा डाक्टर को मृणाल के अपनी बुआ होने का रहस्य खोल देने से विवाह की बात और मृणाल की नौकरी समाप्त हो जाती है। मृणाल की आगे चलकर मृत्यु हो जाती है।''

त्यागपत्र की मृणाल को लेकर आलोचकों ने अनेक प्रकार से सराहना की है, अपने-अपने मत व्यक्त किये हैं। किन्तु हमारा ध्येय तो कथा साहित्य को इतिहास की दृष्टि से परखना है न। अतः पहले इसी दृष्टि से कुछ विचार करें।

सन् 1918–20 में गांधी जी के राजनैतिक क्षेत्र में उतर आने से देश में एक सर्वथा नवीन प्रकार का किन्तु व्यापक वातावरण बन गया था। यह भारत की स्वाधीनता के लिए लड़ी जाने वाली लड़ाई के इतिहास का निर्माण-काल था जिसका अन्त भारत की स्वाधीनता के साथ सन् 1947 में हुआ। इसके बीच का अर्थात् लगभग सन् 1936 से 1945 तक का काल इस संघर्ष का उत्कर्ष काल था। सन् 1939 का महासमर और 1942 का 'भारत छोड़ो आन्दोलन' इसके प्रमाण हैं।

हाँ तो इस सब का 'त्यागपत्र' से क्या सम्बन्ध है—यही प्रश्न उठ सकता है। मैं कहूँगा सम्बन्ध है और अवश्य है, न केवल त्यागपत्र से बल्कि उसके लेखक से भी। 'त्यागपत्र' प्रथम बार सन् 1937 में प्रकाशित हुआ जिससे यह सिद्ध होता है कि इसका रचनाकाल वही था जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि साहित्यकार अपने युग की परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होता किन्तु जैनेन्द्र जी किसी सीमा तक इस कथन के अपवाद हैं। यद्यपि इसके पूर्व रचित 'सुनीता' में उन्होंने हरिप्रसन्न नामक क्रान्तिकारी पात्र की अवतारणा कर दी है और बाद के, 'सुखदा' जैसे उपन्यास में भी क्रान्तिकारी को ला रखा है, तथापि गांधीवादी विचार धारा का तो जैसे उनमें लोप हो गया है।

'त्यागपत्र' उस दृष्टि से एकदम 'इतिहास मुक्त' है, उसमें इतिहास की लेशमात्र भी झलक नहीं मिलती। यह विशेष रूप से ध्यान देने की बात है कि जैनेन्द्र जी जैसे उपन्यासकार की कृतियों में युग चेतना, सामाजिक चेतना या तत्कालीन इतिहास अभिव्यक्त नहीं हुआ है। इस सम्बन्ध में निष्कर्ष यही निकलता है कि जैनेन्द्र जी इतिहास के प्रति उदासीन रहे हैं। यहाँ अध्ययन सीमा के बाहर की वस्तु होते हुए भी मृणाल को लेकर कुछ कहने का मोह नहीं रोक सकता। त्यागपत्र की मृणाल के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा गया है। कभी गांधी जी के आत्मपीड़न से मृणाल का

त्यागपत्र : पूर्णतः इतिहास मुक्त उपन्यास

सम्बन्ध जोड़ा गया है[1] तो कभी यह विचार व्यक्त किया गया कि 'लेखक ने अहिंसावाद के सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए मृणाल को इन परिस्थितियों में डाला है।[2]......' किन्तु यह सब धाराएँ कोई ठोस आधार लिए हुए नही है। सुनीता और सुखदा मे 'क्रान्तिकारी' की अवतारणा करने वाले जैनेन्द्र को मात्र आत्मपीड़न तक ही सीमित मान लिया जाए सो कैसे सम्भव है।

वस्तुत: मृणाल का ऐसा छिछला व्यक्तित्व उसकी अपूर्ण काम तृप्ति का परिणाम प्रतीत होता है। मानो वह पति से प्यार न मिल सकने के कारण छक कर वासना की तृप्ति करना चाहती हो।

मृणाल का यह कहना कि, मैं समाज को तोड़ना फोड़ना नही चाहती हूँ, समाज टूटा कि फिर हम किसके भीतर बनेंगे या किसके भीतर बिगड़ेंगे ?[3]...... मात्र जैनेन्द्र जी का अपना आदर्श है। सच पूछा जाए तो कोयले वाले से गर्भ धारण कराने वाली मृणाल ने समाज के तल मे जितना बड़ा छिद्र किया है, शायद ही साहित्य मे कोई नारी पात्र कर पायी हैं। इस कथन के सम्बन्ध में डॉ० देवराज का मत कुछ और ही है। वे कहते हैं,'' ....'लगता है जैसे लेखक सामाजिक उथल-पुथल की सम्भावना से त्रस्त है। चिन्तन में ये पलायन के तत्व हैं।'

जहाँ तक उपन्यास के शिल्प का प्रश्न है जैनेन्द्र जी के कौशल को सराहे बिना नही रहा जा सकता। सर एम० दयाल के कागजों में उनके हस्ताक्षर युक्त पांडुलिपि मिलने और उसके हिन्दी उल्था दिए जाने की बात कहकर 'त्यागपत्र' की कथावस्तु को प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयास मौलिक और अनूठा है। इसी प्रकार का प्रयास द्विवेदी जी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में मिस कैथराइन (दीदी) के माध्यम से किया है।

डूबते मस्तूल : नरेश मेहता (1954)

'डूबते मस्तूल' (1954) नरेश मेहता का प्रथम उपन्यास है। इसके बाद उन्होने क्रमश: 'धूमकेतु एक श्रुति' (1962), 'यह पथ बन्धु था' (1962) और 'दो एकान्त' (1964) की रचना की। 'डूबते मस्तूल' (1954) 'रंजना' नामक रूपवती स्त्री की आत्मकथा शैली में मनोविज्ञान को आधार बनाकर लिखी गयी कथा है। उपन्यास को पढ़कर ऐसा लगता है मानों रंजना अनजाने में दूसरों द्वारा नहीं छली गयी है वह तो स्वयं वासनामय नारी है या यह कहे कि नारी रूप में वासना ही मूर्त रूप धारण करके अवतरित हुई है।

---

1. जैनेन्द्र व्यक्तित्व और कवित्व : (सम्पादित) सत्यप्रकाश मिलिन्द डॉ० नगेन्द्र के "त्यागपत्र और नारी" लेख से (पृष्ठ 32)।
2. हिन्दी उपन्यास : डॉ० सुषमा धवन (पृष्ठ 185 से उद्धृत)।
3. त्यागपत्र : जैनेन्द्र (पृष्ठ 60)।

अस्तु, जैसा कि 'बीज' उपन्यास का विवेचन करते समय बतलाया जा चुका है कथा साहित्य में इतिहास की अभिव्यक्ति कई प्रकार से होती है। कई बार तो लेखक स्वयं अपनी ओर से पृष्ठभूमि बतलाते समय इतिहास की चर्चा करता है तो कई बार पात्र परस्पर वार्तालाप के माध्यम से उन घटनाओं और पात्रों की चर्चा करते हैं जो इतिहास से सम्बद्ध होती हैं तो कई बार ऐतिहासिक पात्र ही जब उपन्यास या कहानी में प्रस्तुत कर दिए जाते है इतिहास स्वतः ही सामने आ जाता है। किन्तु यह केवल तभी होता है जब ऐतिहासिक कृति लिखी जाए। शेष दशाओं में लेखक का प्रधान उद्देश्य 'इतिहास' को प्रस्तुत करना नहीं होता किन्तु यदि अनैतिहासिक रचनाओं में भी कही-कही इतिहास अभिव्यक्त होता है तो यह कहा जा सकता है कि उपन्यासकार या कहानीकार इतिहास के प्रति था तो उदासीन फिर भी अनजाने में ऐसा हो गया। कथाकार यदि चाहे तो ऐसे इतिहास की तनिक भी सहायता न ले और उसका काम चल जाये। उदाहरण के तौर पर उदयशंकर भट्ट का उपन्यास 'सागर, लहरें और मनुष्य' देखा जा सकता है, जैनेन्द्र का 'त्याग पत्र' देखा जा सकता है जो 'इतिहास से सर्वथा मुक्त है।' फिर यदि हमें किसी उपन्यास या कहानी में चाहे कम मात्रा में, बिखरे हुए रूप में ही सही इतिहास की झलक मिलती है तो इसका अर्थ यही होगा कि कथा कहते समय कथाकार ने इतिहास से मुक्त रहने की चेष्टा की है किन्तु फिर भी इतिहास क्षणिक रूप से दामिनी की भाँति कौध कर लुप्त हो गया है।

डूबते मस्तूल में क्रान्तिकारी इतिहास के सूत्र

'डूबते मस्तूल' की कथा अकलंक और रंजना नामक पुरुष और स्त्री पात्रों को लेकर आत्मकथात्मक शैली में लिखी गयी है। रंजना, अकलंक को गलती से अपना पूर्व प्रेमी अकलंक समझकर सम्पूर्ण अतीत को दोहराती है और उसी बीच जहाँ वह अपने निजी अतीत को अनावृत करती है वहाँ अनायास ही 'इतिहास' क्षण भर को कौधकर विलुप्त हो गया है। रंजना, अकलंक को विवाह के पूर्व उसके साथ मिलन के दृश्यों और दोनों के मध्य हुए वार्तालाप का स्मरण कराती हुई कहती है, "मुझे बाद में मालूम हुआ था कि······तुम हजारी बाग में किसी संगीन राजनीतिक मुकदमे में बन्दी हो।·· ···मैं तुम्हें जितना बाँधने का प्रयास करती हूँ तुम उतने ही उन्मुक्त हो जाते हो। भगतसिंह राजगुरु वगैरह फाँसी पा चुके थे और गाँधी जी की राजनीति ने करारी हार खाई थी सभी नौजवानों में गुस्सा था।[1]······मैंने कई बार क्रान्ति विद्रोह विध्वंस में और अन्य हिंसा में साम्य बतलाते हुए कहा भी था कि यह मात्र दानवी

1. डूबते मस्तूल : नरेश मेहता, पृष्ठ 68 : 1954 संस्करण।

भावना है, गाँधी बाबा भी यही कहते हैं, जबकि समाज के लिए सुव्यवस्थित आधारभूत नीतिमय प्रणाली की आवश्यकता है ·····न कि लोगों को इस प्रकार एक दूसरे को हमेशा मारने के लिए पिस्तौल लिए घूमना आवश्यक है।······और तुमने हमेशा यही कहा कि 'रंजना' व्यक्ति संकट के दृष्टिकोण से उठाए गए अस्त्र मे और एक विराट सामूहिक जनहित प्रणाली के लिए उठाए गए अस्त्र में क्या कुछ भेद नहीं देखती ? इस मामले में अहिंसा की दुहाई गलत है।[1] ·····सुना था कि वायसराय की ट्रेन पर बम फेंकने वालों में तुम भी थे और तुम्हें आजन्म कारावास का दण्ड मिला था।[2]······''

उपर्युक्त सारा विवरण उपन्यासकार ने रंजना के माध्यम से ही ला प्रस्तुत किया है, जिसके माध्यम से अहिंसा और क्रान्ति के मिले-जुले इतिहास का अतिलघु और धूमिल अंश हमारे सन्मुख उपस्थित हो जाता है। इसी प्रकार रंजना अपने अतीत की घटनाओं को सुनाने का क्रम जारी रखते हुए चकले वाली बुढ़िया द्वारा एक सेठ की नकली सोने की भेजी हुई चूड़ियों की घटना का और अपने कालेज जीवन का स्मरण करती है और चूड़ियों वाले पुराने अखबार के समाचार की बात करती है तो 1939 के महासमर का इतिहास हमारे सन्मुख आता है। उस समय 1939 का युद्ध चल रहा था और स्त्रियों की एम्बूलेंस में भर्ती की जा रही थी। यही क्रम आगे भी चलता रहा है और रंजना अपनी कथा कहने के बहाने युद्ध की विभीषिका के चित्र उपस्थित करती है जब सन् 1939 में महासमर छिड़ा, और जर्मनी और ब्रिटेन युद्ध में कूदे।[3] उपन्यास में भारतीय इतिहास कम मिलता है यूरोपीय इतिहास अधिक। 1939 की लड़ाई के माध्यम से ही भारतीय इतिहास को भी प्रस्तुत करने का अवसर था किन्तु ऐसा नही किया गया है। जापान के बर्मा, मलाया आदि पर आक्रमण की चर्चा अवश्य हुई है किन्तु नाम मात्र की।[4] कुल मिलाकर डूबते मस्तूल में इतिहास के नाम पर मात्र इतना ही उपलब्ध होता है। उपन्यासकार ने जो प्रयास किया है वह मौलिक अवश्य है किन्तु अकलंक को मौन रखकर केवल रंजना को ही बोलने का अवसर प्रदान करना अस्वाभाविक है। रंजना द्वारा घटनाओं का धारा प्रवाह रूप मे बोलना स्वयं की कहानी के साथ-साथ युग की कहानी कहना वह भी 25-26 वर्ष की, कुछ खटकने वाली बात है। ऐसा प्रतीत होता है मानों अकलंक, मात्र रजना के मुख से यह सब सुनने के उद्देश्य से आया है और उसके समाप्त होते ही प्रस्थान कर गया है।

---

1. वही : नरेश मेहता, पृष्ठ 69 2. वही, पृष्ठ 71
3. डूबते मस्तूल : नरेश मेहता, पृष्ठ 159, 176, 179
4. वही : नरेश मेहता (पृष्ठ 116)

बड़ी-बड़ी आँखें : उपेन्द्रनाथ अश्क (1955)

उपेन्द्रनाथ अश्क के उपन्यासों मे जो एक प्रमुख बात देखने को 'मिलती है वह है निम्न मध्यवर्गीय समाज का चित्रण। 'गिरती दीवारें' 'गर्मराख' 'शहर मे घूमता हुआ आईना' ऐसे ही उपन्यास है। इसके अतिरिक्त 'सितारों के खेल' 'पत्थर अल पत्थर' तथा 'बड़ी-बड़ी आँखें' आदि को मिलाकर कुल 5 उपन्यास हैं। 'बाँधो न नाव इस ठाँव' तथा '1963 का भारत' उनके नवीनतम उपन्यास है। 'शहर में घूमता हुआ आईना' और उसके बाद के उपन्यास 1960 के बाद के होने से हमारी अध्ययन सीमा के बाहर पड़ते हैं। अतः यहाँ हम 'बड़ी-बड़ी आँखें' पर ही विचार करेंगे।

'बड़ी-बड़ी आँखे' (1955) उपन्यास मे, अश्क जी ने देवाजी (सरदार देवेन्द्र सिंह) द्वारा स्थापित देवनगर को केन्द्र बनाकर कथानक का निर्माण किया है। सम्पूर्ण कथा का केन्द्र देवनगर है जिसकी स्थापना के मूल में तो अदर्शवाद है किन्तु व्यवहार में यह आदर्शवाद, थोथा आदर्शवाद है। जैसा कि प्रायः सभी संस्थाओं के साथ होता है प्रारम्भ मे वे व्यवस्थित रूप मे आदर्शवाद पर आधारित होती है किन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रकृति के लोगों का उसमें योग होने से उनका प्रारम्भिक आदर्श रूप विकृत हो जाता है और उसमें अनेक बुराइयाँ जन्म लेती है। इसी प्रकार देवनगर में भी कुछ तो उसके सस्थापक की दुर्बलताओं और कुछ उसके अन्य व्यक्तियों के कारण ये बुराइयाँ घर कर गयी है। शान्ति की खोज में, गाँधी आश्रम जाने वाला युवक संगीत, निरजनसिंह के कहने पर तथा 'देव वाणी' के अंक पढ़कर प्रभावित होने पर देवनगर पहुँच जाता है और देव जी की देव वाणी सुनने के लिए, देव जी के देवनगर में शान्ति पाने के लिए तथा देव जी के देव मण्डल में काम करने के उद्देश्य से पचास रुपया और भोजन पर सम्मिलित हो जाता है। संगीत देव सैनिक बनकर प्रारम्भ मे तो उससे प्रभावित होता है किन्तु अन्त में निराश होता है।

बड़ी-बड़ी आँखें : कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम का धुंधला चित्र

यद्यपि 'बड़ी-बड़ी आँखें' स्वाधीनता के बाद की रचना है तथापि कहीं-कहीं उसमें स्वतन्त्रता के पूर्व के वातावरण और स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए चल रहे प्रयासों का धूमिल चित्र दिखलाई पड़ता है।

देवाजी अपनी देववाणी में लेखनी के माध्यम से ऐसे ही विचारों का प्रतिपादन करते हैं जो स्वाधीनता की भावना से अनुप्राणित है। प्रसिद्ध सूफी कवि छज्जू के ये बोल जब उनके लेख में आते हैं--

"जो सुख छज्जु दे चौबारे
ओह न बलख न बुखारे"[1]

---

1. बड़ी-बड़ी आँखें : पृष्ठ 52

तो अन्योक्ति के माध्यम से इतिहास का एक धुँधला चित्र हमारे सामने आ जाता है। छज्जू भारतवासियों का प्रतीक है और चौबारा भारत का। बल्ख और बुखारे अंग्रेजों द्वारा सुधारे हुए भारत के प्रतीक हैं। भारत अग्रेजों के अधीन है जो कि भारतवासियो को कतई पसन्द नही है। भारत जैसा भी है उनका है वे उसमे रहेगे कष्ट में रह कर स्वतन्त्रता चाहेगे, सुखी रहकर पराधीनता नही। सोने के पिंजरे मे बन्द तोते का जीवन बिताने से उन्मुक्त वातावरण में विचरण करने वाले पक्षी का जीवन कही सुखकर होता है। इसी के माध्यम से देशवासियों में वे स्वतन्त्रता के भाव भरते है क्योंकि उनका मत है कि कोई बड़ी से बड़ी पनाह भी पराधीनता को सुखकर नही बना देती।[1] उनके इस कथन में कि—इंसान की आत्मा जन्म तक का बन्धन स्वीकार नही करती उसकी अन्तिम माँग मुक्ति है[2]—में तिलक का नारा 'स्वतन्त्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है,' ध्वनित होता है। वैसे यहाँ हमें देवाजी के उद्देश्यों मे किंचित भिन्नता भी परिलक्षित होती है। कांग्रेस की स्थापना के बाद आगे चलकर सन् 1907 में दो दल बन गए थे—एक नरम दल और दूसरा गरम दल; दोनों ही दलों में सैद्धान्तिक मतभेद था किन्तु ध्येय दोनों का एक ही था, 'स्वराज्य' प्राप्त करना।[3] किन्तु देवाजी का इस सम्बन्ध में अपना ही मत है।

देवाजी के अनुसार देशवासी अभी 'स्वराज्य' के योग्य नही हैं। अत: उन्हें इस योग्य बनाना भी उतना ही महत्वपूर्ण कार्य है। इसी महत् कार्य को सम्पन्न करने के लिए 'देवमण्डल' की कल्पना की गयी है। तत्कालीन समाज और राष्ट्र के अभावों की पूर्ति करना ही उसका उद्देश्य है। यद्यपि देवाजी यह जानते थे कि हमारे देश में मण्डल, संघ, सभा, सस्थाएँ कुकुरमुत्तो की तरह सिर निकाल कर लोप हो जाते है। अत: जनता उन्हें भी सन्देह की दृष्टि से देखती रही तथापि उन्होने देवमण्डल स्थापित कर ही दिया। किन्तु अन्त में 'देवनगर' भी अपने उन उच्चतर आदर्शो को प्राप्त नही कर पाता। वास्तव मे जिस आदर्श को आधार बनाकर देवनगर की स्थापना देवाजी करते हैं वह समाजवादी पैटर्न है जहाँ रहने की उत्तम व्यवस्था होगी, गरीबों के मध्य अमीरों का निवास न होगा। किन्तु सारे प्रयत्नों के बावजूद भी चाटुकारिता, संकीर्णता, विद्वेष जैसी अनेक बुराईयाँ उसमें घर कर गयी।[4]

अन्त में डॉ० सुरेश सिन्हा के इस मत का उल्लेख मै यहाँ कर दूँ। डॉ० सिन्हा के अनुसार उपेन्द्रनाथ अश्क ने देवनगर के संस्थापक, देवाजी के व्यक्तित्व की सृष्टि पंडित जवाहर लाल नेहरू के व्यक्तित्व के आधार पर की है। डॉ० सिन्हा ने यह बात इसलिए कही है कि उनके मत में देवाजी भी नेहरू की भाँति आदर्शवादी हैं, स्वप्न

1. बड़ी-बड़ी आँखें : उपेन्द्रनाथ अश्क : पृष्ठ 53 2. वही : पृष्ठ 53
3. वही : पृष्ठ : 53 4. वही : पृष्ठ 142

द्रष्टा हैं आदि-आदि ।[1] लेखक का यह कथन उपन्यास में आई कुछ पंक्तियों पर आधारित है जो देवाजी के सम्बन्ध मे नही कही गयी बल्कि देवनगर के सम्बन्ध मे संगीत नामक पात्र (नायक) द्वारा कही गयी हैं ।[2] डॉ० सिन्हा के उपर्युक्त कथन को पूर्णरूपेण सत्य कहना उपयुक्त नही होगा, यद्यपि उपन्यासों में इस प्रकार भी चरित्रो की अवतारणा होती है ।

आंचलिक उपन्यास

विगत दस पन्द्रह वर्षो मे हिन्दी उपन्यास ने जिस नई दिशा मे कदम बढाए हैं वह नई दिशा आंचलिकता की है । 'आंचलिकता' की ओर उठे हुए ये कदम कथा साहित्य को उन्नति के मार्ग पर ले जाएँगे अथवा अवनति के पथ

कुछ विचार

पर यह एक पृथक् किन्तु महत्वपूर्ण प्रश्न है । इसीलिए विषय को दृष्टिगत करते हुए हम इस विषय पर, नही चाहते हुए भी, कुछ कह देना चाहते हैं । प्रथम तो यह कि ऐसे उपन्यासो में कुछ स्थानीय या प्रान्तीय रगों को गहरा करके उसे आंचलिकता का जामा पहना देने या उसे 'आंचलिक' नाम देने को ही मैं एक गलत प्रयास मानता हूँ । मेरा विचार है कि 'आंचलिकता' कोई नई चीज़ नही है वह पूर्व से ही अनेको उपन्यासों में किसी न किसी मात्रा मे उपलब्ध है । केवल नवीनता के मोह में पड़कर उन्ही रंगों को गहरा करके प्रस्तुत करने से मैं समझता हूँ कि साहित्यिक कृति विकृत होती है और साहित्य सृजन के मूल उद्देश्य 'लोक मंगल' से हटकर उपन्यासकार जाने अनजाने मे प्रान्तीयता को जन्म देता है । उससे राष्ट्रीय और भावात्मक एकता को आघात पहुँचता है । संक्षेप में राधेश्याम कौशिक के अनुसार आंचलिक उपन्यासो के मूलतत्व ये है—(1) कथानक का आंचलिक आधार (2) लोक संस्कृति का चित्रण, (3) अंचल की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति का चित्रण, (4) भौगोलिक या प्रकृति चित्रण, (5) पात्रों के चरित्र विकास में अंचल का योग, (6) जन जागरण की नई दिशा का सकेत ।[3] आंचलिकता के मूल तत्वों को ध्यान में रखते हुए यदि हम अपने उपर्युक्त कथन की पुष्टि स्वरूप प्रेम चन्द के 'गोदान' और द्विवेदी जी के 'बाणभट्ट की आत्मकथा' पर दृष्टि डालें तो शायद उपर्युक्त सभी मूलतत्व इन दोनों उपन्यासों मे कमअधिक मात्रा मे मिल जायेंगे । आंचलिक उपन्यासों के पक्ष में केवल एक बात कही जा सकती है और वह यह कि उसमें स्थानीय भाषा का अधिक यथार्थ रूप और क्षेत्र अत्यन्त सीमित रहा है । जो हो, इस सम्बन्ध में

---

1. हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास : डॉ० सुरेश सिन्हा पृ० 423
2. बड़ी-बड़ी आँखें : उपेन्द्रनाथ अश्क पृ० 183
3. हिन्दी में आंचलिक उपन्यास : राधेश्याम कौशिक, पृष्ठ 13

अधिक न कहकर केवल दो एक कथन उद्धृत करता हूँ। 'आंचलिकता के कुछ तत्व प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में भी मिलते हैं जिनका विकास कथा तत्व के उभार के साथ ही देखा जा सकता है।······ '[1] डॉ० सरनाम सिंह शर्मा के अनुसार 'आंचलिकता से साहित्य के प्रादेशिक संकीर्णता में फँसने का अन्देशा है, भावात्मक एकता के प्रयत्न असफल होगे। राष्ट्रीय व्यापकता को आघात तथा साहित्यिक विघटन का भय रहेगा।'[2]······

इन सब सहमतियों और असहमतियों के होते हुए भी हमने आंचलिक कहे जाने वाले कुछ उपन्यासों के माध्यम से इतिहास का विवेचन अपनी अध्ययन-विधि से किया है क्योंकि आज के हिन्दी कथा साहित्य में आंचलिक उपन्यासो की भी एक स्वतन्त्र परम्परा स्थापित हो गई है। रेणु के मैला आंचल और नागार्जुन के बाबा बटेसर नाथ तथा बलभद्र ठाकुर के आदित्य नाथ का विवेचन 'इतिहास प्रभावित उपन्यास' शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है।

'सागर लहरें और मनुष्य' : उदय शंकर भट्ट (1956)

आंचलिक उपन्यासों के क्षेत्र में 'सागर लहरें और मनुष्य' उदयशंकर भट्ट का एक सराहनीय प्रयास है। भाषा और कथानक की दृष्टि से 'सागर लहरें और मनुष्य' एक अनूठा एवं नवीन कदमहै। बम्बई का समुद्रतटीय गाँव बरसोंवा उपन्यास के कथानक का केन्द्र है। वरसोंवा के मछुओ के साहसी समुद्री जीवन का चित्रण करते हुए उपन्यासकार ने एक सरस प्रेमकथा मछुओं के जीवन से चुनी है जिसमें पात्रो के बड़े ही सुन्दर और सशक्त चरित्र उभर कर आए हैं।

सागर लहरें और मनुष्य : इतिहास के प्रति अनासक्ति

उपन्यास में विट्ठल और वंशी के परिवार को ही प्रधान रूप से प्रस्तुत किया गया है जिनकी एकमात्र पुत्री है रत्ना। रत्ना का परिवार मछुओं में सम्पन्न है तो साथ ही बरसोंवा में शिक्षा भी उसी के परिवार मे सर्वाधिक है। रत्ना संस्कारों वश एफ० ए० की परीक्षा न दे सकी। उसकी एक सहेली सारिका भी शिक्षित लड़की है किन्तु अन्तर यही है कि उसकी अपेक्षा रत्ना निम्नवर्ग की है। रत्ना की स्थिति सच पूछा जाए तो नीम हकीम खतरे जान की स्थिति है जो न तो बहुत अधिक शिक्षित है और न एकदम अशिक्षित ही। अतः एक ओर जहाँ वह अपने ही गाँव के नाना के पुत्र यशवन्त से निरा गंवार होने से प्रेम नही कर पाती वहाँ दूसरी ओर जल प्रवाह में बहकर आए 'माणिक' नामक युवक की ऊपरी हमदर्दी, आत्म-प्रशंसा और झूठे दिखावे से प्रभावित होती है, उसके साथ ही प्रणय व्यापारों में लीन

1. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : डॉ० कान्ति वर्मा, पृ० 186
2. कृति और कृतिकार : डॉ० सरनाम सिंह शर्मा, पृ० 160

हो जाती है। बम्बई फिल्मी दुनिया का प्रमुख केन्द्र है तो साथ ही फैशनपरस्ती का भी। भौतिकता वहाँ के जीवन में भली प्रकार समाई हुई है। अतः निम्न परिवार की, एक पिछड़े हुए वर्ग की लड़की होने से, साथ ही शिक्षा के प्रभाव के कारण भी रत्ना उच्छृंखलता की शिकार हो जाती है और शीघ्र ही जब माणिक की कृत्रिमता का पर्दाफाश होता है तो वह अपनी भूल का जैसे परिमार्जन किया चाहती है क्योंकि जहाँ एक ओर माणिक आर्थिक दृष्टि से स्तर में गिरा हुआ है वहाँ दूसरी ओर उसके यौवन के ऊफान को शान्त करने में भी शारीरिक दृष्टि से कमजोर पड़ता है। इधर यशवन्त भी अपने स्वप्न धूल में मिलने से कृषकाय हो जाता है और रत्ना के मतलब का नही रह जाता। अतः रत्ना अपनी सखी सारिका के किराएदार वकील घीसवाला को आजमाती है जो कि चरित्रहीन, स्वार्थी और कामुक वृत्ति का होने के कारण लड़कियों के जीवन से खिलवाड़-मात्र करना चाहता है, परन्तु किसी से भी विवाह करके गृहस्थी का भार उठाना नहीं चाहता। अतः उसके चंगुल मे फँस गयी रत्ना को जब उसकी प्रवृत्ति का अनुमान लगता है तो वह उक्त वकील की पिटाई करके अपना सामान लेकर चली जाती है और अपने गाँव बरसोंवा न लौटकर एक डाक्टर (पांडुरंग) के यहाँ नर्स का काम करती है और वकील के पापाचार के परिणाम स्वरूप गर्भवती रत्ना माँ बनने की तैयारी के साथ ही डाक्टर की पत्नी बनती है। संक्षेप में यही उपन्यास की कथा है।

सागर लहरें और मनुष्य के सभी पात्र रत्ना, वंशी, माणिक, यशवन्त, सारिका और डाक्टर अपने आप में विशेषताएँ संजोए है। उपन्यास को आद्योपान्त पढ़ जाने पर भी, जहाँ तक इतिहास का प्रश्न है, हमें कुछ उपलब्धि नही होती और इतिहास की दृष्टि से निराशा ही हाथ लगती है।

अध्ययन की दृष्टि से हमने उपन्यासों का जो वर्गीकरण किया है उसके अनुसार 'सागर लहरें और मनुष्य' इतिहास मुक्त उपन्यासों की श्रेणी में आता है। 'सागर लहरें और मनुष्य' पूर्ण रूपेण इतिहास मुक्त ही है। उपन्यास में मछुओं के समाज के कुछ रीतिरिवाजों आदि की चर्चा की गयी है। मछुआ समाज में आर्थिक दृष्टि से लड़की का अधिक महत्व है क्योंकि वह घर का काम-काज देखने के अलावा बाहर मच्छी बेचने का काम भी कर लेती है। इसी से लड़की वाले कोली पाँच सौ से लेकर पाँच हजार तक ले लेते हैं[1] पिछड़े हुए वर्गों में मिशनरी लोग ईसाई धर्म का प्रचार करते हैं। कुछ स्थानों में वे आज भी ऐसे प्रयास करते पाए जाते हैं। मछुआ वर्ग पिछड़ा होने से यहाँ भी ईसाई मिशनरी अपने धर्म के प्रचार का कार्य, उनका धर्म परिवर्तन कराने की दृष्टि से करते दिखलाई पड़ते हैं।[2] रत्ना की सखी सारिका के परिवार की

1. सागर लहरें और मनुष्य : उदयशंकर भट्ट : पृ० 33
2. वही : उदयशंकर भट्ट पृ० 94-95

समस्याओं का चित्रण करते समय उपन्यासकार ने दहेज प्रथा जैसी सामाजिक बुराई की ओर ध्यान आर्कषित किया है। इतना ही नही आज के नवयुवको की दहेज के साथ-साथ गुणवती पत्नी पाने की चाह तो और भी विकट रूप धारण कर बैठी है,[1] जो मूलधन के साथ पर्याप्त ब्याज की आशा करने वाले महाजन से भी गयी गुजरी है। लड़के वाले जितना माँगते हैं माँ बाप उतना दे नही पाते, शादी नहीं हो सकती ······इसी से मध्यम वर्ग की लड़कियाँ नौकरी कर लेती है।[2] वरसोवा के मछुओं द्वारा यशवन्त को मंत्री चुनकर 'सहकारी समिति' की स्थापना करना आधुनिक युग मे सहकारिता के प्रभाव का परिणाम प्रतीत होता है। बरसोवा के मछुओं को इतना ज्ञान हो चुका है कि 'सहकारिता' के आधार पर सभी को लाभ होगा तभी वे सहकारी समिति की स्थापना करके उसके द्वारा व्यवसाय करते है। रत्ना का जो व्यक्तित्व उपन्यास में उभारा गया है, उसे नारी चेतना का परिणाम माना जा सकता है।

कुल मिलाकर यही सब कुछ है जो सागर लहरें और मनुष्य में उपलब्ध होता है। वस्तुतः इतिहास के प्रति तो भट्ट जी उक्त उपन्यास में पूर्ण रूप से अनासक्त रहे है।

उखड़े हुए लोग : राजेन्द्र यादव (1956)

'उखड़े हुए लोग' (1956) राजेन्द्र यादव की ऐसी महत्वपूर्ण कृति है जो आधुनिक युग में बदलते हुए समाज की बढ़ती हुई विषमता तथा 'युद्धोपरान्त स्त्री-पुरुष के बिगड़ते-बदलते बनते सम्बन्ध' के सजीव और यथार्थ चित्र प्रस्तुत करती है। राजेन्द्र यादव का ध्येय प्रस्तुत उपन्यास मे, मानवता का बाना पहने, चरम सीमा के व्यभिचारी और धूर्त देशबन्धु जैसे नेताओं का पर्दाफाश करना रहा है जिसकी 'कथनी' की मधुरता से शिक्षित वर्ग भी प्रभावित तो होता है किन्तु अन्त में उनकी 'करनी' की विष ज्वाला का शिकार भी वही होता है।

राजेन्द्र यादव के लगभग सभी उपन्यास समाज और समाज के आंचल में पलने वाली प्रेम कथाएँ ही कहते है। 'प्रेत बोलते है' (सारा आकाश 1860), मध्यवर्ग के विषम जीवन का चित्र उपस्थित करता है तो, 'कुलटा' मे भी ले देकर वही मध्यवर्गीय जीवन प्रस्तुत किया गया है। 'शह और मात' व 'अनदेखे अनजान पुल' की कथाएँ भी प्रेम कथाएँ है। यद्यपि, जैसे कि ऊपर कहा गया है, उखड़े हुए लोग की कथा शिक्षित मध्यवर्ग और 'नेता' कहे जाने वाले वर्ग की कथा है, किन्तु इसमे भी प्रेम कथा साथ-साथ चलती है। 'उखड़े हुए लोग' की कथा में लेखक ने इतिहास का अत्यन्त क्षीण किन्तु सशक्त सूत्र पिरो दिया है।

---

1. सागर लहरें और मनुष्य : उदयशंकर भट्ट : पृ० 111
2. वही : उदयशंकर भट्ट : पृ० 180

देश के विभाजन के (1947) के पूर्व के अधिकांश कथा साहित्य में कही न कही किसी न किसी रूप मे राष्ट्रीय चेतना का स्वर सुनाई पड़ता है। इससे पूर्व का सामाजिक, निकट भविष्य मे, स्वाधीनता प्राप्ति के लिए प्रयासशील दीख पड़ता है क्योंकि उसे आशा है कि देश के स्वतन्त्र होने पर उसके सारे कष्ट, सारी बाधाएँ और विषमताएँ दूर नही तो कम अवश्य हो जायेगी। वह समय भी आ गया किन्तु सामाजिक का घुटनशील, विषमताओं से भरा जीवन और भी विषादमय हो गया। वह आसमान से गिरा तो खजूर में अटक गया, विदेशी सत्ता से मुक्ति पायी तो 'खद्दर के दूध से धुले चोगे पहने राक्षसों के खूनी पञ्जों' में जा फँसा (देशबन्धु (नेता भैया) ऐसा ही खद्दरधारी राक्षस है जिसके खूनी पञ्जे का शिकार मध्यवर्ग का शिक्षित युवक शरद होता है। देशबन्धु कांग्रेसी एम० पी० है जो ऐसे ही 'नेता' कहे जाने वाले धूर्तो का प्रतिनिधित्व करता है जिन्होंने स्वाधीनता प्राप्ति के बाद जनता का सेवक बनने का स्वांग रचाकर अपना उल्लू सीधा करना ही ध्येय बना लिया है।

स्वातन्त्र्योत्तर सत्ताधारी कांग्रेसियों के पतन का चित्रण

चूँकि कांग्रेस (1885) ही सबसे बड़ी राष्ट्रीय संस्था थी अतः सत्ता की बागडोर उसी के हाथ में आयी किन्तु इस संस्था के अतिरिक्त अन्य संस्थाएँ भी पार्टियों के रूप में कार्य कर रही थी जिसमें साम्यवादी दल (कम्युनिस्ट पार्टी) का कांग्रेस से तीव्र विरोध था। देशबन्धु के इस कथन में कि······वे आए और पकी तोरइयो की तरह हम लोग इधर-उधर लटके दिखाई देंगे—[1] हमें इस विरोध की झलक मिलती है। भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना सन् 1924 में हुई थी जिसका कांग्रेस से प्रारम्भ से अन्त तक विरोध का मूलाधार हिसा अहिसा का प्रश्न था। साम्यवादी दल हिंसा का समर्थन करता है इसलिए अहिंसा की समर्थक कांग्रेस से उसका मतभेद है। मजेदार बात यह है कि पार्टी के नाम पर तो कांग्रेस अहिंसा समर्थक है किन्तु व्यक्तिगत तौर पर जहाँ उनके स्वार्थ पर आँच आई कि वे हिंसा पर आमादा हो जाते हैं। यों दिखाने के लिए देशबन्धु 'सत्या मिल्स' से एकदम पृथक हैं किन्तु मजदूरों पर गोली चलने का सिद्धान्ततः वे समर्थन करते हैं।[2]

उखड़े हुए लोग में इतिहास के कुछ बिखरे सूत्र

सन् 1942 के आन्दोलन मे अपने को नेता कहने वाले अनेकों व्यक्ति दिखाने के लिए जेल तो गये, उन्होंने पुलिस को सूचना देकर स्वयं को पकड़वा तो दिया किन्तु फिर स्वेच्छा से माफी माँग कर जेल के बाहर आ गये। इतिहास में इस प्रकार का

---

1. उखड़े हुए लोग : राजेन्द्र यादव : पृ० 56
2. वही : राजेन्द्र यादव : पृ० 315-316

विवरण उपलब्ध होता है। नेता भैया देशबन्धु भी उन्ही में से एक हैं जो सन् बयालिस में माँफी माँगकर जेल से छूटे थे।[1]

सूरज जी नामक व्यक्ति जब अपने बीते दिनो की कहानी शरद और जया को सुनाता है तो सन् बयालिस की चर्चा करता है जहाँ जेल में ही देशबन्धु से उसका परिचय हुआ और 'बिगुल' नामक क्रान्तिकारी पर्चे को पढ़ने सुनने का अवसर मिला। सन् 42 की क्रान्ति के पहले और बाद मे लोगो में राष्ट्रीय भावना उत्पन्न करने, उनमें विचारों की क्रान्ति लाने का काम बुलेटिनों और समाचार पत्रों के माध्यम से किया जाता था।[2] मायादेवी के 'पिकेटिंग' मे जाने और उसके पिता द्वारा पिछली लड़ाई मे जबर्दस्ती पकड़वाकर रंगरूट भरती करवाने के प्रसंग भी सन् 1942 के इतिहास का स्मरण दिलाते हैं।[3] कांग्रेस जहाँ सत्याग्रह, अहिंसा और 'धरना' में विश्वास करती थी वहाँ अपने ही देश के कुछ कठपुतलीनुमा रियासती लोग रंगरूट भरती करके, लड़ाई के लिए रुपया इकट्ठा करके सरकार के विश्वास-भाजन बनते थे।

'इतिहास' के ग्रन्थों में इतिहास क्रमबद्ध रूप में लिखा जाता है, कालक्रमानुसार ही घटनाएँ प्रस्तुत की जाती है किन्तु उपन्यास में कथा के बीच ऐतिहासिक घटनाओं की चर्चा अनेक बार आगे-पीछे भी हो जाती है। 'उखड़े हुए लोग' में भी सन् 42 के आन्दोलन की चर्चा पहले हो गयी है और सन् 1857 की क्रान्ति के प्रधान पात्र बहादुरशाह (जफर) की चर्चा बाद में हुई है।[4]

सन् 1916-17 में रूस की क्रान्ति तथा सन् 1920-30 में इंग्लैण्ड में मजदूर दल की विजय का प्रभाव भारत पर भी पड़ा। अगस्त सन् 1931 में कांग्रेस की महासमिति स्वयं श्रमिक वर्ग के अधिकारो की बात करने लगी थी।[5] तब से आज तक मजदूर वर्ग एक पृथक किन्तु शक्तिशाली वर्ग हो गया है उसकी ट्रेड यूनियन देश भर में काम कर रही है। कुछ वही प्रभाव हमें 'उखड़े हुए लोग' में देखने को मिलता है। 'सत्या-मिल्स' के मजदूर की मशीन में आजाने से मृत्यु हो गयी। अतः कम्पनसेशन (मुआवजा) देने का प्रश्न उठा और उसके साथ अन्य माँगों को लेकर सत्यामिल्स में गोली चली। माना कि गोली चलवाने में परोक्षरूप से देशबन्धु जैसे व्यक्ति का हाथ है, जिसके आँसू मगर के आँसू हैं, जिनकी मजदूरों के लिए हमदर्दी ओठों की हम दर्दी है किन्तु मजदूर आज 20वीं सदी के मजदूर हैं, वे सोये हुए नही हैं, वे सामाजिक चेतना,

उखड़े हुए लोग में समाजवादी स्वर

---

1. उखड़े हुए लोग : राजेन्द्र यादव पृष्ठ 380
2. वही : पृष्ठ 272
3. वही : पृष्ठ 392
4. वही : पृष्ठ 379
5. कांग्रेस का इतिहास : (संक्षिप्त) पृष्ठ 229

राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित है।[1] वे 'मजदूर एकता जिन्दाबाद' 'दुनिया के मजदूरों एक हो' के नारे लगाते हैं।[2] वे नेता भैया की ओठों की हमदर्दी को खूब समझते है तभी तो 'कांग्रेसी राज मुर्दाबाद', 'खद्दरशाही का नाश हो', 'नेता भैया हाय-हाय' के नारे लगाते हैं।[3] दर असल इस समय तक युवकों में अहिंसा सत्याग्रह और खद्दर आदि के प्रति उपेक्षा का भाव घर कर गया था। फिर भला वे नई समाज-व्यवस्था क्यों न चाहने लगें। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कांग्रेस ने जब से सत्ता सम्भाली तभी से छोटे से लेकर बड़े तक स्वार्थ सिद्धि मे लग गए, उनकी कथनी करनी में अन्तर आ गया। चाहे मिल के मजदूर मरें, चाहे सरदार पटेल की हृदयगति रुके, नेता भैया जैसे लोगों के पास सिवाय झूठी हमदर्दी के कुछ नही है, उनके क्रिया कलाप तो वैसे ही चलते रहेंगे। वही दशा समाज की है। नेता भैया को उपन्यासकार ने 'टाइप' के रूप मे चित्रित किया है जो ऊपर से दिखावे के लिए साक्षात न्याय और दया की प्रतिमूर्ति बना रहता है किन्तु अन्दर उसमे कूट-कूट कर कुटिलता भरी हुई है। उखड़े हुए लोग मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद व्यक्ति और समाज किस ओर बढ़ चले है; देखने में प्रगति की ओर बढ़ते-से लगते हुए भी किस प्रकार पतनोन्मुख है, इसका आभास मिलता है। जिस सत्य अहिंसा और खद्दर का प्रयोग पहले राष्ट्रीय भावना और देश को गुलामी के पंजे से छुड़ाने के लिए किया गया बाद में उसी का प्रयोग शिक्षित अशिक्षित जनता को मूर्ख बनाकर पराधीन बनाने के लिए किया गया। 'उखड़े हुए लोग' में जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है इतिहास का सूत्र सशक्त होते हुए भी बहुत ही क्षीण है। उसमें तो जैसा कि उपन्यासकार ने उपन्यास प्रारम्भ करने के पूर्व लिखा है, प्रमुख रूप से स्वातन्त्र्योत्तर पुरुष के बनते बिगड़ते बदलते सम्बन्धों का ही यथार्थ चित्रण हुआ है।

आदित्यनाथ : बलभद्र ठाकुर (1958)

'आदित्यनाथ' (1958) बलभद्र ठाकुर का आंचलिक उपन्यास है जिसमें कुल्लू की घाटी (काश्मीर) के आंचल में व्याप्त राजनैतिक दूषित वातावरण के चित्र प्रस्तुत किये गए है। कुल्लू के मणाले नामक गाँव में धूर्त राजनैतिक दाव-पेच लगाने वाले सत्यकेतु मौजूद है तो कुल्लू को पंजाब से अलग करने की बात कहने वाले हीराचन्द शास्त्री जैसे लोग भी विद्यमान हैं और उसी की उन्नति की बात सोचने वाले स्वामी सोमानन्द और आदित्यनाथ भी विद्यमान है। उपन्यास का कथानक उस समय का है जब भारत की पराधीनता के बन्धन टूटे नही थे, देश उनमें जकड़ा हुआ था। पंजाबी शानशौकत के लोभ में भारत में अंग्रेजी राज्य के मजबूत पाये बने हुए थे।[4] उपन्यास-

1. कांग्रेस का इतिहास : पृष्ठ 287
2. उखड़े हुए लोग : पृष्ठ 290 3. वही पृष्ठ 297
4. आदित्यनाथ : बलभद्र ठाकुर, पृ० 38 (प्रथम सस्करण)

कार के इस कथन में ऐतिहासिक सत्य झलकता है। इतिहास के अनुसार सन् 1857 में विप्लव के समय भी जहाँ दूसरे सभी प्रान्त ब्रिटिश सत्ता से जूझ रहे थे वहाँ पंजाब ने सहयोग देने के बजाय अंग्रेजों की मदद की जिसका बहुत कुछ प्रभाव स्वाधीनता की लड़ाई को असफल बनाने के रूप में पड़ा था।[1] उपन्यास में कई स्थलों पर आर्य समाज की चर्चा की गयी है। साथ ही ईसाई मिशनरियों की भी[2] जो शिक्षा के प्रसार कार्य की आड में ईसाई धर्म का प्रचार कर रहे थे, जिसकी अन्तिम परिणति अशिक्षित, भोले और निरीह भारतीयों का धर्म परिवर्तन करके हिन्दू धर्म को त्याग देने मे होती थी। हिन्दू धर्म को विनाश से बचाने तथा अन्य सामाजिक बुराइयों से बचाने के लिए ही दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना की थी।

एक स्थल पर ऐतिहासिक घटनाओं की बहुत ही संक्षिप्त चर्चा उदाहरण के रूप में हुई है। वार्तालाप के दौरान अपने कार्य की पुष्टि के स्वरूप इन घटनाओं का उल्लेख किया गया है। उदाहरण के तौर पर स्वामी सोमानन्द जब अपने आश्रम से निकल जाने की बात ब्रह्मचारी को बताते समय यह कहते हैं कि उनके विद्रोही बन कर प्रकट होने पर उन्हें उसी प्रकार आश्रम से निर्वासित किया गया जिस प्रकार सुभाष बाबू को गांधी जी से विद्रोह करने के अपराध में पहले कांग्रेस से और बाद मे स्वदेश से निर्वासित होकर विदेश में आजाद हिन्द फौज बनानी पडी[3]—तब हमारे सम्मुख गांधी की अहिंसा व सुभाष की आजाद हिन्द फौज के चित्र उपस्थित होते है, जिनका भारत की स्वाधीनता के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। ठीक इसी प्रकार आदित्यनाथ जब किसी कार्य को छोटे स्तर पर प्रारम्भ करने के अपने मत की पुष्टि के लिए गांधी जी के अफ्रीका में छोटे दायरे में प्रयोग करने पर सफल होने के बाद ही भारत में विशालस्तर पर राजनैतिक और सामाजिक दायरे में प्रवेश की बात कहता है[4] तो भी गांधी का अफ्रीका में किए गए महत्वपूर्ण कार्यो का इतिहास कल्पना पटल पर चित्रित हो जाता है। जैसा कि अन्य उपन्यासों का विवेचन करते समय पहले भी उल्लेख किया जा चुका है सन् 1914 में ऐसे भी भारतीय थे जो धन और यश के लोभ से अंग्रेजों के लिए सेना में रंगरूट भरती करवाते थे और आर्थिक सहायता के लिए चन्दा भी इकट्ठा करते थे। इस पर भी उपन्यास में प्रकाश डाला गया है। पं० केसोराम के पिता पं० राजाराम ने प्रथम विश्वयुद्ध में रंगरूट भरती कराकर यश लूटा था और पुरस्कार प्राप्त किया था।[5] उपन्यास में भारत के उस राजनैतिक इतिहास को भी

1. भारत का राजनैतिक इतिहास : राजकुमार : पृ० 149
2. आदित्यनाथ : बलभद्र ठाकुर, पृ० 265 (प्रथम संस्करण)
3. आदित्यनाथ : बलभद्र ठाकुर, पृष्ठ 118 4. वही : पृष्ठ 235
5. वही : पृ० 66

प्रस्तुत किया गया है जो भारत के विभाजन के पूर्व का और बाद का है। साम्प्रदायिक दंगे कराने के लिए स्वामी सत्यकेतु कुल्लू की निरीह, निरक्षर और भोली-भाली जनता को भड़काता है। कुल्लू की यह जनता निरक्षर तो है ही साथ ही भोली भी, जिसका विश्वास है कि शिक्षा से आदमी बेईमानी और छल कपट सीखता है, ठगी सीखता है, ऐसे लोगों का गाँव भी भारत के उन्ही साम्प्रदायिक दंगों का उदाहरण बन जाता है।

'आदित्यनाथ' में साम्प्रदायिक दंगों का उल्लेख

चूँकि प्रस्तुत उपन्यास का इतिहास से घनिष्ट सम्बन्ध नही है अतः इतिहास की उतनी गहन अभिव्यक्ति हमे उसमें नही मिलती। उपन्यासकार ने केवल प्रारम्भ में भारत की पराधीनता की ओर संकेत कर दिया है और उसके बाद चतुर्थ खंड में कलकत्ता और भारत के अन्य भागों में हुए उन साम्प्रदायिक दंगों की चर्चा की है जो भारतीय इतिहास की दर्दनाक कहानी कहते हैं।[1] ऐसे भीषण दंगों और मार-काट की घटनाओं के होते ही देश का विभाजन 15 अगस्त 1947 को हो गया जिसका परिणाम कुल्लू के निवासियों को भी भुगतना पड़ा। वहाँ के आटे में नमक के बराबर मुसलमानों को भी मौत के घाट उतारने के लिए सत्यकेतु और वर्मा जी सक्रिय हो जाते हैं।

अन्त में उपन्यासकार ने जिस 'हृदय परिवर्तन' के सिद्धान्त की आलोचना की है उसका भी सम्बन्ध गांधी के अहिंसात्मक इतिहास से है। यह सिद्धान्त खोखला सिद्ध हुआ क्योंकि उपन्यासकार 'रक्तहीन' कही जाने वाली क्रान्ति को रक्तहीन नहीं मानता। आज स्वतन्त्र होने के बाद सत्ता-हथियाने वाले लोग उसके मत में हीजड़े और ठग है। ये विचार उसने चन्द्रकान्त नामक पात्र के मुख से कहलवाए है। उसका मत है कि यदि सशस्त्र संग्राम होता तो देश सामूहिक पशुता का शिकार न होता।[2]

उपन्यास में यत्र-तत्र भारतीय संस्कृति का स्वरूप श्लोकों आदि के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।[3] देश की तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था से असन्तुष्ट उपन्यास-कार 'वर्गहीन' समाज की प्रतिष्ठा के लिए आशावान है। उपन्यास में इतिहास की अभिव्यक्ति नही के बराबर है।

☐☐☐

1. आदित्यनाथ : पृ० 292; कांग्रेस का इतिहास : पृ० 552
2. आदित्यनाथ : पृ० 327
3. आदित्यनाथ : पृष्ठ 47, 50-51, 81, 326

छठा अध्याय

हिन्दी कहानियों में इतिहास

जब हम 'कथा साहित्य' शब्द बोलते-सुनते या पढ़ते हैं तो उसका एक अर्थ हमारे मानस पटल पर उभरता है जिसकी परिधि में हम उपन्यास और कहानी के स्वरूप को संयुक्त करके देखते है। यों समय की गति के अनुसार भले ही यह स्थिति आ पहुँची है कि विद्वानों की दृष्टि में कथा-साहित्य का अर्थ मात्र उपन्यास साहित्य से ही निकलने लगा है किन्तु सत्य यही है कि उसमे कहानी भी सम्मिलित है। बल्कि देखा जाए तो कहानी उस बूढ़ी माँ के समान है जो उद्‌गम स्रोत होते हुए भी उपन्यास रूपी पुत्र के समक्ष श्रीहीन हो गयी है, एक समय था जब उसका ही अस्तित्व था और आज है कि उपन्यास की छाया में उसकी छाया समा गयी है।

उपन्यास और इतिहास के सम्बन्ध में प्रारम्भिक अध्यायों में विस्तार से कहा जा चुका है। उपन्यासो में इतिहास की अभिव्यक्ति का विवेचन भी किया जा चुका है। विवेचन करते समय हमने उपन्यासों की दो श्रेणियाँ देखी। पहली श्रेणी में वे उपन्यास देखे जो ऐतिहासिक हैं, जिनका आधार ही इतिहास है, जिनमें ऐतिहासिक कथानक को कल्पना का सहारा लेकर प्रस्तुत किया गया है। दूसरी श्रेणी में वे उपन्यास देखे जो ऐतिहासिक नहीं होते हुए भी इतिहास से प्रभावित है, जिनमे इतिहास पर्याप्त मात्रा में अभिव्यक्त हुआ है। तीसरी श्रेणी में वे उपन्यास देखे जो इतिहास के प्रति उदासीन हैं या कहिए इतिहास मुक्त हैं, जिनमें इतिहास नाम की चीज अप्रत्याशित रूप से आयी भी है तो सूत्र रूप में, छोटे-छोटे टुकड़ों मे, बिखरे हुए रूप में, लम्बे-लम्बे फासलों पर।

एक बात ध्यान में रखने की है। वह यह कि उपन्यासकार हो अथवा कहानी-कार, वह अपनी रुचि के अनुकूल लिखता है, अतः हालांकि यह अनिवार्य नही है कि जो उपन्यासकार ऐतिहासिक उपन्यास लिखे वही ऐतिहासिक कहानी भी लिखे फिर भी चूँकि लेखक का सम्बन्ध बहुत हद तक रुचि से है इसलिए प्रायः देखने में आता है कि जिस लेखक ने ऐतिहासिक उपन्यास लिखा उसने ऐतिहासिक कहानी भी लिखी। फिर भी ऐसी लेखनियाँ भी मौजूद हैं जिन्होंने उपन्यास और कहानी के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के कथानक प्रस्तुत किये। जो हो, कहानियों में इतिहास की अभिव्यक्ति का विवेचन करते समय हमने कहानियों का भी वही वर्गीकरण किया है, जो उपन्यासों का रहा

है अर्थात् वे कहानियाँ जो (1) ऐतिहासिक है, जिनका कथानक विशुद्ध रूप से ऐतिहासिक है तथा वे जो (2) ऐतिहासिक नही है फिर भी उनमें इतिहास की प्रधानता है, ये इतिहास प्रभावित कहानियाँ कहलायेंगी। (3) तीसरी वे जो इतिहास की ओर से उदासीन हैं, इतिहासमुक्त है। यों उनमें एक दो वाक्य या इतिहास सम्बन्धी अतिलघु घटनायें विखरे हुए रूप मे भले ही मिल जाएँ। अतः आगे हम उपर्युक्त तीनों प्रकार की कहानियों के माध्यम से इतिहास का अध्ययन करेंगे, किन्तु इसके पूर्व कहानी के विकास क्रम का सिंहावलोकन कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

हिन्दी कहानी : उद्भव एवं विकास-क्रम

यह एक विलक्षण बात है कि जब भी हमें किसी चीज का उद्गम ढूँढ़ना होता है तो हम वेद, उपनिषद् और पुराणो के बीच पहुँच जाते है और हमें सूत्र मिल जाता है। प्रारम्भ के अध्याय में जहाँ इतिहास का उद्गम वेद व पुराणों मे खोज लिया गया है वहाँ कहानी का उद्गम सूत्र भी विद्वानों ने इन्ही वेद पुराणों में खोजा है और दिलचस्प बात तो यह है कि इतिवृत्त आख्यायिका को जहाँ इतिहास का प्रारम्भिक रूप माना गया वहाँ इतिवृत्त और आख्यायिका को कहानी का भी आरम्भिक रूप समझा गया। इतिहास और कहानी का प्रारम्भिक रूप मिला-जुला था और आज परस्पर इतिहास, उपन्यास व कहानी ही नही, स्वयं कहानी, कहानी से एक दम भिन्न परिलक्षित होती है। पौराणिक आख्यानों पर आधारित कहानी का प्रारम्भ लल्लूलाल की 'प्रेम सागर', सदल मिश्र की 'नासिकेतोपाख्यान', और इंशाअल्ला की 'रानी केतकी की कहानी' से माना जाता है, जिनका रचनाकाल सन् 1800 के आसपास है। सन् 1800 से 1900 के बीच अनेक किस्सों की अवतारणा हुई जैसे किस्सा तोता मैना, हातिमताई आदि। इस अवस्था तक दरअसल कहानी, कहानी कहलाने योग्य नहीं हुई थी। कहानी की यह गर्भावस्था थी। इस गर्भावस्था के दौरान कहानी एक अपूर्ण इकाई थी जो शनैः-शनैः पूर्णता की ओर अग्रसर हो रही थी और सन् 1900 के बाद ही इस पूर्णता को प्राप्त कर सकी।

कहानी : तीन अवस्थाएँ

सन् 1900 के बाद से आज तक कहानी का जीवन काल लगभग साठ पैसठ वर्ष का है जिसमें कहानी का स्वरूप तीन अवस्थाओं में परिवर्तित हुआ है। किशोरी लाल गोस्वामी की कहानी 'इन्दुमती', पुरुषोत्तम दास टंडन की 'भाग्य का फेर', शुक्ल जी की 'ग्यारह वर्ष का समय', प्रसाद जी की 'ग्राम', गुलेरी जी की 'सुखमय जीवन' और 'बुद्दू का काँटा' में कहानी का प्रथम निखार देखा जा सकता है। आगे चलकर हिन्दी कहानी में अपूर्व पुष्टता आयी, अनोखा निखार आया। इसका अर्थ यह कदापि नही लिया जाना चाहिए कि इससे पूर्व की सभी कहानियाँ निम्न स्तर की थी। प्रारम्भ में

लिखी गयी कहानियों के सम्बन्ध में जो मत व्यक्त होता रहा है वह एक सामान्य मत है उसके अपवाद हो सकते है। दूसरे चरण मे कहानियों में जो परिपक्वता आयी उसके प्रमाण रूप में प्रेमचन्द की 'पंच परमेश्वर', 'सुजान भगत', 'शतरज के खिलाड़ी' कहानियाँ, गुलेरी जी की 'उसने कहा था', प्रसाद की 'पुरस्कार', 'मधुआ', कौशिक जी की 'ताई', चतुरसेन शास्त्री की 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी', भगवतीचरण वर्मा की 'मुगलों ने सल्तनत बख्श दी' आदि कहानियाँ देखी जा सकती है। आगे चलकर कहानी का और भी परिपक्व रूप सामने आया जिसे अज्ञेय की 'रोज', भगवतीप्रसाद बाजपेयी की 'मिठाई वाला', भगवती चरण वर्मा की 'दो बाँके', विद्यालंकार की 'काम काज', कमलाकान्त वर्मा की 'पगडण्डी' आदि कहानियो मे देखा जा सकता है।

कहानी : स्थूल से सूक्ष्म की ओर

कहानी के विकास को ध्यान में रखकर हम कहानियों का विवेचन करें तो देखेंगे कि कहानी शनै: शनै: स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ती आई है। प्रारम्भ में एक स्थूल कथानक रहता था और चमत्कारपूर्ण वर्णन के साथ कहानी आगे चलती थी किन्तु ज्यो-ज्यों कहानी का स्वरूप विकसित हुआ वह मन की गहराइयों में उतर चली। उसकी रचना में मनोविज्ञान प्रवेश पाने लगा। किन्तु स्वतन्त्रता के बाद, कहानी मे एक और नया मोड़ आया। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के शब्दो में, 'प्रेमचन्द युग के प्रारम्भ में कहानी मे मुख्य तत्व ढूँढ़ने पर घटना मिलती थी, आगे जैनेन्द्र, यशपाल और अज्ञेय की कहानी मे मुख्यत: चरित्र का आग्रह था। ठीक इसी प्रसग में यदि इस नई कहानी का हम कोई मुख्य तत्व ढूँढ़ने चलें तो हमें इन दोनो तत्वों से आगे वह नवीन तत्व मिलेगा, परिवेश बोध की विकसित चेतना।'[1] डॉ० लाल की ये पक्तियाँ संक्षेप में किन्तु बड़े ही स्पष्ट रूप से कहानी के प्रथम और अब तक के अन्तिम स्वरूप की ओर सकेत करती है। पुरानी कहानी आज विकसित होकर 'नई कहानी' तक जा पहुँची है। मार्कण्डेय की 'भूदान', 'दान भू', 'आदर्श कुक्कुट गृह', कमलेश्वर की 'नीली झील', 'बदनाम बस्ती', 'सलमा', फणीश्वर नाथ रेणु की 'अच्छे आदमी' इस नए क्षेत्र की उत्कृष्ट कहानियाँ हैं।[2]

प्रारम्भ से अन्त तक कहानी का स्वरूप जो भी रहा हो, उसमें सूक्ष्मता और विविधता भले ही आ गयी हो, उसमें कुछ न कुछ कथानक अवश्य विद्यमान रहता है फिर चाहे वह क्षीण ही क्यों न हो। कहानी पुरानी हो अथवा नई

---

1. आधुनिक हिन्दी कहानी : डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, पृष्ठ 106, प्र० संस्करण : 1962
2. वही : पृष्ठ 105

कहानी और इतिहास

उसमें कहानीकार जो कुछ भी चाहे कहे, उसके उस कहने में इतिहास की अभिव्यक्ति हो सकती है, उसके माध्यम से संस्कृति बोल सकती है, हाँलाकि यह आवश्यक नहीं है और यहाँ हमारा उद्देश्य ऐसी ही कहानियों को देखना है जिनमें इतिहास की झलक मिलती है। यद्यपि कहानी की अपेक्षा उपन्यास के विशाल चित्रपट पर इतिहास का प्रभाव पड़ने के लिए अवसर अधिक रहता है। कहानी की परिधि लघु और सीमित होती है अतः उसमें इतिहास के प्रवेश का अधिक अवसर नही रहता, फिर भी हिन्दी में कुछ कहानियाँ ऐसी हैं जिन पर इतिहास के चरण-चिन्ह स्पष्ट दृष्टिगोचर होते है। यहाँ हम कुछ चुनी हुई कहानियों में भारतीय इतिहास को खोजने का प्रयास करेंगे।

विद्रोही : विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक

विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' प्रेमचन्द के खेमे के कहानीकार है। आपने पहली हिन्दी कहानी रक्षा बन्धन लिखी थी। 'साई' तो आपकी प्रसिद्ध कहानियो में गिनी जाती है। 'विद्रोही' कौशिक जी की ऐतिहासिक कहानी है जिसमें इतिहास की स्पष्ट छाप दीख पड़ती है। मुगल सम्राट अकबर ने भारत में अपनी धाक जमा ली थी। यहाँ तक कि राजपूताने के राजपूत राजाओं ने भी अकबर की अधीनता स्वीकार करके उसके साथ रोटी बेटी का व्यवहार कर लिया था। किन्तु राजस्थान में महाराणा प्रताप ने मरते दम तक अकबर की अधीनता स्वीकार नही की थी उल्टे उसे नाको चने चबवा दिए थे। राणा प्रताप के अपने भी पराये हो गए थे। उनका भाई शक्तिसिंह भी उनसे रुष्ट होकर चला गया था और अकबर से जा मिला था। उसने अपमान का बदला लेने की ठानी थी। हल्दी-घाटी की लड़ाई इतिहास प्रसिद्ध है। इसी लड़ाई के समय शक्तिसिंह राणाप्रताप से अलग होकर चला गया था। इसी शक्तिसिंह को 'विद्रोही दिखलाते हुए कहानी की रचना कौशिक जी ने की है। शक्तिसिंह की पत्नी उसे समझाती है—'कलंक लगेगा, अपराध होगा।' तो शक्तिसिंह कहता है—'अपमान का बदला लूँगा, प्रताप के गर्व को मिट्टी में मिला दूँगा। आज मैं विजयी होऊँगा।'[1] इस प्रकार राणा प्रताप अकेले थे उनकी सेना भी अधिक बड़ी नही थी। हाँ भील अवश्य थे जो धनुष लेकर हल्दी घाटी की चोटियों पर युद्ध के लिए तैयार थे।[2] इधर मानसिंह और अकबर का पुत्र सलीम मुगल सेना का संचालन कर रहे थे। मुगल सेना के बीच महाराणा प्रताप घिर गए थे कि राजपूत वीर मन्ना जी ने मेवाड़ के राज चिन्हों को महाराणा के सिर से उतार कर अपने सिर पर धारण कर लिया।[3] ऐसा

---

1. हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियाँ : सम्पादन—किरणचन्द्र : विद्रोही : पृष्ठ 106
2. वही विद्रोही : पृष्ठ 107
3. वही विद्रोही : पृष्ठ 108

मुगल सैनिकों को भ्रम में डालने के लिए किया गया था ताकि मन्ना जी को मुगल सैनिक राणा प्रताप समझ ले और राणा प्रताप को, जिनकी जान खतरे में थी, बचकर निकल जाने का अवसर मिल जाए। इस चाल को राणा का भाई शक्तिसिंह (विद्रोही) समझ गया और उस भाई के खून के प्यासे ने दो मुगल सरदारों के साथ उसका पीछा किया। इधर राणा की सेना के हजारो वीर मारे गए। यह सब हृदय-द्रावक दृश्य देखकर शक्तिसिंह का हृदय पिघल गया, उसकी भाई के प्रति ममता उमड़ पड़ी। मुगल सरदार राणा प्रताप का पीछा कर रहे थे। शक्तिसिंह ने देखा अभी समय है उसने कहा 'रुको'—दूसरे ही क्षण शक्तिसिंह की बन्दूक छूटी और पलक मारते दोनो सैनिक वही ढेर हो गए।[1] राणा पहले तो शंका ग्रस्त हो गए किन्तु शक्तिसिंह को अपराधी की भाँति नत मस्तक देखकर उनकी शंका दूर हो गयी। शक्तिसिंह और प्रताप दोनों गले मिले। संक्षेप में कहानी का यही कथानक है।

विद्रोही : राजस्थानी इतिहास की परिधि में

अब यदि हम इतिहास उठाकर देखें और कहानी के कथानक का घटना से मिलान करें तो पता चलेगा कि 'विद्रोही' कहानी में 'कौशिक' जी की केवल भाषा अपनी है, चयन अपना है, घटना पूर्ण रूप से ऐतिहासिक है। राणा प्रताप, शक्तिसिंह, मन्ना जी, मानसिंह और सलीम सभी ऐतिहासिक पात्र हैं। हल्दी घाटी की लड़ाई इतिहास की प्रसिद्ध लड़ाई है। भीलों का राणा प्रताप को सहयोग, मन्ना जी का प्रताप के सिर से राज चिन्हों को लेकर धारण करना, हजारों सैनिकों का युद्ध में मारा जाना और अन्त में शक्तिसिंह द्वारा प्रताप को मुगलों से बचाने की घटना भी इतिहास सम्मत है। कहानी पूर्ण रूप से ऐतिहासिक है उसमें कल्पना नही के बराबर है।

दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी : चतुरसेन शास्त्री

कहानी आचार्य चतुरसेन शास्त्री द्वारा रचित है। यह कहानी भी ऐतिहासिक है किन्तु उपर्युक्त कहानी में और इस कहानी में अन्तर है। यह कहानी मुगलकालीन राजसी वातावरण का चित्र उपस्थित करती है और ऐतिहासिक पात्रों को लेकर रची गयी है फिर भी अपेक्षाकृत उसमें कल्पना की मात्रा ही अधिक है, घटना की सत्यता का कोई आधार नही है। राजघरानों में होने वाली घटनाओं को किस्सागो लोग सुनाते है, वर्षों व्यतीत होते होते उन किस्सों में भी कल्पना का समावेश अधिक हो जाता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि ये किस्से कितने सत्य हैं। प्रस्तुत कहानी का आधार एक ऐसा ही किस्सा है जो कहानीकार ने किसी मशहूर खानदानी किस्सागो से

1. हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियाँ : विद्रोही : पृष्ठ 109

उसे दो रुपये देकर सुना था। अत. प्रस्तुत कहानी मात्र ऐतिहासिक कल्पना ही कही जा सकती है। इतिहास के नाम पर कुछ सत्यता का अश या तो इस किस्से मे हो सकता है या फिर सत्यता शाहजहाँ और सलीमा के नाम मे है। कहानी का वातावरण उसे ऐतिहासिक बनाने में बहुत कारगर सिद्ध हुआ है।

दुखवा मैं कासे कहूं मोरी सजनी : ऐतिहासिक कल्पना

शाहजहाँ ने सलीमा से नयी शादी की थी और वे दोनों काश्मीर के आराम-बाग के महल में ठहरे थे। बादशाह दो दिन से शिकार पर गये थे और रात होने पर भी नही लौटे। बेगम बेचैनी महसूस कर रही थी। बाँदी के, जो कि सुन्दर और कमसिन थी यह पूछने पर कि 'क्या सुनाऊँ' बेगम ने कहा—'ठहर कमरा बहुत गरम मालूम देता है, इसके तमाम दरवाजे और खिड़कियाँ खोल दे, चिरागो को बुझा दे, चटखती चाँदनी का लुत्फ उठाने दे और वे फूल मालाएँ मेरे पास रख दे'।[1] बेगम शर्बत माँगती है, उसमे गुलाब और इस्तम्बोल मिलाने के लिए कहती है। बाँदी (जो कि वास्तव मे स्त्री न होकर स्त्री रूप मे पुरुष था) उसमे 'एक चीज' और मिलाती है। सलीमा के बेसुध होने पर बाँदी रूप में मर्द उसका मुख चूम लेता है। इधर राजा शिकार से लौटकर महल मे प्रवेश करते ही यह देख लेता है और बाँदी द्वारा रहस्योद्घाटन करने पर सलीमा को गुस्ताखी की सजा देता है और बाँदी को भी। वस्तुस्थिति यह थी की सलीमा को भी यह ज्ञात न था कि कमसिन बाँदी, बाँदी नही, मर्द है। राजा के क्रोध की सलीमा पर प्रतिक्रिया होती है और वह जहर खा लेती है। इधर जब राजा को उस मर्द से यह ज्ञात होता है कि वह सलीमा का बचपन का साथी है और उसे देखने की चाह होने के कारण ही वह वेश बदल कर यहाँ बाँदी रूप में आया था तो राजा को सलीमा के निर्दोष होने मे सन्देह नही रहता। कुल मिलाकर कहानी यही है किन्तु इसमें आयी घटना की सत्यता इतिहास से नही जाँची जा सकती। दोनों प्रमुख पात्र और वातावरण पूर्ण रूप से ऐतिहासिक हैं किन्तु इसमे चूँकि इतिहास के आधार पर घटना की असत्यता को चुनौती नहीं दी जा सकती, इसलिए कहानीकार ने कल्पना को स्वेच्छानुसार ला उपस्थित किया है। राजदरबारों में घटित होने वाली अन्य घटनाओं से चूँकि यह घटना स्वभाव में मेल खाती है इसलिए पाठक एकाएक इस कथानक के प्रति अविश्वास नही करता बल्कि उसे सहज ही इतिहास की वस्तु मान लेता है। जिस प्रकार जुर्म साबित न होने पर अदालत अपराधी को सदेह-लाभ (Benefit of doubt) दे देती है उसी प्रकार इतिहास की इस घटना की सत्यता को परखने के लिए इतिहास का आधार न होने से कहानीकार को भी कुछ इसी प्रकार का लाभ (Benefit) मिल

---

1. दुखवा में कासे कहूँ मोरी सजनी : चतुर सेन शास्त्री

गया है। यशपाल के उपन्यास 'दिव्या' की भी कुछ-कुछ यही स्थिति है। यशपाल जहाँ एक ओर स्वय 'दिव्या' को 'ऐतिहासिक कल्पना' कहकर दामन झाड़कर अलग हो गये है वहाँ शास्त्री जी ने किस्सागो को बीच मे डालकर घटना की ऐतिहासिकता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है, या कहें कि कथानक की ऐतिहासिकता से स्वय आश्वस्त न होने के कारण ऐतिहासिक यथार्थ का बोझ किस्सागो के कन्धो पर रख दिया है।

मुगलों ने सल्तनत बख्श दी : भगवती चरण वर्मा

भगवती चरण वर्मा की इस कहानी का स्वरूप भी बहुत कुछ 'दुखवा मैं कासे कहूं मोरी सजनी' नामक कहानी से मिलता-जुलता है। समानता इसी अर्थ में है कि कहानी का कथानक मुगलकालीन है जो कि कल्पना के सहारे ही खड़ा हो सका है। सम्पूर्ण कहानी मुगल बादशाहो पर एक जोरदार व्यंग है।

वर्मा जी ने प्रस्तुत कहानी मे जहाँ एक ओर मुगल दरबारियों के हास्यास्पद चित्र उपस्थित किए है वहाँ कल्पना के सहारे कुछ ऐतिहासिक घटनाओं को भी नायक हीरोजी के माध्यम से उभारा है। हीरोजी नामक व्यक्ति चाय के दूकान पर कहानी कहने के बहाने मुगल राजाओं की अयोग्यता, उनके दरबारियों की चापलूसी करने की प्रवृत्ति आदि पर तो प्रकाश डालता ही है साथ ही प्लासी और बक्सर की लड़ाई की बात भी कहता है। चाय की दूकान पर मित्र मंडली हरिजन आन्दोलन की चर्चा करते करते दानव राज बलि की चर्चा करने लगती है। यहाँ केवल दो ही शब्दो मे 'हरिजन आन्दोलन' का जिक्र किया गया है किन्तु उसके पीछे इतिहास छिपा है। सितम्बर 1932 में हरिजन आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। प्रस्ताव के रूप में नवम्बर 1933 मे तो हरिजन आन्दोलन के लिए गाधी जी ने दौरा तक किया। इसके पीछे मुख्य बात अस्पृश्यता निवारण की थी।[1] खैर, तो दानवराज बलि के बचन निर्वाह और त्याग की बातो के सन्दर्भ मे हीरोजी मुगल बादशाहो के बचन निभाने और त्याग करने का उदाहरण प्रस्तुत करते है जिसके पीछे बहुत ही तीव्र व्यंग्य है।

कुछ ऐतिहासिक घटनाएँ : कल्पना की परिधि में

औरंगजेब अन्तिम शक्तिशाली मुगल सम्राट था। उसके बाद नाम मात्र के शासक रह गए थे जो बिल्कुल अयोग्य थे। इनमे से किसी से भी शासन संभल न सका और परिणाम यह हुआ कि भारत मे व्यापार के लिए घुस आए अंग्रेजों ने शासन मे हाथ डाला। यह विदेशी अग्रेज जाति भारत में व्यापार करने की दृष्टि से आई थी। वह आई कैसे, उसका इतिहास हीरोजी अपने ढंग से बतलाते है। यह एक अलग

1. कांग्रेस का इतिहास : डॉ० पट्टाभि सीतारमैया पृष्ठ, 264, 270

बात है कि उसमें सचाई कितनी है, फिर भी उसमें सत्यता का कुछ अंश इतिहास के आधार पर है अवश्य।

हीरोजी का कहना है कि शाहजहाँ की शाहजादी रोशनआरा का एक बार हाथ जल गया था, अच्छे वैद्य और हकीम भी उसे ठीक न कर सके। एक साधारण किन्तु चालाक अंग्रेज ने इलाज का बीड़ा उठाया। उसने वैसलीन से शाहजादी का उपचार किया। शाहजादी ठीक हो गयी तो शाहजहाँ प्रसन्न हुआ, कहा—माँगो और तब उस अंग्रेज ने जो घूस देकर दरबार में आया था[1], दवा के प्रचार के लिए हिन्दुस्तान में तिजारत करने की इजाजत माँगी। उसे इजाजत भी मिली और माँगने पर जमीन भी।

शाहजहाँ और रोशनआरा ऐतिहासिक पात्र है। इतिहास के अनुसार उस समय तक अंग्रेज, भारत में नही थे। प्रारम्भ में आए भी तो व्यापारी की हैसियत से। जहाँ तक शाहजादी रोशनआरा के इलाज की बात है इस तरह की बाते मुगल दरबारों में हुआ करती थी। इतिहास में इस घटना का उल्लेख मिलता है कि सन् 1715 में जब फरुखसियर नामक बादशाह सख्त बीमार हुआ तो अंग्रेज डाक्टर हैमिल्टन ने उसका सफलता से इलाज किया था। बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ और डाक्टर से इनाम माँगने के लिए कहा। अंग्रेज डाक्टर ने इनाम में अंग्रेज जाति के लिए अधिक व्यापारिक सुविधाएँ माँगी और कलकत्ता तथा मद्रास के पास भूमि भी प्राप्त की। यह घटना हीरोजी की कहानी से बहुत साम्य रखती है। आगे चलकर हीरोजी अंग्रेजों के तम्बू बढने की बात कहते है और प्लासी एवं बक्सर की लड़ाई को झूठ बतलाते हुए भी इन दोनों लड़ाइयों का नामोल्लेख करते है जिनके पीछे भी इतिहास छिपा हुआ है।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद नबाब अलीवर्दी खाँ का नाम आता है, जो चतुर शासक था किन्तु उसकी मृत्यु के बाद सन् 1756 में सिराजुद्दौला गद्दी पर बैठा जो एक अयोग्य शासक था। उसके सरदार और उनका मुखिया मीरजाफर उससे नाराज थे। कहते हैं, बंगाल के मारवाड़ी सेठ अमीचन्द और जगत सेठ, मीरजाफर आदि सिराजुद्दौला के विरुद्ध अंग्रेजों से मिल गये और सिराजुद्दौला के विरुद्ध इन्होंने लड़ाई में अंग्रेजों का साथ दिया। प्लासी के मैदान में लड़ाई के दौरान नबाब सिराजुद्दौला हार गया और मारा गया। मीरजाफर गद्दी पर बैठा, किन्तु अंग्रेजों ने फिर उसे हटाकर उसके दामाद मीरकासिम को गद्दी पर बैठाया और फिर स्वार्थ सिद्धि के लिए जब उसे भी हटाना चाहा तो उनमें युद्ध हुआ। मीरकासिम हारा तो उसने भागकर अवध के नवाब शुजाउद्दौला और मुगल सम्राट शाहआलम की सहायता प्राप्त की। किन्तु

1. आधुनिक हिन्दी कहानियाँ : नन्ददुलारे वाजपेयी, विजय शंकर मल्ल— मुगलों ने सल्तनत बख्श दी, पृष्ठ 89

इन तीनों की सेनाएँ भी बक्सर के मैदान में सन् 1764 में अंग्रेजों से हार गयी और अंग्रेजों की सेना आगे बढ़ गई। उत्तरी भारत में उनका प्रभाव दिल्ली तक पहुँच गया। इसी ओर हीरो जी ने व्यंग्यात्मक संकेत किया है।

मुगल दरबारों में दरबारी लोग किस प्रकार बादशाह की हाँ में हाँ मिलाते थे, राजा की हर कार्यवाही की प्रशंसा करते थे, शायरी में वाह वाह करते थे और तीतर बटेर दीवाने ख़ास में लड़ाते थे। इसका सुन्दर और सजीव वर्णन कहानी मे मिलता है।[1]

हीरोजी के रूप में कहानीकार ने कहना यही चाहा है कि मुगल राजा अयोग्य थे, उनमे सल्तनत सम्भाले रखने की योग्यता नही थी, इसीलिए छिन गयी थी, बख्शी नहीं गयी।

उसने कहा था : चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

ऊपर जिन तीन कहानियों का विवेचन हुआ, वे ऐतिहासिक कहानियो की श्रेणी में आती हैं किन्तु अब जिन कहानियों का अध्ययन किया जाएगा वे ऐतिहासिक नहीं हैं किन्तु उनमें इतिहास छिपा हुआ है, वे इतिहास प्रभावित है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' ऐसी ही कहानी है। यह कहानी पाँच भागों में विभाजित है। लेखक ने पहले खण्ड मे बालक लहनासिंह और एक वालिका (सूबेदार हजारा सिह की भावी पत्नी) का परिचय देकर समाप्त कर दिया है। दूसरे खण्ड का प्रारम्भ लड़ाई के वर्णन से प्रारम्भ होता है। पंजाब के सिपाही (अकाली-सिख) खाइयों में पड़े हैं, सर्दी तेज है, बम फटते हैं, चार-चार दिन खन्दक मे बीतते हैं। सिपाही रिलीफ जाने की आशा में हैं। वे फिरंगी मेम के बगीचे और उससे मिलने वाले दूध की चर्चा करते हैं। वह पैसा नहीं लेती क्योंकि ये सिपाही उसके मुल्क को बचाने आए हैं। लहनासिंह तो चार दिन से सोया नही है फिर भी जर्मनो को मारकर लौटने का हौसला रखता है।[2]

कहानीकार भारतीय है, पात्र भारतीय हैं। तब फिरंगी मेम के मुल्क को बचाने का कौन-सा प्रसंग है और जर्मनों को मारने की कैसी चर्चा है? कौन-सी लड़ाई है जिसमे भारतीय सैनिक जर्मनों के विरुद्ध लड रहे हैं? ये सब प्रश्न मस्तिष्क में आते हैं और तब हमें इतिहास के पृष्ठ देखने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

जुलाई सन् 1914 में यूरोपीय महायुद्ध छिड़ा। जर्मनी, फ्रान्स का दरवाजा खटखटा रहा था और इंग्लैण्ड भी मुसीबत में पड़ गया था।[3] अत: युद्ध के कुछ समय

1. मुगलों ने सल्तनत बख्श दी : पृष्ठ 92,93 (आधुनिक हिन्दी कहानियाँ)
2. उसनें कहा था : चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (संकलन : यथार्थ और कल्पना) प्रो० विराज
3. कांग्रेस का इतिहास : (डॉ० पट्टाभि सीतारमैया) पृष्ठ 68

उसने कहा था में इतिहास की परोक्ष अभिव्यक्ति

बाद ही वायसराय चेम्सफोर्ड ने युद्ध मे भारत की सहायता का प्रस्ताव किया। गांधी जी ने भी सहायता करने की ही बात कही। अंग्रेजो ने इग्लैण्ड की सहायतार्थ भारत मे धन एकत्रित किया और दस लाख सैनिक भर्ती किए। इस काम मे जुल्म भी बहुत किए गए।[1] भारतीय सैनिक फ्रान्स की भूमि पर जर्मनी के विरुद्ध लड़ रहे थे। इसीलिए फिरगी मेम फल और दूध बिना पैसा लिए देती है और वजीरासिह जर्मनी के बादशाह का तर्पण करने की बात कहता है। लड़ाई के दौरान कैसी-कैसी चालें चली गयी और भारतीय सिपाही लहनासिह ने अपनी टुकड़ी के लेफ्टीनेंट की वर्दी पहन कर आए जर्मन को कैसे पहचाना, उसे समय रहते पाठ पढ़ाया आदि बातें प्रस्तुत कहानी से ज्ञात होती हैं। कहानी फ्रान्स की भूमि पर लड़ी गयी लड़ाई से सम्बन्ध रखती है किन्तु उसके माध्यम से भारतीय सिपाहियो के चातुर्य और जिन्दादिली का बयान किया गया है। कहानीकार ने जिस ढंग से ऐतिहासिक घटना की ओर सकेत किया है यह भी प्रशसनीय है।

जुलूस : प्रेमचन्द

'समर यात्रा' प्रेमचन्द की राष्ट्रीय भावनाओं से पूर्ण कहानियो का संग्रह है। विवेचन के लिए 'जुलूस' कहानी हमने इसी संग्रह से चुनी है जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध

जुलूस : पूर्ण स्वराज्य का अभिलेख

अहिंसा के पुजारी गांधी के नेतृत्व में लड़ी गयी स्वाधीनता की लड़ाई से है। प्रथम बार यह कहानी 'हंस' में सन् 1930 में प्रकाशित हुई।[2] यों तो स्वाधीनता प्राप्ति के लिए प्रयास के रूप मे आए दिन जुलूस निकलते थे, नागपुर के झंडा सत्याग्रह और साइमन कमीशन के बहिष्कार के लिए निकलने वाले जूलूस इसके प्रमाण है, किन्तु 'जुलूस' कहानी का 'जुलूस' घटना विशेष से सम्बन्ध रखता है। 'जुलूस' कहानी के पात्र शम्भुनाथ और दीनदयाल मात्र दर्शक रूप में है, और गांधी के अहिंसात्मक प्रयासों को उनके सठिया जाने का परिणाम बताते हैं।[3] दीनदयाल का मत है कि जुलूस निकालने से यदि स्वराज्य मिल जाता तो अब तक कब का मिल गया होता। कहानियों के अन्य पात्रों में सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस का पुत्र बीरबलसिह और उसकी पत्नी मिट्ठन बाई तथा मुसलमान पात्र इब्राहीम हैं। बहुधा देखने में आया है कि ब्रिटिश सरकार के हिमायतियों के बीबी-बच्चे उनके विरोधी और राष्ट्रीय भावनाओं से अनुप्राणित दिखलाए गये है तथा मुसलमान पात्र हिन्दुओं से सहयोग करते

1. बापू के कदमों में : डॉ० राजेन्द्र प्रसाद : पृष्ठ 69
2. प्रेमचन्द कहानीकार : सुरेन्द्र आनन्द : पृष्ठ 72
3. जुलूस (समर यात्रा : कहानी संग्रह) प्रेमचन्द : पृष्ठ 76

हुए तथा विदेशी सत्ता का विरोध करते हुए दिखलाये गये हैं। प्रेमचन्द में तो यह प्रवृत्ति विषेष रूप से पायी जाती है। प्रस्तुत कहानी में सुपरिन्टेंडेन्ट पुलिस का लड़का बीरबल सिंह ब्रिटिश सत्ता का हिमायती है और अपने ही देशवासियों को कुचलने पर आमादा है किन्तु उसकी पत्नी मिट्ठन बाई उसकी भर्त्सना करती और जुलूसों मे भाग लेती दीख पड़ती है।

जुलूस का उद्देश्य 'पूर्ण स्वराज्य' की प्राप्ति है। दरोगा बीरबल सिह जुलूस रोकने के लिए तैनात है। जुलूस का वृद्ध नेता इब्राहीम अली पीछे नही हटता किन्तु दरोगा को आश्वासन देता है कि वह हिंसात्मक कार्यवाही नही होने देगा, किन्तु बीरवलसिंह फिर भी जुलूस पर घोड़ा चढ़ाता है जिससे इब्राहीम की मृत्यु हो जाती है। इब्राहीम की मृत्यु से दर्शकों तक के हृदय में देशप्रेम की भावना का उदय होता है, वे भी जुलूस में शामिल होते हैं और बीरबलसिंह अपनी पत्नी द्वारा लज्जित किए जाने पर मृत इब्राहीम की वृद्ध विधवा से अपराध क्षमा कराने जाता है। अपनी पत्नी मिट्ठन बाई से ऐसे ऐसे कटु वचन मुनकर कि 'खून से हाथ रग कर तरक्की पायी तो क्या पायी, यह तुम्हारी कारगुजारी का इनाम नही देश द्रोह की कीमत है'[1] बीरवल सिंह अपनी कारगुजारी को स्वय ही कमीनापन कहता है।

कहानी की रचना स्वाधीनता के लिए लड़ी जाने वाली अहिसात्मक लडाई को लेकर की गयी है। गांधी जी की पुकार पर कालेज स्कूलो से विद्यार्थी और घरो से स्त्रियाँ निकल पडी थी। सन् 1929 में लाहौर कांग्रेस हुई थी जिसमें पूर्ण स्वाधीनता का प्रश्न उठाया गया था तथा जनवरी 1930 मे हुई नई कार्य समिति की बैठक मे पूर्ण स्वराज्य दिवस मानने का निश्चय भी हुआ था।[2] जनता को पढ़कर सुनाए जाने वाले स्वाधीनता के घोषणापत्र मे कहा गया था '...... अतः हमारा विश्वास है कि भारतवर्ष को अंग्रेजो से सम्बन्ध विच्छेद करके पूर्ण स्वराज्य या स्वाधीनता प्राप्त कर लेनी चाहिए।'[3] 'जुलूस' कहानी में जिस जुलूस का चित्रण किया गया है उसका सम्बन्ध 'पूर्ण स्वराज्य' से ही है। 'पूर्ण स्वराज्य' सम्बन्धी निश्चय 1929-30 में किया गया था, प्रेमचन्द की कहानी भी हस मे प्रथम बार 1930 मे प्रकाशित हुई थी। अतः यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि 'पूर्ण स्वराज्य' की माँग ही कहानी का आधार है।

अजीज मास्टर : अमृतराय

स्वर्गीय प्रेमचन्द के सुपुत्र अमृतराय, की गणना उच्चकोटि के कथाकारो में होती है। इन्होने अनेक कहानियाँ लिखी है। भाषा शैली और विषय की दृष्टि से

1. जुलूस : समरयात्रा पृष्ठ 81
2. कांग्रेस का इतिहास : डॉ० पट्टाभि रमैया, पृष्ठ 182-83 3. वही पृष्ठ 184

अजीज मास्टर : साम्प्रदायिक दंगों की साक्षी

अमृतराय पर प्रेमचन्द की स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है। प्रस्तुत अध्याय में विवेचन के लिए अमृतराय के कहानी संग्रह 'इतिहास' से हमने अजीज मास्टर नामक कहानी का चयन किया है। यह कहानी देश में विभाजन के पूर्व हुए साम्प्रदायिक दंगों से सम्बन्ध रखती है। कहानी में केवल दो पात्र हैं रतन बाबू और अजीज मास्टर। दोनों की ट्रेन में मुलाकात होती है और उनके बीच वार्तालाप चलता है। रतन बाबू और अजीज मास्टर के वार्तालाप के माध्यम से कहानी आगे बढ़ती है। सन् 1920 से 23 तक असहयोग का जोर था। उसी असहयोग के कार्यक्रम में अजीज मास्टर के साथ के दो मास्टर जेल गए थे किन्तु पीछे से उन मास्टरों के परिवारों की किसी ने परवरिश नहीं की। स्वराज्य की रट लगाने वाले स्वराज्य के लिए जेल जाने वालों के लिए इतना भी प्रबन्ध नही करते थे।

अजीज मास्टर सफर के दौरान देश में साम्प्रदायिकता के विषय में तब तक बोलता रहता है जब तक जबलपुर स्टेशन नही आ जाता। रतन कहता है "······और वही लोग, जो यह जहर फैलाते हैं, अपने आपको सबसे बड़ा वतनपरस्त समझते है। मुसलमान भी वतन परस्त हो सकता है यह उनकी समझ में नहीं आता।"[1] अजीज मास्टर इस साम्प्रदायिकता का जहर फैलाने वालो पर तरस खाता है। वह कहता है "कभी-कभी मुझे बड़ा तरस आता है अपने उन साथियों पर जो मतभेद का जहर फैलाकर मुल्क के साथ गद्दारी करते हें।······"

'अजीज मास्टर' कहानी में अमृतराय ने उन्ही साम्प्रदायिक दगों की ओर सकेत किया है जो सन् 1924-25 (कोहाट का दंगा व अन्य दंगे) में दिल्ली, इलाहाबाद और कलकत्ता में हुए थे। 1926 में कलकत्ते में भयंकर रक्तपात हुआ था। 110 जगह आग लगाई गयी थी और मन्दिर व मस्जिद पर हमला हुआ था। ये साम्प्रदायिक दंगे, कलकत्ता में छः सप्ताह तक हुए। 1927 में तो हिन्दू-मुस्लिम दंगों की बाढ़ आ गयी थी और लाहौर में तो सबसे भयानक दंगा हुआ था।[2] यों, दंगे तो विभाजन के समय भी हुए थे और विभाजन के कुछ पूर्व भी, किन्तु अजीज मास्टर कहानी का आधार इतिहास के वे ही पृष्ठ हैं जो साम्प्रदायिकता के रंग से रंगे हुए हैं। तभी तो अजीज मास्टर कहता है "······और फिर हम कहते हैं कि स्वराज्य मिलना चाहिए, यही इन्सानियत है जिस पर हम स्वराज्य माँगते हैं।"[3] भाषा, शैली और कथानक की दृष्टि से जुलूस कहानी पर प्रेमचन्द जी का स्पष्ट प्रभाव है।

1. अजीज मास्टर : (इतिहास : कहानी संग्रह) अमृतराय, पृष्ठ 79
2. कांग्रेस का इतिहास : पृष्ठ 148, 156, 159, 163
3. अजीज मास्टर : (इतिहास : कहानी संग्रह) पृष्ठ 73

उसकी माँ : पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

उग्र जी ने कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास सभी की रचना की है। यहाँ हम उनकी कहानी 'उसकी माँ' का विवेचन इतिहास की दृष्टि से करेगे। इसमे 'लाल' नामक युवक की कहानी है जिसके परिवार में वह स्वय और केवल 'उसकी माँ' है। उसके पिता की मृत्यु के बाद संरक्षक का काम एक जमीदार करता है। लाल क्रान्तिकारी दल का सदस्य है और जमीदार राजभक्त। जमीदारो की प्रारम्भ से यही प्रवृत्ति रही थी कि वे ब्रिटिश सरकार को धर्मात्मा, विवेकी और दयालु सरकार मानते थे। दूसरा वर्ग उन युवको का था जो विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने की ही योजना बनाते थे। लाल कहता है, 'मेरी कल्पना यह है कि जो व्यक्ति समाज या राष्ट्र के नाश पर जीता हो उसका सर्वनाश हो जाए।'[1] अपने चाचा (सरक्षक जमीदार) के पूछने पर लाल का यह कहना कि जरूरत पड़ने पर वह षड्यन्त्र, विद्रोह, और हत्या तक कर सकता है, उसके आतकवादी होने का प्रमाण है। पुलिस उसका मकान घेर लेती है और तलाशी मे उसके घर से दो पिस्तौल, बहुत से कारतूस और पत्र मिलते हैं, उस पर हत्या, षड्यन्त्र और सरकारी राज्य उलटने के आरोप लगाए जाते है और प्राण दण्ड दे दिया जाता है। प्रस्तुत कहानी पूर्ण रूप से कल्पित है, पात्र भी सभी कल्पित हैं। केवल सचाई है तो वह भावना की। देश को स्वतन्त्र कराने .के लिए भारतीय प्रयासशील थे, उनका ध्येय एक ही था किन्तु रास्ते अलग-अलग थे। एक था अहिंसा का मार्ग और दूसरा था क्रान्ति और आतक का मार्ग। क्रान्तिकारी आतंक से काम लेते थे। ऐसे ही एक देशभक्त क्रान्तिकारी की कल्पना करके वातावरण के अनुकूल कहानी की रचना उग्र जी ने की है।

उसकी माँ में ऐतिहासिक वातावरण

छाया : हीरानन्द सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

'अज्ञेय' जी ने भी अनेकों कहानियाँ लिखी है। उनकी कहानियो के कई संग्रह निकले है। प्रस्तुत कहानी 'छाया' 'कड़ियाँ तथा अन्य कहानियाँ' संग्रह से ली गयी है। अरुण और सुषमा (जो राजनैतिक कैदी है) जेल वार्डर तथा उसकी पत्नी (जो स्वयं भी जेल की मेट्रन है) कहानी के पात्र है। कहानी जेल वार्डर के द्वारा कहलायी गयी है। कथानक का सम्बन्ध स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व, आतंकवादियों और क्रान्तिकारियों की गतिविधियों से है। देश में, विशेष रूप से बगाल में आतंकवादियो और क्रान्तिकारियो का जोर था। पुरुष तो पुरुष, स्त्रियाँ भी क्रान्तिकारी दलों में सक्रिय भाग ले रही थी। 'भारतीय क्रान्ति-

छाया आतंकवाद की अभिव्यक्ति

1. उसकी माँ : पांडेय बेचन शर्मा उग्र (यथार्थ और कल्पना कहानी : संग्रह—प्रो० विराज) पृष्ठ 121

कारियों का इतिहास' नामक पुस्तक में मन्मथनाथ गुप्त ने बगाल की अनेकों क्रान्तिकारी महिलाओं के नाम गिनाये हैं और उनका विवरण भी दिया है।[1] (पृष्ठ 340 के क्रम संख्या 14 पर तो सुषमा नाम भी देखने को मिलता है। यह द्रष्टव्य है कि कहानी के रचयिता अज्ञेय जी भी सन् 1930-34 मे 'दिल्ली षड़यन्त्र केस' और अन्य अभियोगों के कारण जेल में व लाहौर किले में बन्द रहे थे।[2]......) राजनैतिक कैदी अरुण का यह गाना—

आसन तलेर माटिर परे लूटिए र'ब।
तोमार चरण धूलाय धूलाय धूसर ह'ब॥

सिद्ध करता है कि युवक बंगाली ही है। हालाँकि जेल जाने वालों में राजनैतिक कैदी भी होते थे जो देश की स्वाधीनता के लिए ही जेल जाते थे, किन्तु जेल के कर्मचारियो और अधिकारियो को जैसे उससे कोई सरोकार नहीं था। वे हर गैरकानूनी सुविधा प्रदान करने के लिए रिश्वत की आशा करते थे फिर चाहे वार्डर हो या जेल का डाक्टर अथवा मेट्रन।[3], फिर भी क्रान्तिकारियों को तो अपने काम से काम था। कहानी मे सुषमा ऐसी ही क्रान्तिकारी स्त्रियो का प्रतिनिधित्व करती दिखलायी पडती है जो क्रान्तिकारी दलों की सदस्याएँ थी, और अवसर पडने पर वम फेकने और पिस्तौल चलाने तक का कार्य करती थी।[4] स्वाधीनता प्राप्ति के लिए जितने प्रयासशील क्रान्तिकारी थे उससे कही अधिक प्रयासशील गाँधी की अहिंसा की समर्थक जनता थी। एक तो अहिंसा के सिपाहियो की सख्या क्रान्तिकारियों से कई गुना थी, इसकें अतिरिक्त एक बात यह भी थी कि क्रान्तिकारी गुप्त कार्रवाई करने के लिए विवश थे जब कि अहिंसा के सिपाही खुलेआम निडर होकर कार्य करते थे। चूँकि क्रान्तिकारियो की अपेक्षा अहिसावादियों की कार्रवाइयाँ भयंकर नही होती थीं अतः उन्हें सजाएँ भी कम मिलती थी। यही कारण है कि 'छाया' कहानी में पिकेटिंग में पकड़े गये लोगो को तीन-तीन, छः-छः महीने की सजा की चर्चा हुई है जबकि क्रान्तिकारी अरुण की दस वर्ष की सजा हुई है।[5]

दरअसल क्रान्तिकारियों में एक अजीब सरफरोशी देखने को मिलती थी। उनकी सजाएँ बढ़ा दी जाएँ, उन्हें यातनाएँ दी जाएँ किन्तु क्या मजाल कि उनकी मुस्कराहट का लोप हो। ऐसी ही अद्‌भुत साहस हमें सुषमा में देखने को मिलता है जो फाँसी के समय मुँह ढकने नही देती और हँसते-हँसते फाँसी पर

1. भारतीय क्रान्तिकारियों का इतिहास : पृष्ठ 338-340 (मन्मथनाथ गुप्त)
2. कड़ियाँ और अन्य कहानियाँ (संग्रह) : अज्ञेय (लेखक और उसकी रचनाओं के विवरण से)
3. छाया : अज्ञेय : पृष्ठ 39, 40, 46
4. वही पृष्ठ 40
5. वही पृष्ठ 41

चढ़ जाती है। कहानी अहिसा पर आधारित न होकर आतंकवादियो के जीवन को आधार बनाकर लिखी गयी है।

कामकाज : चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

ऐतिहासिक सूत्रों के बीच

प्रस्तुत कहानी न केवल चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की बल्कि हिन्दी की उत्कृष्ट कहानियों में से एक है। कहानी तीन भागों में विभक्त है और तीनों ही भागो में तीन स्वतन्त्र लघु कहानियाँ हैं, किन्तु चूँकि कहानी के तीनों अंशों में कहानीकार ने एक ही बात कहनी चाही है इसलिए तीनों ही अंश एक ही सूत्र में पिरोए हुए से प्रतीत होते है, इसीलिए कहानी की अखण्डता भी बनी रही है। कहानीकार ने इस कहानी में यह दर्शाने की चेष्टा की है कि आजकल का जीवन यन्त्रवत् हो चला है, मनुष्य चाहते हुए भी इच्छानुकूल स्वतन्त्र जीवन नही जी पाता। वह परिस्थितियों का दास हो गया है। 'काम काज' उसके चारों ओर इस तरह से घिरे हुए हैं कि वह अपने आपको बन्धनों में जकड़ा हुआ पाता है।

इतिहास की दृष्टि से कहानी शून्य है। फिर भी कहानी मे दो एक स्थल इस प्रकार के विद्यमान है, जो निगाह के सामने आते ही इतिहास का स्मरण कराते है। कहानी के पहले भाग में जहाँ एक ओर कपडे के व्यापारी लाला कस्तूरीमल, जिनके सगे सम्बन्धी क्वेटा भूकम्प के शिकार हो गए हैं, की काम काज में व्यस्तता दिखलायी गयी है वहाँ साथ ही भूकम्प सम्बन्धी बातचीत और कपड़े की खरीद और भावताव एक साथ चलते है।[1] लाला कस्तूरीमल अपने बहनोई मधुसूदन के विषय में पूछते है तो क्वेटा भूकम्प के पहले बैच में लाहौर आए सज्जन उन्हें बतलाते है कि मधुसूदन 29 मई की रात को दौरे पर जाने वाले थे किन्तु उन्होंने दौरा अगले दिन के लिए मुल्तवी कर दिया था।

क्वेटा का भूकम्प ऐसी घटना है जिसने समूचे देश को शोकग्रस्त कर दिया था। इतिहास के अनुसार क्वेटा का भूकम्प 31 मई 1935 को आया था। चूँकि यह सैनिक केन्द्र था इसलिए सहायता कार्य विशेष रूप से सरकार ने स्वयं अपने हाथ में लिया था और बाहर से सहायता के लिए जाने वालों के प्रवेश पर रोक लगा दी थी। गांधी जी तक को आने की अनुमति नही मिली थी।[2]

विदेशी माल के बहिष्कार का भी अपना इतिहास है। एक समय था जब विदेशी वस्त्रो की होली जलती थी और स्वदेशी के प्रति आग्रह बढ़ चला था, विदेशी

1. काम काज : चन्द्रगुप्त विद्यालंकार (कहानी सग्रह : यथार्थ और कल्पना— प्रो० विराज) (पृष्ठ 201-293)
2. कांग्रेस का इतिहास : डॉ० पट्टाभि रमैया : पृष्ठ 288-283

वस्त्रों की दूकानों पर धरने दिये जाते थे। क्वेटा भूकम्प 1935 की घटना है जिस समय राष्ट्रीयता चरम सीमा पर थी इसीलिए लाला जी इस भूकम्प पीड़ित सज्जन से पूँछते हैं —'आप विदेशी कपड़ा तो नही पहनते न ?' और उत्तर मिलता है ; "जी नहीं मुझे स्वदेशी कपड़ा ही चाहिए।"······हम खुद जहाँ तक बन पड़ता है स्वदेशी माल ही बेचते हैं।[1]······विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार और धरना के कार्यक्रम मे ग्राहक और दुकानदार दोनों से यह आग्रह किया जाता था कि वे विदेशी वस्त्र का बहिंष्कार कर 'स्वदेशी' इस्तेमाल करें। यही कारण है कि कहानी में दुकानदार और ग्राहक दोनों का ही झुकाव 'स्वदेशी' की ओर है।

कहानी के शेष दो भाग क्रमश: जेल के चौकीदार यूसुफ और गरीब बाबू देसराज से सम्बन्ध रखते हैं। इन अशों में इतिहास के सूत्र परिलक्षित नही होते।

टेबिललैण्ड : अश्क

'अश्क' की यह कहानी देश के विभाजन से सम्बन्धित है। जिस समय देश का विभाजन हुआ तो भारत और पाकिस्तान का सीमा सम्बन्धी निर्णय, सीमा कमीशन[2] ने किया था और सीमा निर्णय की घोषणा होते ही नरसंहार प्रारम्भ हो गया था। साम्प्रदायिक भेदभाव और फूट के बीज तो पहले ही बोए जा चुके थे। आबादी के अदल-बदल के दौरान हिन्दू मुसलमानो ने एक दूसरे पर जुल्म ढहाए। लोग बेघरबार हो गये और कठिनाई से जाने बचा-बचाकर आए। उन्हें शरण (आश्रय) की आवश्यकता थी अत: ऐसे लोगों के लिए उन दिनों 'शरणार्थी' शब्द आम हो गया था। कहानी का पात्र दीनानाथ ऐसे ही शरणार्थियों की सहायता के लिए रुपया इकट्ठा करता है।[3] यही दीनानाथ मुस्लिम लीग के 'डायरेक्ट एक्शन' की साम्प्रदायिकता के प्रति उदासीन था। मुस्लिम लीग के 'डाइरेक्ट एक्शन' की चर्चा कहानी में की गयी है जो कि इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। मुस्लिम लोग ने 16 अगस्त 1946 का दिन 'प्रत्यक्ष कार्रवाई' का दिन घोषित किया था। बंगाल सरकार ने तो प्रत्यक्ष कार्रवाई दिवस मनाने के लिए 16 अगस्त को सार्वजनिक छुट्टी कर दी थी। कलकत्ता और सिलहट में गम्भीर उपद्रव हुए। कलकत्ता

लीग की प्रत्यक्ष कार्यवाही एव शरणार्थी समस्या का चित्र

1. कामकाज : चन्द्रगुप्त विद्यालंकार पृष्ठ 295
   (यथार्थ और कल्पना कहानी संग्रह : प्रो० विराज)
2. टेबिल लैण्ड : उपेन्द्रनाथ अश्क : पृष्ठ 258
   (यथार्थ और कल्पना : कहानी संग्रह : प्रो० विराज)
3. वही : पृष्ठ 254

की सड़कों पर रक्त की नदियाँ बह गयीं। अनुमानतः 7000 के लगभग व्यक्ति मारे गये और अनेकों घायल हुए।[1]...... लाहौर तक आग जो पहुँची तो साम्प्रदायिक दंगों के प्रति दीनानाथ की तटस्था भी समाप्त हो गयी। लाहौर की गली-गली कूचा-कूचा आग की लपटों में नहा गया था। कासिम नामक पात्र जब दीनानाथ को यह स्पष्ट करने के लिए कि मुसलमानों का दोष नही है और इस देश के साधारण लोगों व बच्चों में कोई खास अन्तर नही है सुभाष बाबू के दूसरी बार कांग्रेस का प्रधान चुने जाने सम्बन्धी उदाहरण इतिहास से देता है। (जिसके पीछे सम्भवतः उसका मंतव्य यही है कि जन-साधारण में, फिर चाहे वह हिन्दू हों या मुसलमान स्वयं सोचने की सामर्थ्य कहाँ होती है।) उसका यह उदाहरण शत प्रतिशत ऐतिहासिक सत्य है। सितम्बर 1938 में सभापति के पद के लिए सुभाष बाबू और मौलाना अबुलकलाम आजाद के नाम थे। दोनों ही, अध्यक्ष पद के लिए तैयार थे किन्तु मौलाना के नाम वापस लेने से गांधी जी ने डॉ० पट्टाभि सीतारमैया के नाम का प्रस्ताव किया था। सुभाष बाबू को, डॉ० पट्टाभि से 95 मत अधिक मिले थे और तब चुनाव का परिणाम देख कर गांधी जी ने घोषणा की थी कि सुभाष बाबू के प्रतिस्पर्धी की पराजय को वे अपनी पराजय मानते हैं।[2]

अस्तु, बीमार होने के बावजूद भी दीनानाथ शरणार्थियों की मदद के लिए रुपया इकट्ठा करने का प्रयास मे अनेक सेनेटोरियमों में फिरता है और अन्त में प्राकृतिक सौन्दर्य से पूर्ण 'टेबिल लैण्ड' के समीप की बस्ती 'पंचगनी' के एक क्षीणकाय शरणार्थी को इकट्ठी की हुई सारी रकम दे आता है। इस बुजुर्ग ने हिन्दुओं पर होने वाले जा अत्याचार सुनाए, उनमें भी कल्पना कम, सत्य अधिक है। बच्चों के सामने माता-पिता की और माता-पिता के सामने बच्चों की गर्दनें काटी गयी, लड़कियों के साथ बलात्कार किया गया।[3] 'टेबिल लैण्ड' कहानी विभाजन के समय देश में हुए अत्याचारों और जुल्मों की कहानी है।

आधुनिक कहानी अपने प्राचीनता के निर्मोक को त्यागकर नया चोला धारण करके अवतरित हुई है, 'पुरानी बोतल में नई शराब' की तरह उपस्थित हुई है। नई कहानी की 'नवीनता इसमें नहीं है कि उसमे किसी अछूते भूभाग के अजीब से प्राणियों का वर्णन है बल्कि यह नवीनता इसमें है कि साधारण मानवीय जीवन कौन-सा विशेष नयापन है जो सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण पैदा हो गया है या बिना किसी परिवर्तन के भी जीवन का कौन-सा पहलू है, जो साहित्य में अब

1. कांग्रेस का इतिहास : डॉ० पट्टाभि रमैया (पृष्ठ 552)
2. कांग्रेस का इतिहास : डॉ० पट्टाभि सीतारमैया (पृष्ठ 331-332)
3. भारत का राजनैतिक इतिहास : राजकुमार (पृष्ठ 364)

तक अछूता रहा।[1] नए कहानीकारों में मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, मार्कण्डेय, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, उषा प्रियम्वदा, मन्नू भण्डारी, रेणु आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। यहाँ हम इन्हीं में से कुछ की, स्वतन्त्रता के बाद की कहानियो के माध्यम से इतिहास का अवलोकन करेंगे।

मलवे का मालिक : मोहन राकेश

देश विभाजन काल में सम्प्रदायिक दंगों की स्मृति

'मालवे का मालिक' कहानी देश के विभाजन और साम्प्रदायिकता पर आधारित है। रक्खे पहलवान, मनोरी, मियाँ अब्दुलगनी कहानी के पात्र है और कहानी का कथानक विभाजन के बाद के लाहौर से सम्बन्ध रखता है। यों तो सम्पूर्ण भारत, विभाजन के बाद के साम्प्रदायिक दगो की आग में जला था किन्तु पजाब और बगाल सर्वाधिक प्रभावित हुए थे। विभाजन के दौरान अमृतसर भारत के हिस्से में आ गया था। अतः अमृतसर भी भीषण आगजनी और मारकाट का केन्द्र बना। मुसलमान अमृतसर छोड़कर पाकिस्तान चले गए और हिन्दू लाहौर छोड़कर हिन्दुस्तान आ गये थे। देश का विभाजन सन् 1947 मे हुआ था। विभाजन के ठीक साढ़े सात साल बाद लाहौर से वे मुसलमान, जो अमृतसर छोड़ गए थे, हाकी मैच देखने आने के बहाने अपनी पुरानी स्मृतियाँ ताजा करते है[2]। विभाजन के समय लोग जान बचाकर भागे थे वे अपना सामान असबाब और मकान छोड़ गए थे। पाकिस्तान जाने वाले मुसलमान भी अपने मकान छोडकर जान बचाकर भाग गए थे। जो बचकर चले गए थे उनमे वापस आने का साहस न था। साम्प्रदायिक भावना इतने जोरों पर थी कि मानवता, मित्रता, अड़ोस-पड़ोस सभी को तिलांजलि दे दी गयी थी। हिन्दू ने मुसलमान को और मुसलमान ने हिन्दू को मारा उसे बेइज्जत किया और उसकी संम्पत्ति पर कब्जा कर लिया। मियाँ अब्दुलगनी ऐसा ही मुसलमान है जो विभाजन के पूर्व अपने परिवार के साथ अमृतसर में रहता था। दंगो के कारण विभाजन के पूर्व ही स्वयं तो पाकिस्तान चला गया था किन्तु उसका परिवार वही रहता रहा था। एक दिन पड़ोस के ही रक्खे पहलवान ने उसके लड़के चिरागदीन को नीचे बुलाकर मार दिया। उसकी नीयत गनीमियाँ का मकान हड़पने की थी किन्तु किसी व्यक्ति ने मकान मे आग लगा-दी थी मकान जलकर खाक हो गया था। अब केवल उस मकान का मलवा शेष रह गया था और उस

1. 'हंसा जाई अकेला' की भूमिका से (मार्कण्डेय)।
2. मलबे का मालिक : मोहन राकेश (स्वतन्त्रता के बाद की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ) पृष्ठ 106-सं० विजयचन्द

'मलवे का मालिक' रक्खे पहलवान बन बैठा। 'मलवे का मालिक' की संक्षेप मे यही कहानी है।

विभाजन के समय न जाने ऐसे कितने मलवे के मालिक बने और न जाने कितने अपने पड़ोसियो और दोस्तों के विश्वासघात के शिकार हुए। इस कहानी विशेष का कथानक अपना है किन्तु उसका स्वरूप ऐतिहासिक है। सुनने और पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि इतिहास की बात कही जा रही है। ऐसी घटनाएँ विभाजन के समय घटित हुई हैं अवश्य, इसका साक्षी तो इतिहास है किन्तु गनी मियाँ और रक्खे पहलवान कहानी तक ही सीमित कर दिए गए है।

तलवार पंचहजारी : राजेन्द्र यादव

भारत में मुगल साम्राज्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अकबर सबसे अधिक शक्तिशाली मुगल सम्राट था, उसने सम्पूर्ण भारत मे अपनी धाक जमा रखी थी। राजपूत राजा तक उसकी अधीनता स्वीकार कर चुके थे। मेवाड़ के राणा प्रताप ही केवल ऐसे थे जो मरते दम तक अकबर से लोहा लेते रहे। अकबर को उनका स्वतन्त्र अस्तित्व सदा खटकता था। नतीजा यह होता था कि दोनों के बीच युद्ध होता था और स्वयं राजपूत और ठाकुर लोग राणा के विरुद्ध अकबर की ओर से लड़ते थे। यों अधीनता तो उन्होने अकबर की स्वीकार कर ली थी, बहू बेटी का व्यवहार भी उससे स्वीकार कर लिया था किन्तु वैसे शेखी बघारते, अपने ही भाइयो को सतातें और उनका गला काटते अघाते न थे।

राजेन्द्र यादव की कहानी 'तलवार पंचहजारी' एक ऐसे ही ठाकुर परिवार की कहानी है। कुँवर इन्द्रजीतसिंह उर्फ लालू और राजेन (राजेन्द्र) कहानी के पात्र है।

तलवार पंचहजारी देशद्रोह का पुरस्कार

राजेन जब अपने कालेज में साथ पढ़े मित्र लालू से मिलता है तो लालू उसी अपने परिवार की और अपनी एक दास्तान कहता है और उसी के माध्यम से कहानी में इतिहास अभिव्यक्त होता है। लालू के पुरखे राणा प्रताप के विरुद्ध अकबर की ओर से हल्दी घाटी की लड़ाई में लड़े थे, उसी वीरता के उपलक्ष्य में अकबर ने उसके पूर्वजों को पंच-हजारी का खिताब दिया था और स्वयं अपने हाथ से तलवार दी थी, जिसकी प्रशंसा करते उसके बुजुर्ग थकते नही थे। किन्तु लालू का दृष्टिकोण इसके सर्वथा विपरीत है; वह कहता है, 'आल बकवास ! आल रबिश ! मेरा तो खून सन्ना उठता है। बोलो, यह गद्दारी और जलालत है या वीरता ? बड़े आये पंच हजारी ओहदेदार !'[1]...... 'हमने महाराणा प्रताप के खिलाफ लड़कर यह तलवार पाई थी, जागीर पाई थी अमर-

1. तलवार पंचहजारी : पृष्ठ 150 (संग्रह : स्वतन्त्रता के बाद की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ)

सिंह राठौर को पकड़वाकर उस तलवार की इज्जत रखी और आज ?'[1]......लालू अपने दादा, छोटे दादा और कक्का (पिता) के कारनामे अपने मित्र राजेन्द्र को सुनाता और उनके प्रति घृणा व्यक्त करता है। यों तो गाँव जलाने और लोगों को मारने में उसने स्वयं भी नाम कमाया था; छुरे से हत्या करने में उसे भी कमाल हासिल है किन्तु अपने भाइयों के साथ विश्वासघात करके दुश्मन की मदद करने से उसे घृणा है। उसके पिता (ठाकुर गजराजसिंह) को राय साहब का खिताब इसलिए मिला कि उन्होंने लड़ाई में जबरदस्ती रगरूट भर्ती करने, गल्ला वसूल करने, लड़ाई के लिए जबरदस्ती चन्दा इकट्ठा करने का काम किया।[2] लालू को अपने पिता पर क्रोध आता है क्योंकि उसने उसकी माँ को इसी तलवार से इसलिए कोंच-कोंच कर मार डाला कि उसकी माँ से वह व्यक्ति मिलने आया जो बचपन में उसे पढ़ाता था और लालू के पिता को उसकी माँ पर सन्देह हो गया। इसी सन्दर्भ में जब लालू आगे कहता है, 'जब मीना बाजार में तुम्हारी बहू बेटियाँ दुकानें सजाकर बैठी रहती थी उस वक्त नही पूछा था कि शाहंशाह ने जिसके हाथ में पंचहजारी की मूठ थमा दी है, वह लड़का किसका था।'[3] तब हम देखते हैं कि उसके हर कथन से इतिहास ध्वनित होता है।

जैसा कि प्रारम्भिक पंक्तियों में कहा गया है, राणा प्रताप अकबर से मृत्युपर्यंत लोहा लेते रहे। हल्दी घाटी की लडाई भारत के इतिहास में प्रसिद्ध है। इस लड़ाई में यद्यपि राणा प्रताप के कई हजार योद्धा मारे गए थे तथापि अकबर की सेना को प्रताप ने नाको चने चबवा दिए थे। इस लड़ाई में राणा के विरुद्ध उसके अनेक सगे सम्बन्धी अकबर की ओर से लडे थे और अकबर ने वीरता से लड़ने वालों को पुरस्कार दिया था। पंचहजारी का खिताब और तलवार जो लालू के पुरखों को मिली वह इसी पुरस्कार का प्रतीक है। इसके पीछे उन राजपूत सरदारों और ठाकुरों की देश के प्रति गद्दारी का इतिहास छिपा है जिन्होने भयभीत होकर स्वाभिमानी राणा प्रताप का साथ न देकर शक्तिशाली अकबर का दामन पकड़ा।

लालू के पिता को राय साहब का खिताब मिला था और इसका श्रेय था स्वयं लालू के पिता को उनकी कारगुजारी के लिए। भारत में अंग्रेजी सत्ता थी। जब मित्र राष्ट्रों को जर्मनी और जापान से लड़ना पड़ा तो उस युद्ध के लिए इंग्लैण्ड को धन और सैनिको की आवश्यकता पड़ी। अत: जमींदारों, ठाकुरों और ताल्लुकेदारों की सहायता से, जो कि अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली थे, धन इकट्ठा किया गया, सेना में रंगरूट भर्ती किए गए डंडे के जोर पर; इतिहास इसका साक्षी है। इसके बदले में

1. तलवार पंचहजारी : पृष्ठ 151 (संग्रह : स्वतन्त्रता के बाद की सर्वश्रेष्ठ-कहानियाँ)
2. वही : पृष्ठ 151
3. वही : पृष्ठ 154

अंग्रेज सरकार इन गद्दारों को देती थी रायसाहब, रायबहादुर के खिताब और ग्यारह तोपों की सलामी आदि। एक ओर गाँधी जी के कहने मात्र से भारतीय अपनी पदवियो को अंग्रेज सरकार को लौटा रहे थे और दूसरी ओर ये जमींदार और ताल्लुकेदार ऐसी ही उपाधियाँ और झूठी प्रशंसा पाने के लिए लालायित होकर देश के प्रति विश्वासघात कर रहे थे।

मीना बाजार का भी इतिहास से सम्बन्ध है जिसकी चर्चा लालू अपने मित्र 'राजेन' से करता है। अकबर ने एक मीना बाजार बनवाया था जिसमे औरते ही रहती थी और वह स्वयं अपनी कामुकता की तुष्टि के लिए वेश बदल कर मीना बाजार में जाया करता था, ऐसा इतिहास बोलता है। यो लालू का व्यक्तिगत जीवन कुछ भी रहा हो किन्तु जहाँ तक राष्ट्रीय भावना का प्रश्न है उसमे वह मौजूद है इसी से वह अपने पूर्वजो और उनकी तलवार 'पंचहजारी' के प्रति घृणा व्यक्त करता है और तभी स्वाभाविक रूप से उसकी वाणी के माध्यम से, भिन्न-भिन्न समय का इतिहास अभिव्यक्त होता है। 'तलवार पचहजारी' मे इतिहास की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष रूप में हुई है।

भूदान : मार्कण्डेय

नए कहानीकारों मे मार्कण्डेय का भी महत्वपूर्ण स्थान है। कहानियाँ तो इन्होंने अनेक लिखी है, किन्तु यहाँ उनकी 'भूदान' नामक कहानी को ही विवेचन के लिए चुना गया है। राम जतन किसान है जो अपनी थोड़ी-सी ही सही जमीन पर खेती करके गुजर-बसर करता है। वह जा रहा है अपनी धुन मे और जाते-जाते चेलिक की मर्दानगी को मन ही मन सराह रहा है जिसने साहब के लिए नील की खेती नहीं की, एक साल गया दो गये और तीसरे साल जब साहब ने पीटा तो उसने अपनी बूढी माँ को मार डाला और 'दरखास' दे दी कि साहब ने उसकी माँ का खून कर दिया है। साहब को सजा हुई। गाँव में नील का पौधा तब से नही उगा।[1] यहाँ कहानी का एक भाग समाप्त होता है। नील की खेती का भूदान से कोई सम्बन्ध नही होते हुए भी कहानीकार ने नील की खेती और भूदान की बात इस कौशल से जोड़ी है कि इस असंगति का पता तक नही चलता। रामजतन को ठाकुर ने धमकी दी कि जमीन के मामले में वह रार मोल न ले, मुकदमे में लड़कर परेशान हो जायेगा, इसलिए चुपचाप 'इस्टीपा' दे दे, वह उसे पाँच बीघा भूदान से दिला देगा तो रामजतन अपनी खेत छोड़ देता है, उसे पाँच बीघा जमीन मिल जाती है, वह खुश होता है। किन्तु पिछले महीनों से नहर में फावड़ा चलाते-चलाते उसका शरीर सूख कर काँटा हो गया है। महीने भर से साँस की बीमारी के कारण वह चारपाई मे पड़ा हाँफ रहा है।...

1. भूदान : मार्कण्डेय (स्वतन्त्रता के बाद की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ) पृ० 96-97

भूदान कमेटी के मन्त्री जी ने तो कब का रामजतन को समझा दिया कि ठाकुर के जिस दान से उसे 'भूइ' मिली थी वह केवल पटवारी के कागज पर थी। असल मे तो वह कब की गोमती के पेट मे चली गयी है।[1]

उपर्युक्त घटनाओ से पता चलता है कि भूदान कहानी के कथानक मे एक तो नील की खेती का इतिहास छिपा हुआ है और दूसरा 'भूदान' का इतिहास नील की खेती का सम्बन्ध बिहार प्रान्त से रहा है। कहानी में पात्रों की भाषा बिहारी भाषा से मिलती-जुलती है और गोमती की चर्चा से भी यह सिद्ध है कि कहानीकार बिहार मे होने वाली खेती की ही बात कह रहा है। गोमती नदी उत्तर प्रदेश और विहार की सीमा पर है। बिहार मे गोरे लोगो ने 'तीन कठिया' नाम की प्रथा को जन्म दिया जिसके अनुसार भूमि के 3/20 भाग पर किसानो द्वारा नील की खेती करना अनिवार्य था। उनकी शिकायत थी कि उन्हे नील की खेती मे कोई लाभ नही होता। सन् 1917 मे गांधी जी दफा 144 का उल्लंघन करके भी किसानों की दशा देखने गये और अन्त में उनके प्रयासो के फल-स्वरूप नील की खेती करना या तीन कठिया लेना बन्द कर दिया गया।[2] यह तो हुआ नील की खेती का इतिहास। अब बारी आती है 'भूदान' की।

भूदान में नील की खेती का इतिहास

कहानी को दृष्टिगत करने से पता चलता है कि 'भूदान' ही कहानीकार का प्रमुख आकर्षण रहा है। यह एक अलग बात है कि मार्कण्डेय की 'भूदान' के प्रति अच्छी धारणा नही है। उन्होने उसे निर्धन एवं भोले किसानो के लिए 'सारहीन' सिद्ध किया है। इससे किसानों को लाभ नही उल्टे हानि ही हुई है। विनोबा जी के भूदान आन्दोलन पर यह करारा व्यंग है।

कहानी में भूदान आन्दोलन का इतिहास

अप्रैल सन् 1951 मे अपनी दक्षिण की पद यात्रा के दौरान विनोबा जी ने यह भूदान नाम की चीज ईजाद की। एक किसान द्वारा स्वावलम्बी जीवन बिताने के लिए भूमि प्राप्ति के लिए प्रार्थना करने पर किसी सज्जन ने विनोबा जी की उपस्थिति में 100 एकड़ भूमि दान कर दी। विनोबा जी ने यह कल्पना कर ली कि लोगों में अपने दूसरे भाइयो के प्रति दया और सहयोग की भावना है और उन्होने भूदान आन्दोलन का प्रारम्भ किया। फिर 'ग्राम दान' का सिलसिला भी चलाया। विनोबा जी यह भूल गये कि सहयोग और दया की यह भावना विरलो मे ही होती है। मार्कण्डेय उनकी इस धारणा से सहमत नही है। उनके विचार में तो भोले किसान घाटे में ही रहते है अन्यथा रामजतन क्यों अपना खेत छोड़कर नहर की पथरीली भूमि के फेर में पड़ता

---

1. भूदान : मार्कण्डेय (स्वतन्त्रता के बाद की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ) पृष्ठ 104-105
2. कांग्रेस का इतिहास : (डॉ० पट्टाभि सीतारमैया), पृष्ठ 113-114

और अन्ततोगत्वा अपने जीवन को भी सकट मे डालता। मार्कण्डेय की ही नहीं सम्भवतः अन्य लोगो की भी यही धारणा हो कौन जाने। मुझे याद है मैंने कृष्णचन्दर की एक कहानी पढी थी 'ग्रामदान'। इसका कथानक कुछ इस प्रकार का था कि पहले एक जमीदार (शायद जमीदार ही रहा होगा) किसानो के लिए पथरीली भूमि बिनोबा जी को दान कर देता है और जब वह किसान जिनके नाम उसकी उस भूमि का पट्टा लिख जाता है, परिश्रम से उस पर खेती लहलहा देता है तो वही जमीदार जिसने जमीन दान की थी किसी बहाने से उक्त किसान की झोपड़ी में आग लगा देता है और भूमि उससे छिन जाती है। इसी से कुछ ऐसा लगता है कि भूदान और ग्राम दान केवल सोचने-विचारने और सिद्धान्त तक ही सीमित है उन्हें व्यवहार मे लाकर सही उद्देश्य की प्राप्ति कर सकना असम्भव नही को कठिन अवश्य है।

आज कहानी के सम्बन्ध मे अनेक तरह से विचार व्यक्त किये जाते हैं जैसे—स्वातन्त्र्योतर कहानी के यथार्थ बोध पर पृथक् रूप से विचार करने से ज्ञात होता है कि इस बीच कहानीकार अपने परिवेश की समस्याओं के प्रति जागरूक है······ तथा आज के कहानीकार का यथार्थ बोध सभ्यता के खोखलेपन को समूचे प्रभाव के साथ व्यक्त कर देता है और मानवीय सम्बन्धो को झुठलाने वाली सभ्यता पर गहरा व्यंग करता है।[1]····· कहने का अर्थ यह है कि आज की नई कहानी के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। ऊपर जो बात कही गयी है उसमे भी सत्यता की झलक मिलती है। परन्तु वह एक अलग चर्चा का विषय है। यहाँ हमारा सम्बन्ध इतिहास से है और इस सम्बन्ध में हमें केवल इतना ही कहना है कि कहानी कल की हो या आज की उसमें इतिहास की अभिव्यक्ति पर, फिर चाहे मन्द अभिव्यक्ति ही क्यो न हो रोक न तो रही है न रहेगी। यह बात उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध हो गयी है।

☐☐☐

---

1. हिन्दी कहानी की रचना प्रक्रिया : परमानन्द श्रीवास्तव (पृष्ठ 273-274)

सातवाँ अध्याय

उपसंहार

अब हमारी अनुसन्धान यात्रा समाप्ति पर आ रही है। अतः ठहर कर हम अपनी उपलब्धियों पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना चाहते हैं। साधारणतः दो शब्दों का बहुत प्रयोग किया जाता है—फेक्ट और फिक्शन, यथार्थ और कल्पना। यथार्थ के स्थान पर हमने इतिहास को रखा है और कल्पना के स्थान पर उपन्यास को। डॉ० देवराज उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' में हिन्दी उपन्यासों का पर्यवेक्षण करते हुए बहुत ही मनोरंजक और विचारोत्तेजक बातें कहीं हैं। उन्होंने इस ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया है कि आज हम 'फेक्ट' और 'फिक्शन' को दो विपरीत श्रेणियों की वस्तु समझते हैं परन्तु इन दोनों का पार्थक्य बहुत हाल की उपज है।[1] बहुत प्राचीन काल में लोगों में फेक्ट और फिक्शन में अलग करने वाले दृष्टिकोण का विकास नहीं हुआ था। फेक्ट और फिक्शन में वे लोग भेद नहीं कर सकते थे। इस युग में परियों की कथाओं, दन्त कथाओं, लोक कथाओं, इत्यादि का निर्माण हुआ। इनमें झूठ और सच, कल्पना और यथार्थ में अन्तर करना कठिन है। परन्तु बाद में यह प्रवृत्ति बदली और कथाकारों ने यह सोचा कि कल्पना का इतना बड़ा नेवला, प्रगतिशील और जागरूक पाठकों के गले के नीचे उतरना कठिन है। इसलिए उन्होंने लिखी तो काल्पनिक कथाएँ परन्तु बहाना यही किया कि ये काल्पनिक कथाएँ नहीं हैं कहीं से अकस्मात प्राप्त हो जाने वाली डायरी या किसी दस्तावेज को यत्र तत्र सम्पादित और संशोधित करके प्रकाशित किया जा रहा है। डीफो (Defoe) अंग्रेजी उपन्यास के जनक कहे जाते हैं। उनके सारे उपन्यास इसी पद्धति पर लिखे गये हैं। हिन्दी में जैनेन्द्र का त्यागपत्र और द्विवेदी जी की बाणभट्ट की आत्मकथा ऐसे उदाहरण हैं। परन्तु अब परिस्थिति यह है कि उपन्यासकार लिखते तो कोई वास्तविक कथा, कोई फेक्ट ही हैं परन्तु कहते यह हैं कि यह फेक्ट नहीं है, फिक्शन है। यथार्थ नहीं है कल्पना है। उदाहरण के लिए

'फेक्ट' और 'फिक्शन' अर्थात् यथार्थ और कल्पना

---

1. हिन्दी साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन : डॉ० देवराज उपाध्याय : पृ० 154

उपन्यासकार गुरुदत्त के 'स्वाधीनता के पथ पर' उपन्यास को लिया जा सकता है जिसके प्राक्कथन में गुरुदत्त कल्पित होने की बात कहकर भी यथार्थ को स्थान देते है या कहिये कि यथार्थ को स्थान देकर भी कल्पना का भ्रम पैदा करने का प्रयास करते हैं। आजकल के उपन्यासों में उपन्यासकार की ओर से यह कहा जाता है कि यदि इसमें की घटनाओं से किसी वास्तविक मनुष्य के जीवन की घटनाओ से साम्य पाया जाये तो इसे सयोग की बात ही समझनी चाहिए।

तात्पर्य यह है कि, अब के उपन्यासों में प्राचीन युग के उपन्यासो से यथार्थता, जिसे हमने इतिहास का स्थानापन्न माना है का प्रतिबिम्ब अधिक पाया जाता है।

हिन्दी उपन्यास : कल्पना से यथार्थ की ओर

पाठक अब अधिक बौद्धिक हो गया है वह अब कल्पना के भुलावे में आने के लिए तैयार नही है। लेखक भी अब अधिक बुद्धिजीवी हो गये हैं। अतः अब हम उपन्यासों में उस युग की विचारधाराओं की, उसके इतिहास की झलक अधिक पायेगे। पुराणों तथा कथा सरित्सागर, वैताल पच्चीसी, सिंहासन-बत्तीसी, रानी केतकी की कहानी इत्यादि कथाओ से पाठक के सम्मुख तत्कालीन युग के इतिहास की कोई रूपरेखा अंकित नहीं हो सकती। ऐसा लगता है कि युग से उसका कोई सम्बन्ध ही नही है। यह बात दूसरी है कि हम बहुत से क्षीण सूत्रों के द्वारा उसमें युग की थोड़ी बहुत झलक पा जाएँ। परन्तु इसके लिए उस रचना से कोई भी सक्रिय सहायता नही मिलती। पाठक की बुद्धि जो कुछ सहायता अपने-आप करले और इतिहास को ढूँढ़ले परन्तु अब के उपन्यास में इतिहास बहुत ही शक्तिशाली रूप में प्रवेश कर गया है। बल्कि अब तो ऐसे उपन्यास लिखे जा रहे हैं जो कहने को तो उपन्यास हैं परन्तु वास्तविकता यह है कि वे उपन्यास से अधिक इतिहास हैं। कांग्रेस के द्वारा छेड़े गये भारतीय स्वातन्त्र्य सग्राम के ब्यौरेवार इतिहास को यदि आप देखना चाहते हैं तो इसके लिए सेठ गोविन्ददास के उपन्यास 'इन्दुमती' से अन्यत्र जाने की आपको कोई जरूरत नही। ऊपर में कह ही आया हूँ कि भारत छोड़ो आन्दोलन (Quit India Movement) का जितना सजीव और साथ ही चित्रमय वर्णन, प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'बयालिस' में हुआ है वह किसी दूसरे माध्यम से नही उपलब्ध हो सकता।

भारत का विभाजन हमारे देखते-देखते हुआ है। इसकी प्राकृतिक कहानी निसर्ग की ओर से हमारी आँखों के सामने लिखी गयी है। लेकिन फिर भी यशपाल के 'झूठा सच' उपन्यास को पढ़कर उसका इतिहास इतना स्पष्ट होता है जितना उसको प्रत्यक्ष देखकर भी नही हो सकता। डॉ० देवराज उपाध्याय ने इस बात को स्वीकार किया है कि 'झूठा सच' को पढ़कर उन्होंने भारत विभाजन के उन अनेक पहलुओं को

जाना जिन्हें वे व्यक्तिगत रूप से या समाचार पत्रो के माध्यम से जान नही सके थे हालाकि अखबारों में विभाजन से उत्पन्न घटनाओ के वे नियमित पाठक थे ।[1]

इस तरह हम देखते है कि (भारतीय इतिहास की महत्वपूर्ण घटनाओ की तो बात ही क्या है।) प्रेमचन्द के पूरे उपन्यास साहित्य मे तत्कालीन युग का सघर्ष, इतिहास, आन्दोलन, मतवाद समस्याएँ, सामाजिक परिस्थितियाँ सब अपनी बुलन्द आवाज से बोल रही हैं। ये सब बड़ी-बड़ी घटनाएँ यदि उपन्यास में स्थान पाती है तब तो यह स्वाभाविक ही है परन्तु हम यह देखते है कि छोटी-छोटी घटनाएँ भी जिनको पहले का साहित्यकार एकदम नगण्य समझता, उसका ध्यान ही उसकी ओर नही जाता, वे भी अब उपन्यासो में स्थान पाने लगी है। गत पंक्तियो मे अमृतराय के 'बीज' उपन्यास मे हमने देखा है कि आजाद हिन्द फौज जो भारत के इतिहास में अपनी सक्रियता कुछ ही महीनों तक दिखला सकी, उसको भी उपन्यास मे आदरणीय स्थान दिया गया है। 'बगभंग' आन्दोलन, अछूतोद्धार आन्दोलन, 'साइमन कमीशन' सत्याग्रह आन्दोलन, आदि ऐतिहासिक घटनाओ ने उपन्यासकार को अपार सामग्री प्रदान की है।

यथार्थता के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण का प्रभाव है कि प्राचीन काल में ऐतिहासिक उपन्यास के नाम पर कोई भी महत्वपूर्ण कथा नही पायी जाती। हाँ, महाकाव्य और कुछ नाटक पाए जाते है परन्तु उनमें भी काल्पनिकता ही प्रधान है, भले ही उनके लिए प्रख्यातता का नाम ले लिया जाता हो। सही बात तो यह है कि 17वी शताब्दी के पहले अंग्रेजी साहित्य में भी शेक्सपीयर, स्पेंसर, मार्लो, मिल्टन इत्यादि जितने भी साहित्यकार हुए किसी ने मौलिक कथा कहने का दुस्साहस नही किया। उपन्यास की एक विशेषता यह भी है कि उसकी कथा काल्पनिक होनी चाहिए, लेखक के मस्तिष्क की उपज होनी चाहिए। यह कार्य पहले पहल अंग्रेजी साहित्य में 'डीफो' ने किया। इसीलिए उसे वहाँ पर उपन्यास के जनक होने का आदर दिया जाता है और हिन्दी में यह कार्य लाला श्रीनिवासदास ने 'परीक्षा गुरु' को लिखकर सम्पादित किया। यह परमुखापेक्षिता 'उपन्यास' नामक साहित्य-विधा की सबसे बड़ी शत्रु है। यह परमुखा-पेक्षिता जब दूर हुई तब उपन्यास का जन्म हुआ।

उपन्यास स्वतन्त्र साहित्य है। वह अपने अस्तित्व के लिए दूसरी किसी चीज का मुख नही जोहता और यदि वह किसी दूसरे साधनों से कुछ सामग्री लेता भी है तो उसे पूर्ण रूप से अपना बना लेता है और अनुरूप ढाल कर अपना वशवर्ती बनाकर उनसे काम लेता है। पहले के उपन्यासकार जब उपन्यासों में इतिहास

1. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन : 'झूठा सच का मनोविज्ञान' शीर्षक से (डॉ॰ देवराज उपाध्याय) पृष्ठ 16 : सस्करण 1964

उपन्यासों में इतिहास : अभि-व्यक्ति का स्वरूप

को स्थान देते थे तो इतिहास की स्थूलता खटकने वाली बात थी। जो व्यक्ति राम की, दुष्यन्त की और शकुन्तला की ऐतिहासिकता से परिचित नही था उसके लिए उन रचनाओ से पूरा आनन्द उठाना कठिन था। मतलब यह कि इतिहास उस पर एक तरह से हावी रहता था, इतिहास और कल्पना में नीर-क्षीर सयोग नही था। हाँ नदी नाव संयोग या जल तेल सयोग कह सकते है। पर अब तो यह कला इतनी विकसित हो गयी है कि इतिहास और कल्पना को अलग-अलग करके देखना कठिन है, बल्कि कहना तो यही चाहिए कि कल्पना का ही स्थूल रूप दिखलायी पड़ता है और जो कुछ यथार्थ या इतिहास पाठकों को प्राप्त होता है वह ध्वनित रूप मे, और यही कारण है कि वह इतिहास अपने वास्तविक इतिहास से भी अधिक प्रभावोत्पादक और सच्चा होता है। हमने विगत पृष्ठों में कांग्रेस की या देश की ऐतिहासिक गतिविधियो का किञ्चित विस्तृत विवरण भी उपस्थित किया है। साथ ही प्रेमचन्द के 'रंगभूमि' और 'कर्म भूमि' इन दोनों उपन्यासो में, कल्पना के ताने-बाने में जिस सूक्ष्मता से इतिहास को पिरोकर उपस्थित किया गया है, उसकी भी चर्चा हमने की है। इन दोनो के तुलनात्मक अध्ययन करने से पता चल जाता है कि प्रेमचन्द के उपन्यास है तो उनकी कल्पना की ही उपज परन्तु वे इतिहास से भी उच्चतर और भव्यतर इतिहास बन गए हैं और भिन्न-भिन्न रूप में इतिहास अपने स्वरूप को प्रकट करता हुआ-सा दिखलायी पड़ता है। ऐसा लगता है कि इतिहास की भिन्न-भिन्न सामग्री जो लोहे की छोटी-छोटी टुकड़ियों की तरह अलग-अलग-सी पडी थी, वे उपन्यासकार की प्रतिभा की चुम्बक शक्ति के प्रभाव में आकर एक व्यवस्थित रूप धारण कर बैठी हैं। है तो ये उपन्यास परन्तु काम ऐसा कर रहे है, जो 'इतिहास' भी नही करता। ये इतिहास से भी अधिक सच्चा इतिहास देते हैं। केशव ने कहा था कि गोदावरी है तो विषमय परन्तु फल देती है अमृत का। यदि कवि के शब्दो पर ध्यान दे तो इन उपन्यासो के सम्बन्ध मे, जिनकी चर्चा हमने विगत पृष्ठो में की है, यही कहना पड़ेगा कि यथार्थता का विष, जो कड़वा होता है, मृत्यु का कारण होता है, वह उपन्यास मे आकर मीठा अमृत बन गया है और संजीवनी बूटी का काम करता है।

हिन्दी उपन्यासो को तीन युग मे विभक्त किया जाता रहा है। भारतेन्दु युग (प्रारम्भिक काल), (2) प्रेमचन्द युग (विकासकाल) और प्रेमचन्दोत्तर युग जिसे प्रौढता का काल कह सकते है। प्रथम युग में उपन्यास बहुत से लिखे गये

हिन्दी उपन्यास : विभिन्न युगों में स्थिति

परन्तु ऐतिहासिक उपन्यासो की सख्या बहुत ही कम थी। बहुत खोज ढूढ़ करने पर 'लाल चीन' तथा किशोरी लाल गोस्वामी के कुछ उपन्यास मिल जाएँगे, जिनमें नाममात्र की ऐतिहासिकता है, जिसे

चाहें तो मिथ्या इतिहास (Pseudo history) कह सकते हैं। हाँ, मनोरंजक तथा उपदेशप्रद उपन्यास बहुत लिखे गये। देवकीनन्दन खत्री के ऐयारी और तिलस्मी, मनोरंजन प्रधान उपन्यासों मे तो ऐतिहासिकता ढूँढना ही व्यर्थ है। हाँ! उपदेशप्रद जो उपन्यास है उसमें प्रकारान्तर से उस समय के युवकों की प्रवृत्तियो तथा विदेशी संस्कृति के प्रभाव की थोड़ी बहुत झलक मिल जाएगी। तारीफ यह है कि कविता में तो युग का प्रतिबिम्ब मिलने लगा था (भारतेन्दु युग की कविताएँ इसके उदाहरण है) परन्तु उपन्यासो मे यह बात देखने को नही मिलती। हालांकि बात होनी चाहिए थी इसके विपरीत। युग की भावनाओं का प्रतिबिम्ब करना कविता के लिए कोई अनिवार्य काम नहीं है। हमारी चेतना ने स्वीकार कर लिया है और अब भी करती है कि कविता की दुनिया निराली है, उस दुनिया की पवित्रता और कोमलता को इस दुनिया की मलिनता स्पर्श करे यह कोई आवश्यक नही परन्तु उपन्यास तो इसी दुनिया की उपज समझा जाता है। इसमें तो इस दुनिया की धूल-मिट्टी का रहना नितान्त आवश्यक है। परन्तु उस युग के उपन्यास दूसरी ही बात कहते हैं। प्रेमचन्द के आगमन के बाद उपन्यासों में ऐतिहासिकता ने साधिकार प्रवेश किया है और हिन्दी उपन्यास कला का सौभाग्य था कि उसे एक ऐसी प्रतिभा का नेतृत्व मिला जो इस इतिहास को बड़े ही मजे से कलात्मक ढंग से हमारे सम्मुख रखने मे समर्थ हुई है।

इतिहास के कथा साहित्य में प्रवेश करने से औपन्यासिक कला पर अनेक तरह के प्रभाव पड़े। ये प्रभाव अच्छे भी थे और बुरे भी थे। इसकी अच्छाई का कारण तो स्पष्ट ही है कि जीवन का एक बहुत बड़ा व्यापक क्षेत्र जो अब तक कथा साहित्य से निरादरित था उसे भावात्मक पोषण मिलने लगा। वास्तव मे देखा जाए तो यह आधुनिक युग के प्रगतिशील दृष्टिकोण का ही प्रभाव कहा जा सकता है। विज्ञान की मुख्य विशेषता यह है कि यह अतीन्द्रिय तथा काल्पनिक बातो को उतना महत्व नहीं देता, उसके लिए ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष और प्रयोगशाला के प्रयोग ही सब कुछ है। इतिहास भी प्रकारान्तर से साहित्य के क्षेत्र का ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष ही है और जिस तरह वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में अनेक तरह के प्रयोग किए जाते हैं उसी तरह से ऐतिहासिक घटनाएँ भी प्रयोग ही हैं। ऐसा लगता है कि उपन्यास कला ने ऐतिहासिक उपन्यासों के द्वारा अथवा अपने यहाँ ऐतिहासिक तथ्यों को अधिक से अधिक स्थान देने की चेष्टा के द्वारा विज्ञान से समझौता किया है। विज्ञान कुछ साहित्य की ओर बढ़ा है और साहित्य ने कुछ विज्ञान की ओर हाथ बढ़ाया है और इसी बिन्दु पर इन उपन्यासों की सृष्टि हुई है जिनकी चर्चा विगत पृष्ठों में की गई है।

उपन्यास कला और इतिहास

जिन उपन्यासों की चर्चा की गई है उनके देखने से ऐसा लगता है कि उपन्यास

कला ने इतिहास के साथ समझौता तो किया है, उसे कुछ सुविधाएँ भी प्रदान की हैं परन्तु आत्मसमर्पण कभी नहीं किया है और जिस अंश में आत्मसमर्पण करने की चेष्टा हुई है और कला की माँग से सस्ते छूटने की पलायनवादिता हुई, जहाँ उपन्यासकार आत्मदान करने में चूक गया है वही कला का ह्रास भी हुआ है। डॉ० रांगेयराघव का 'विषादमठ', अमृतलाल नागर का 'महाकाल' जैसे उपन्यास हमारी बात के प्रमाण है, जिनमें एक तरह की रूक्षता और नीरसता आ गई है, भले ही उनसे हमारे ज्ञान की वृद्धि हुई हो। यह नहीं कहा जा सकता कि इन लोगो ने कल्पना से लाभ नही लिया है। नही, उनकी कल्पना तो पूर्ण रूप से सक्रिय हैं किन्तु वह उसी सीध की ओर अग्रसर हुयी है जिधर ऐतिहासिक घटनाएँ उनको प्रेरित कर रही हैं। ऐसा नही है कि उनकी कल्पना इतिहास की बतायी हुई लीक को छोड़ कर इधर-उधर मुड़े और फिर आकर इतिहास की लीक को पकड़ ले। दूसरे शब्दों मे उनकी कल्पना समानान्तर (Horizontal) है तो इतिहास के साथ-साथ चलती है लम्बरूप (Vertical) नही जो जरा इतिहास की सतह के नीचे डुबकी लगाकर कुछ चिन्तन मनन आत्म-मन्थन तथा तत्व चिन्तन में परिवर्तित हो।

यही उपन्यास में इतिहास के आगमन का दुर्बल पक्ष भी है। एक बार इतिहास ने एच० जी० वेल्स और वर्नार्ड शा के साहित्य पर भी छा जाने की कोशिश की थी और वह सफल भी हो सका। कहना नही होगा कि इस इतिहास के कारण वेल्स और शा को तत्कालीन युग में बहुत प्रसिद्धि मिली पर इसका परिणाम यह हुआ कि अभी उन लोगों को मरे हुए बहुत दिन नहीं हुए है किन्तु उनके साहित्य पर से तत्कालीन इतिहास का मुलम्मा झड़ते ही लोग उन्हें भूलने लगे हैं। दूसरी ओर शेक्सपीयर मिल्टन और जेनआस्टिन, डी० एच० लारेन्स जैसे साहित्यिकों का आदर बढ़ता जा रहा है, भले ही उनके जीवन काल में उनकी उतनी प्रतिष्टा नही हुई हो। संस्कृत में एक श्लोक है जिसका अर्थ होता है—कि खलों की मैत्री आरम्भ में तो प्रगाढ़ होती है परन्तु धीरे-धीरे क्षीण होती जाती है परन्तु सज्जनो की मैत्री प्रारम्भ में भले ही लघ्वी हो, छोटी हो किन्तु बाद मे, उत्तरोत्तर वृद्धिमती होती जाती है। उपन्यास और इतिहास की मैत्री का स्वरूप इस तरह से संगठित होना चाहिए कि वह खल मैत्री न होकर सज्जन मैत्री बने तभी जाकर उपन्यास कला की वृद्धि हो सकती है।

यदि ऐतिहासिक घटनाओ के प्रति वफादारी के कारण बहुत से उपन्यासों की कथात्मकता में ह्रास आया हो तो यह कोई आश्चर्य की बात नही। परन्तु आश्चर्य तब होता है जब हम देखते हैं कि हमारे ऐतिहासिक उपन्यासकारों अथवा इतिहास-बद्ध उपन्यासकारों ने सारे प्रतिबन्धों के रहते हुए भी अपनी कल्पना के लिए मार्ग ढूँढ़ ही निकाला है और वह कल्पना भी ऐसी, जो इतिहास सम्मत कल्पना हो, ऐति-

हासिक कल्पना हो ऐसी कल्पना हो जिसका विरोध हमारी ऐतिहासिक बुद्धि करने में हिचकिचाए । एक उदाहरण से हमारी बात स्पष्ट होगी । मैंने विगत पृष्ठों में से सेठगोविन्द दास की रचना 'इन्दुमती' का ऐतिहासिक दृष्टि से किंचित विस्तार से विवेचन दिया है पर वहाँ पर मैं एक बात का उल्लेख करना भूल गया हूँ । वह यह है कि सेठ गोविन्ददास लिख तो रहे है उपन्यास अथवा उपन्यास के बहाने भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम का इतिहास परन्तु किस अज्ञात रहस्यमयी प्रेरणा से उनकी कला, 'टेस्ट ट्यूब बेबी' की वात करने लगती है । टेस्ट ट्यूब से उत्पन्न होने वाले एकाध बच्चो की बात सुनने में तो आती है परन्तु वैसे वच्चो की जीवनी का ज्ञान अभी इतिहास को बहुत कम है । लेकिन सेठ जी की कल्पना इतिहास को झाड़ झपेड़ कर टेस्ट ट्यूब से उत्पन्न एक व्यक्ति को उपन्यास के प्रमुख पात्र का स्थान दे देती है और वह पात्र बड़े-बड़े राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कार्यो में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है । यह सेठ जी की कल्पना का चमत्कार है कि वे इतिहास से भी दो कदम आगे बढ़ गए हैं, यद्यपि वह रास्ता इतिहास का ही दिखलाया हुआ है । कहना नहीं होगा कि इस बात की योजना से उनके उपन्यास में एक विचित्र चमत्कारपूर्ण प्रसाधन का समावेश हो गया है । कुछ-कुछ पाठक को वैसा ही आनन्द आने लगता है जो आनन्द देवकीनन्दन खत्री के तिलस्मी और ऐयारी के बटुवे तथा लखलखे को पढ़कर होता है । सेठ जी के लिए तो आप यह कह सकते हैं कि वे एक काल्पनिक उपन्यास लिख रहे थे इसलिए उनकी कल्पना को उन्मुक्त मार्ग अपनाने के लिए काफी अवसर था परन्तु प्रतापनारायण श्रीवास्तव तो 'बेकसी के मजार' के रूप मे 'ऐतिहासिक उपन्यास' लिख रहे थे न । उसमें उनकी कल्पना के घर बँधे हुए थे, इतिहास की सीमा उस ·पर थी और उन्होने बहुत प्रशंसनीय ढंग से इतिहास की रक्षा भी की है, ऐसी घटनाओं का पूरी सचाई से वर्णन किया है और यदि क्रान्ति का प्रयास असफल हुआ तो उसके कारण भी इस उपन्यास में स्पष्ट दिखलायी पड़ते हैं परन्तु फिर भी यहाँ पर श्रीवास्तव जी की कल्पना ने सेक्स के परिवर्तन की बात कही है । आज के अखबारो में ऐसी घटनाएँ पढ़ते तो है, कभी-कभी । 'लड़का-लड़की बना' आदि शीर्षको के अन्तर्गत अखबारों में ऐसे समाचार छपते हैं जिसमें किसी व्यक्ति के सेक्स के परिवर्तन की बात कही जाती है, कभी-कभी तो चीरफाड़ के द्वारा और कभी-कभी नैसर्गित प्रक्रिया के द्वारा। पहले की कथाओं में यह बात तो सुनी जाती थी कि कोई प्रेमी अपने सेक्स को छिपाकर अपनी प्रेमिका का सान्निध्य प्राप्त करता है, प्राचीन कथा साहित्य इस ·तरह के उदाहरणों से भरा पडा है । आचार्य चतुरसेन शास्त्री की कहानी 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' ऐसे उदाहरण के रूप में देखी जा सकती है । रोमांसों में तो यह एक तरह से 'मोटिव' सा-ही बन गया था परन्तु उपन्यासों में और विशेषतः ऐतिहासिक जैसे यथार्थवादी

उपन्यासों में इस तरह की कल्पना को अवसर देना सचमुच बहुत बड़े साहस का काम था और श्रीवास्तव जी ने इसी साहस से काम लिया है। श्रीवास्तव जी के दूसरे उपन्यास 'बयालिस' की भी गत पृष्ठो में चर्चा हुई है। उस उपन्यास मे भी उनकी कल्पना सक्रिय तो है ही परन्तु तत्कालीन इतिहास उन पर इस तरह हावी हुआ है कि उनकी कल्पना इस तरह की उड़ान ले ही नही पाती। तत्कालीनो मे तो यही बड़ी बुराई है कि वे इस तरह तात्कालिक होती हैं कि काल्पनिकता को पनपने का अवसर ही नहीं देतीं। इस दृष्टि से ऐतिहासिक उपन्यास ही अच्छे हैं क्योंकि इतिहास के अन्धकार के कारण कुछ अंश धुँधले से पड जाते हैं अतः कल्पना की किरणों को अपनी सक्रियता का परिचय देने का अवसर रहता है। इसीलिए हम देखते हैं कि 'माधव जी सिंधिया' जैसे इतिहास-भारावनत उपन्यासों में भी कुछ न कुछ ऐसे काल्पनिक स्थल देख ही जाते हैं जिसे पढ़कर चमत्कार प्रतीत होता है और उस चमत्कार से उपन्यास के रसास्वादन में वृद्धि होती है।

हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों या इतिहास प्रधान उपन्यासो के पढ़ने से हमारी यह भी धारणा बनती है कि इन उपन्यासों में लेखक को नए-नए प्रयोग करने का कम अवसर मिला है। चतुरसेन शास्त्री के जितने ऐतिहासिक उपन्यास है, प्रेमचन्द तथा उनके (स्कूल) के जितने भी इतिहास प्रभावित उपन्यास हैं सभी में वही सर्व-समर्थ शैली का प्रयोग किया गया है जिसमें लेखक भगवान के स्थानापन्न होकर अपनी ही कथा कहता है। डॉक्टर देवराज उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'कथा के तत्व' में सर्व-समर्थ शैली में जितने गुण और दोषों का उल्लेख किया है वे सब गुण-दोष इन उपन्यासों में मिल जायँगे। ये उपन्यास बृहदकाय हो गये हैं, पात्रों की संख्या बहुत बढ़ गयी है, कथानक जटिल हो गया है, पात्र जरूरत से अधिक वहिर्मुखी और विश्व के बाह्य रंगमंच पर प्रकाण्ड ताण्डव करते से दिखलाई पड़ते हैं। उनके पास मस्तिष्क भी है, वे सोचते भी हैं, इस बात का पता नहीं चलता। मेरा अपना मत है कि टेकनीक (Technique) की नूतनता अज्ञेय, जैनेन्द्र के उपन्यासों में मिलता है क्योंकि ऐतिहासिक या तत्कालीन युग की वफादारी की ओर उनका ध्यान नही है। यदि 'गोदान' को जिस ऐतिहासिक ढंग से लिखा गया है उस ढंग से न लिखा जाकर दूसरे ढग से लिखा जाता जिसकी कल्पना कुछ आलोचकों ने की है तो जरूर उसमें इतिहासात्मकता का रंग धुल-पुँछ गया होता। मेरी कल्पना है कि आगे के ऐतिहासिक उपन्यासकार या इतिहास प्रभावित उपन्यासकार अधिक से अधिक नए टेकनीक को अपने यहाँ स्थान देंगे और तब इतिहास का तात्कालिकता और कला तथा उपन्यास का प्रतिभा के संयोग से अधिक कलात्मक उपन्यास लिखे जायेंगे। आंचलिक उपन्यास किसी जाति को आधार बनाकर लिखे गये उपन्यास, आनुवंशिक उपन्यास इत्यादि इसी ओर सकेत कर रहे है।

अध्ययन की दृष्टि से, उपन्यासों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है। ऐतिहासिक-उपन्यास, इतिहास-प्रभावित उपन्यास, इतिहास-मुक्त उपन्यास। हिन्दी कथा साहित्य की अभिवृद्धि में इन तीनों प्रकार के उपन्यासों ने अपना-अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है जिन उपन्यासों में इतिहास को ही प्रमुखता दी गयी है उनके पक्ष में भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि उन्होंने उन घटनाओं को जिनका इतिहास की वस्तु होते हुए भी हमारे हृदय के राग से सम्बन्ध नही था उनको भी हमारे हृदय खंड से सम्बद्ध करने की चेष्टा की है। कुछ सफल भी हुए है और कुछ को पूर्ण रूप से सफलता नही भी मिली है। ऐतिहासिक उपन्यासों के पढ़ने से कुछ ऐसा लगता है कि ऐतिहासिक घटनाओं को कलात्मक रूप देने मे उपन्यासकारों को बड़ा परिश्रम करना पड़ा है और अब यह देखते हैं कि जब प्रयत्न करने पर भी सीधे ढंग से वे घटनाएँ कला के अंकुश के अन्दर नही आती तो उपन्यासकार घबराकर उन हथकण्डों से काम लेने लगता है जो आधुनिक उपन्यास की कोर के अनुसार वर्जित है।

ऐतिहासिक, इतिहास प्रधान और इतिहास-मुक्त उपन्यास : कलात्मकता

लड़ते झगड़ते हम लोग इस निर्णय पर पहुँच गए हैं कि उपन्यासकार को रोमांस, तिलस्म की सामग्री से काम नहीं लेना चाहिए, लेकिन फिर भी हम देखते है ऐतिहासिक उपन्यासकार इस तरह की सामग्री का सहारा लेने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इसका कारण है ऐतिहासिक घटनाओं का काठिन्य है जो यथार्थ की स्वाभाविक आंच से गल नही पाता इसलिए रोमांस की तीव्र लौ से उन्हें पिघलाने का अस्वाभाविक प्रयत्न करना पड़ता है। उदाहरणार्थ हम 'बेकसी का मजार' उपन्यास को देख सकते हैं। यह निश्चित रूप से ऐतिहासिक उपन्यास है परन्तु फिर भी इसमें रोमांस के तत्वों का सहारा लिया गया है जिसका उल्लेख उपन्यास पर विचार करते समय किया गया है। यह एक तरह से ऐतिहासिक घटनाओं की शिथिलता के प्रति औपन्यासिक कला की पराजय की स्वीकृति मानी जा सकती है।

परन्तु जिस उपन्यासकार ने ऐतिहासिकता को प्रधानता देकर कल्पना का कम सहारा लिया है और सामाजिकता से मुक्त हो सका है उसने कला की अधिक सेवा की है। ऊपर हमने प्रेमचन्द को ऐतिहासिक उपन्यासकार तो नहीं परन्तु इतिहास प्रभावित उपन्यासकार अवश्य कहा है और यह सत्य है कि इतिहास के प्रभाव के कारण उनके उपन्यासों में कलात्मक दृष्टि से बाधा उत्पन्न हुई है। उनकी कहानियों को देखें तो पायेंगे कि कला का स्वरूप उन्ही कहानियों में प्रस्फुटित रूप से प्रकट हुआ है जो कहानियाँ सामाजिकता से अपने को मुक्त कर सकी हैं जैसे, 'कामना तरु' और 'मनोवृत्ति'। इसके विरुद्ध जैनेन्द्र और अज्ञेय के रूप में प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई और उसके फलस्वरूप

प्रेमचन्द के जीवन काल में ही 'परख' जैसा उपन्यास हमारे सामने आया जो ऐतिहासिकता और सामाजिकता की धूलि से सर्वथा ही मुक्त था। इस दृष्टि से मुझे लगता है कि 'परख' का स्थान आधुनिक उपन्यासों में वही है जो स्थान लाला श्रीनिवास दास के उपन्यास 'परीक्षा गुरु' का तत्कालीन पृष्ठभूमि में था। लाला श्रीनिवासदास के पहले जो कुछ भी कथा साहित्य प्राप्त था उसमें नायिकाओं की प्रधानता थी, प्रेम के सस्ते रोमांस की प्रधानता थी। 'परीक्षागुरु' में एक भी स्त्री पात्र नही है। लाला जी के लिए संसार में जीवन मे स्त्रियों का अस्तित्व है ही नहीं। इसी तरह हम देखते हैं 'परख' के लेखक के लिए सामाजिक इतिहास या सामाजिकता का कुछ भी अस्तित्व नही। जीवन में बस एक शाश्वत तत्व है और कहना नही होगा कि जो उपन्यास प्रेमचन्द जी की सामाजिकता से जिस अंश तक पिण्ड छुड़ा सके हैं उसी अंश तक उनमें कलात्मकता का विकास हो सका है। अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि शुद्ध उपन्यासों की रचना यदि ऐतिहासिकता और सामाजिकता के द्वारा हो तो इसके लिए एक बहुत बड़ी प्रतिभा की आवश्यकता है और यह प्रतिभा बहुत दुर्लभ होती है। हम तो हिन्दी के ऐतिहासिक तथा इतिहास प्रभावित उपन्यासों की प्रतिभा के प्रति श्रद्धावनत ही हैं जिन्होंने इतिहास की धूम-धाम के रहते हुए भी कलात्मकता की रक्षा की है।

उपन्यास अपने शुद्ध रूप को प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा है। उसके लिए कभी वह इतिहास का आधार लेना चाहता है, कभी आंचलिकता का, कभी आंतरिक प्रयाण का, कभी किसी पद्धति का तो कभी किसी पद्धति का और ये सारी बातें सम्मिलित रूप में हमारे कथा साहित्य की श्री वृद्धि कर रही हैं।

अन्य उपलब्धियाँ

यह तो हुई बात तीन श्रेणियों में विभाजित उपन्यासों के कलात्मक पहलू के सम्बन्ध में, अब प्रस्तुत प्रबन्ध की कुछ अन्य उपलब्धियों की भी चर्चा कर ली जाये। यहाँ कुछ कहने से पहले हम यह बतलाना उचित समझते है, जैसा कि प्रारम्भिक अध्याय में 'इतिहास क्या है' के अन्तर्गत कहा जा चुका है कि आज इतिहास की मान्यताएँ बदल चुकी हैं। इतिहास, जिसे राजाओ तक, उनके द्वारा लड़ी गयी लड़ाई तक सीमित रखा जाता था आज वह वाटर लू और पानीपत की लड़ाई से निकल कर जन साधारण के मध्य आ पहुँचा है। इसका यह अर्थ कदापि नही कि इस आधार पर उसकी पुरानी परिधि की उपेक्षा की जाये। नही। किन्तु कहना यही है कि आज जिस प्रकार की घटनाएँ वास्तव में इतिहास की निर्माणकर्त्री हैं, उनका स्वरूप एकदम ताजा होने से लोग उन्हें इतिहास की श्रेणी में रखने, न रखने की बात सोचकर असमंजस में पड़ते हैं किन्तु वास्तविकता यह है कि ये घटनाएँ और आन्दोलन जो आज जनसाधारण के सामूहिक चिन्तन और क्रिया-कलापों का परिणाम है, भविष्य में

इतिहास कहलाने वाली चीज का निर्माण कर रहे है। जो लोग आज इस सबको इतिहास कहते शकित होते है कल वे ही इसे इतिहास की शृंखला मे रखकर देखेगे। वस्तुत: यदि मैं यह कहूँ कि पहले इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तियो का होता था और आज जनसाधारण का हो गया है, पहले एक इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति के हाथो में ही इतिहास निर्माण की शक्ति थी और आज उस व्यक्ति के साथ उतनी ही शक्ति जनसाधारण के हाथ में भी है, आज का युग आन्दोलनों का है, हड़तालों का है तो कदाचित यह असंगत न होगा। आज के इतिहास में सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना का महत्वपूर्ण स्थान है। इस सम्बन्ध में इतिहास को लेकर विस्तृत विचार प्रथम अध्याय में व्यक्त किए गये हैं।

हिन्दी कथा साहित्य भारतीय इतिहास का रक्षक

हिन्दी कथा साहित्य का जो विवेचन हमने प्रस्तुत किया है उससे यह बात भली-भॉति स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी कथा साहित्य, भारत के सम्पूर्ण इतिहास को अपने आँचल में छिपाए है। 'इरावती' दिव्य और जययौधेय' उपन्यास भारत के अति प्राचीन इतिहास को अभिव्यक्त करते हैं तो 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चीवर' जैसे उपन्यास भी भारत के मध्यकालीन इतिहास के सशक्त किन्तु साथ ही यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हैं। इन दोनों उपन्यासों में आया इतिहास वर्धन वंश से सम्बन्धित है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री का उपन्यास 'सोमनाथ' गजनवी के भारत पर आक्रमण के समय के इतिहास का विशाल चित्र उपस्थित करता है तो वृन्दावन लाल वर्मा और प्रताप नारायण श्रीवास्तव के क्रमश: 'माधवजी सिंधिया' और 'बेकसी का मजार' उपन्यास 18 वी शताब्दी के इतिहास पर आधारित हैं। 'बेकसी का मजार' को छोड़कर शेष ऐतिहासिक उपन्यास भारत के प्राचीन इतिहास को अभिव्यक्त करते हैं। किन्तु साथ ही इन उपन्यासों में भारत के आधुनिक इतिहास की भी परोक्षरूप में अभिव्यक्ति हुई है। सन् 1857 की क्रान्ति पर आधारित उपन्यास 'बेकसी का मजार' प्राचीन और आधुनिक इतिहास के 'मध्य की कड़ी' माना जा सकता है जब कि प्रथम बार भारतीय स्वतन्त्रता के लिए विदेशियों से लड़ी गयी लड़ाई का प्रारम्भ हुआ।

प्रेमचन्द, भगवतीचरण वर्मा, रांगेयराघव, अच, नागर, गुरुदत्त, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, सेठ गोविन्ददास, अमृतराय, नागार्जुन, रेणु, शेवड़े, यशपाल, अज्ञेय, अश्क, राजेन्द्र यादव आदि के उपन्यासों के माध्यम से सन् 1885 से 1955-60 तक का सम्पूर्ण इतिहास अभिव्यक्त हो गया है। सेठ गोविन्ददास का 'इन्दुमती' उपन्यास तो सामाजिक होते हुए भी जैसे भारत के आधुनिक इतिहास (1916 से 1943 तक) का लेखा जोखा

ही प्रस्तुत करता है। यह अलग बात है कि इतिहास की यह अभिव्यक्ति चाहे प्रत्यक्ष रूप में हुई है चाहे परोक्ष रूप में, चाहे कथाकार स्वयं के द्वारा चाहे पात्रों के माध्यम से।

कुछ यही स्थिति हिन्दी कहानियों की भी है। कौशिक की 'विद्रोही', चतुरसेन शास्त्री की 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी', भगवती चरण वर्मा की 'मुगलों ने सल्तनत बख्श दी' कहानियाँ मुगलकालीन इतिहास के लघु चित्र उपस्थित करती है तो गुलेरी जी की 'उसने कहा था' कहानी के माध्यम से सन् 1916 के महायुद्ध का इतिहास बोलता है। प्रेमचन्द, अमृतराय, उग्र, अज्ञेय, अश्क और विद्यालंकार का क्रमशः 'जुलूस', 'अजीज मास्टर', 'उसकी माँ', 'छासा' टेबिल लेड, कहानियाँ भारत के आधुनिक युग के अहिंसात्मक और आंतकवादी इतिहास को अभिव्यक्त करने का प्रयास करती देख पड़ती हैं। मोहन राकेश, की 'मलवे का मालिक', राजेन्द्र यादव की 'तलवार पंच हजारी' और मार्कण्डेय की भूदान कहानी के माध्यम से, देश के विभाजन, नील की खेती और भूदान अन्दोलन का इतिहास बोलता है। इस प्रकार सन् 1857 की क्रान्ति, चम्पारन, खेड़ा सत्याग्रह, जालियाँवाला बाग का हत्याकाण्ड, असहयोग आन्दोलन, साइमन कमीशन, सविनय अवज्ञा, पिकेटिंग, नमक आन्दोलन, हरिजन आन्दोलन, द्वितीय महायुद्ध, क्रिप्स मिशन और 1942 की अगस्त क्रान्ति, देश का विभाजन, आजाद हिन्द फौज आदि प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं का इतिहास तो हिन्दी कथा साहित्य में उपलब्ध होता ही है साथ ही छोटी-छोटी घटनाएँ तक हिन्दी कथा साहित्य में चित्रित हो गयी हैं।

जिस प्रकार 'जेम्स जायस के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उन्होंने अपनी पुस्तकों में डबलिन शहर का ऐसा चित्र जगह-जगह उपस्थित किया है कि यदि किसी कारण से डबलिन शहर समाप्त हो जाए तो जेम्स जायस की किताब से उसका पुनर्निर्माण सम्भव होगा।'[1] उसी प्रकार मै भी यह कहने का दावा कर सकता हूँ कि यदि भारतीय इतिहास के रक्षक दस्तावेज और इतिहास ग्रन्थों का लोप हो जाय तो (हिन्दी कथा साहित्य तो कुछ अधिक ही होगा) मात्र हिन्दी उपन्यास साहित्य की ही सहायता से भारत के इतिहास को पुनः लिखा जा सकता है। इस दृष्टि से जहाँ एक ओर हिन्दी कथा साहित्य, इतिहास से सामग्री मिलने के कारण उसका ऋणी है वहाँ दूसरी ओर इतिहास भी हिन्दी कथासाहित्य का कम ऋणी नही है क्योंकि उसके आँचल में इतिहास का अस्तित्व सुरक्षित है। कथा साहित्य के विनष्ट होने पर इतिहास उसे नहीं जिला सकता, जबकि कथा साहित्य उसमें प्राण संचार ही नहीं कर सकता है अपितु उसे उसका स्वस्थ रूप प्रदान कर सकता है।

1. समसामयिक हिन्दी साहित्य : उपलब्धियाँ, सम्पादन—मन्मथनाथ गुप्त व अन्य पृष्ठ 79 (प्रथम संस्करण : 1967)

हिन्दी उपन्यास : कुछ अन्य पहलू

उपन्यासों में इतिहास की सुरक्षा को लेकर एक बात और भी कही जा सकती है और वह यह कि उपन्यास की सामर्थ्य इतिहास से कुछ अधिक होती है। इतिहास केवल जिस काल का होता है उसी की बात करता है किन्तु उपन्यास को कई वार इससे सन्तोष नहीं होता। जब उसका स्वरूप 'ऐतिहासिक' होता है तो वह एक ओर जहाँ काल विशेष पर आधारित कथानक के अन्तर्गत प्राचीन अथवा अति प्राचीन इतिहास को अभिव्यक्त कर सकता है वहाँ दूसरी ओर आधुनिक इतिहास को भी अभिव्यक्त करता है। किन्तु यह परोक्ष अभिव्यक्ति ही होता है इतिहास की इस परोक्ष अभिव्यक्ति को हम ध्वनित इतिहास भी कह सकते हैं। उसमें ध्वनित इतिहास की इस परोक्ष अभिव्यक्ति की झलक पाने के लिए पाठक को स्वयं मस्तिष्क पर जोर देना होता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'माधव जी सिंधिया' ऐसे ही उपन्यास है।

उपन्यास का यह शुक्ल पक्ष (Bright side) अर्थात् उजला पक्ष है। इतिहास के सन्दर्भ में ही इसके कृष्ण पक्ष (Dark side) या कहें निर्बल पक्ष पर भी विचार किया जा सकता है। इतिहास उपन्यासकार के लिए अनिवार्य नहीं है वैकल्पिक है, वह चाहे तो ग्रहण करे चाहे न करे। जब वह पूर्वनियोजित ढंग से इतिहास को आधार बनाकर चलता है तो उपन्यास शब्द के पूर्व 'ऐतिहासिक' लगाकर पाठक को उसमें इतिहास होने की ओर संकेत कर देता है। इधर अब तक कवि के निरंकुश होने की बात कही जाती थी किन्तु अब ऐसा लगता है कि उपन्यासकार या कथाकार उससे कही अधिक निरंकुश हो गया है, उस पर कोई पाबन्दी नही रह गयी है। आज वह उपन्यास के विस्तृत आँचल में इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीति शास्त्र, धर्म, अर्थ-शास्त्र आदि की पराई सामग्री को तो बाँध ही रहा है साथ ही अपने कुटुम्ब के कविता और नाटक, निबन्ध की सीमा में भी प्रवेश कर गया है। तब उपन्यासकार उपन्यास को 'सामाजिक उपन्यास' की संज्ञा देकर भी उसमें इतिहास की चर्चा, वह भी प्रत्यक्ष रूप में करे तो इसके लिए क्या कहा जाये। प्रेमचन्द ने भरसक प्रयास किया है कि वे पाठक को यह आभास न होने दें कि उनके उपन्यासों में इतिहास घुस आया है। इसीलिए गांधी की अहिंसा का, रंगभूमि के सूरदास के द्वारा प्रतिपादन करते है। जहाँ कहीं जमीदारी प्रथा और हरिजन आन्दोलन की बात प्रत्यक्ष रूप में आयी भी है तो वह पात्रों के माध्यम से कल्पना के आवरण में। सम्भवतः प्रेमचन्द समझते थे कि उपन्यास को सामाजिक कह कर उसमें प्रेमकथा या कोई अन्य दिलचस्प कथा सुनाने का लालच देकर पाठक को बीच-बीच में इतिहास पढ़ाना उसके साथ अन्याय होगा किन्तु अन्य कुछ कथाकार उन उपन्यासों में भी इतिहास की बात प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में करते हैं जो ऐतिहासिक नहीं भी हैं। इन्हीं उपन्यासों को हमने 'इतिहास प्रभावित' उपन्यास की

संज्ञा दी है। साहित्य समाज का दर्पण कहा जाता है और है भी। साहित्य, युग से राष्ट्र से समाज से प्रभावित होता ही है। अतः उपन्यासों में भी उसकी अज्ञात रूप से अभिव्यक्ति हो जाना स्वाभाविक है किन्तु जब उपन्यासकार यह सोचता है कि वह किसी भी कीमत पर या किसी कारण से इतिहास या किसी अन्य चक्कर में क्यों पड़े ? उसका ध्येय तो उच्चकोटि के उपन्यास का सृजन करना है तो फिर वह सब बातों को छोड़कर कलात्मकता की ओर झुकता है। किन्तु हिन्दी में ऐसे कलात्मक और उच्च-कोटि के उपन्यासों की उपलब्धि नहीं हो सकी है, आगे चलकर हो तो हो। हमारा हिन्दी का कलाकार, राष्ट्र समाज के इतिहास के मोह को तोड़ नही पाता, उस पर ज्ञात अज्ञात रूप से इस सबका प्रभाव रहता ही है। 'इतिहास मुक्त उपन्यास' अध्याय में ऐसे ही उपन्यासों का विवेचन किया गया है जो इतिहास के आग्रह से मुक्त होते हुए भी उसका थोड़ा बहुत स्पर्श कर ही गए हैं। जैनेन्द्र का 'त्यागपत्र' और उदयशकर भट्ट का 'सागर लहरें और मनुष्य' अवश्य उसके अपवाद हैं।

उपन्यासकार पर सचमुच कोई प्रतिबन्ध होता ही नहीं। वह कल्पित घटनाओं को 'यथार्थ' घोषित करता है तो कभी यथार्थ घटनाओं को कल्पित मानने का अनुरोध पाठकों से करता है। बाणभट्ट की आत्मकथा को, मिस कैथराइन द्वारा शोणनन्द की यात्रा के दौरान मिली पाण्डुलिपि बतलाकर पाठकों पर उसकी यथार्थता का सिक्का बैठालने की चेष्टा की गयी है तो 'त्यागपत्र' में जैनेन्द्र जी ने मिस्टर 'दयाल' के कागजो में उपलब्ध अंग्रेजी में लिखित सामग्री का हिन्दी उल्था कहकर ऐसा ही प्रयास किया है। इधर गुरुदत्त, 'स्वाधीनता के पथ पर' उपन्यास में सब कुछ कल्पित बताते है जब कि उसके कथानक में 70 से 80 प्रतिशत तक भारत के आधुनिक इतिहास के चित्र मिलते हैं। यथार्थ जीवन से प्रसिद्ध व्यक्तियों की कारगुजारी को चुनकर उपन्यास के कल्पित पात्र के क्रियाकलापों के रूप में रखना तो आम बात हो रही है। रंगभूमि का सूरदास, सोफिया, ज्वालामुखी का अभयकुमार 'बयालिस' के सर भगवान सिंह जमींदार तथा 'उखड़े हुए लोग' के देबन्धु जैसे पात्र क्रमशः व्यक्ति और 'टाइप' रूप में इसी आधार पर चुने गए हैं।

प्रेमचन्द के पूर्व कथा साहित्य में पात्रों का चयन कुछ और ढंग का था। प्रेमचन्द और उनके बाद के उपन्यासों में यह ढंग बदल गया है। पहले की अपेक्षा बाद के उपन्यासों में जितना महत्व पुरुष पात्रों को दिया गया है उतना ही नारी पात्रों को भी। पुरुषों के समान नारियों का आन्दोलन में भाग लेना, कही-कहीं क्रान्तिकारी दलों में शामिल हो जाना असहयोग आन्दोलन और 'सविनय अवज्ञा' में सक्रिय रहना, इस बात का प्रमाण है। क्रान्ति के पहलू को छोड़कर शेष प्रभाव गांधी जी की अहिंसा नीति का है। हिन्दू पात्रों के साथ मुस्लिम पात्रों का सहयोग इन उपन्यासो में रहना

और हिन्दू पात्रों से सहयोग करना भी एक प्रकार से इतिहास का ही प्रभाव है। इस के अतिरिक्त, जो एक अन्य सामान्य बात हिन्दी कथा साहित्य में पायी जाती है वह यह कि जहाँ देशी रियासतों और उनके राजाओं, जमीदारों आदि का चित्रण मिलता है वहाँ यह अवश्य देखने को मिलता है कि जहाँ वे स्वयं विदेशी सत्ता की कठपुतली के रूप में कार्य करते हुए भारतीय स्वाधीनता संग्राम की लड़ाई को असफल करने का प्रयास कर रहे है तो उनकी पत्नियाँ, उनके पुत्र, पुत्रियाँ उन्हीं के विरुद्ध विदेशी सत्ता के विरुद्ध, देश की स्वाधीनता की लड़ाई में सहयोग दे रहे होते है। 'रंगभूमि' टेढे-मेढ़ रास्ते' 'नई इमारत' और 'ज्वालामुखी' हमारे इस कथन के प्रमाण हैं। इस प्रकार की जो मनोवृत्ति पात्रो मे देखने को मिलती है वह भी इतिहास का ही प्रभाव कहा जाएगा। इस सम्बन्ध मे उपन्यासो के विवेचन के समय प्रकाश डाला जा चुका है।

□□□

सन्दर्भ सामग्री

(क) हिन्दी उपन्यास

इरावती	जयशंकर प्रसाद
जय यौधेय	राहुल सांस्कृत्यायन
दिव्या	यशपाल
बाणभट्ट की आत्मकथा	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
चीवर	रांगेय राघव
सोमनाथ	चतुरसेन शास्त्री
बेकसी का मजार	प्रतापनारायण श्रीवास्तव
माधव जी सिंधिया	वृन्दावनलाल वर्मा
शशांक	राखाल दास बॅंद्योपाध्याय (अनुवादक : रामचन्द्र शुक्ल)
झांसी की रानी लक्ष्मीबाई	वृन्दावनलाल वर्मा
प्रेमाश्रम	प्रेमचन्द
रंगभूमि	प्रेमचन्द
कर्मभूमि	प्रेमचन्द
गोदान	प्रेमचन्द
टेढ़े मेढ़े रास्ते	भगवती चरण वर्मा
विषाद मठ	रांगेय राघव
नई इमारत	रामेश्वर शुक्ल अंचल
बयालिस	प्रतापनारायण श्रीवास्तव
महाकाल	अमृतलाल नागर
स्वाधीनता के पथ पर	गुरुदत्त
इन्दुमती	सेठ गोविन्ददास
बीज	अमृतराय
बाबा बटेसर नाथ	नागार्जुन
मैला आँचल	फणीश्वरनाथ रेणु
ज्वाला मुखी	अनन्तगोपाल शेवड़े

झूठासच	यशपाल
त्यागपत्र	जैनेन्द्र
शेखर : एक जीवनी	अज्ञेय
डूबते मस्तूल	नरेश मेहता
बडी-बड़ी आखें	उपेन्द्र नाथ अश्क
सागर लहरें और मनुष्य	उदयशंकर भट्ट
उखड़े हुए लोग	राजेन्द्र यादव

(ख) हिन्दी कहानियाँ

विद्रोही (हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियाँ संग्रह से)	विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक
दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी	चतुरसेन शास्त्री
मुगलों ने सल्तनत बख्श दी (आधुनिक हिन्दी कहानियाँ संग्रह से)	भगवतीचरण वर्मा
उसने कहा था (यथार्थ और कल्पना संग्रह से)	चन्द्रधर शर्मा गुलेरी
जुलूस (समरयात्रा-संग्रह से)	प्रेमचन्द
अजीज मास्टर (इतिहास-संग्रह से)	अमृतराय
उसकी माँ (यथार्थ और कल्पना संग्रह से)	पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'
छाया (कड़ियाँ और अन्य कहानियाँ संग्रह से)	अज्ञेय
काम काज (यथार्थ और कल्पना-संग्रह से)	चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
टे बिललैण्ड (यथार्थ और कल्पना-संग्रह से)	उपेन्द्रनाथ अश्क
मलवे का मालिक (स्वतन्त्रता के बाद की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ संगह से)	मोहन राकेश
तलवार पंचहजारी (स्वतन्त्रता के बाद की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ संग्रह से)	राजेंन्द्र यादव
भूदान (स्वतन्त्रता के बाद की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ संग्रह से)	मार्कण्डेय

(ग) आलोचनात्मक ग्रन्थ

अनुसन्धान का विवेचन	डॉ० उदयभानु सिंह
हिन्दी के स्वीकृत शोध प्रबन्ध	

शोध प्रक्रिया एवं विवरणिका	डॉ० सरनाम सिंह शर्मा
प्रेम चन्द : कुछ विचार	
साहित्यालोचन	श्यामसुन्दर दास
आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान	डॉ० देवराज उपाध्याय
हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास	डॉ० प्रताप नारायव टण्डन
हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास	डॉ० कान्ति वर्मा
हिन्दी उपन्यास का अध्ययन	डॉ० एस० एन० गणेशन
हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद	डॉ० त्रिभुवन सिंह
कथा के तत्व	डॉ० देवराज उपाध्याय
हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और विवेचन	सम्पादित
हिन्दी उपन्यास में चरित्र चित्रण का विकास	डॉ० रणवीर रांग्रा
इतिहास और साहित्य	डॉ० ताराचन्द
हिन्दी शब्द कोश	नागरी प्रचारिणी सभा
साहित्य और साहित्यकार	डॉ० देवराज उपाध्याय
वृन्दावनलाल वर्मा, साहित्य और समीक्षा	सियारामशरण प्रसाद
काव्य के रूप	गुलाब राय
हिन्दी उपन्यास साहित्य का समाज शास्त्रीय अध्ययन	डॉ० चण्डीप्रसाद जोशी
आधुनिक हिन्दी साहित्य	डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष	शिवदान सिंह चौहान
ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार	डॉ० गोपीनाथ तिवारी
चिन्तामणि : भाग 1	रामचन्द्र शुक्ल
प्रसाद की कला	गुलाब राय
हिन्दी उपन्यास	शिवनारायण श्रीवास्तव
प्रेमचन्द घर में	शिवरानी देवी
प्रेमचन्द : एक अध्ययन	राजेश्वर गुरु

प्रेमचन्द और गोर्की	शचीरानी गुर्टू
प्रेमचन्द : जीवनकला और व्यक्तित्व	हंसराज रहबर
प्रेमचन्द : व्यक्तित्व और कृतित्व	शचीरानी गुर्टू
प्रेमचन्द : चिंतन और कला	डॉ० इन्द्रनाथ मदान
हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और समीक्षा	डॉ० मक्खनलाल शर्मा
समसामयिक हिन्दी साहित्य : उपलब्धियाँ	(सम्पादित) मन्मनाथ गुप्त व अन्म
जैनेन्द्र : व्यक्तिन्व और कृतित्व	(सम्पादित) मत्यप्रकाश मिलिन्द
हिन्दी उपन्यास	सुषमा धवन
प्रतिक्रियाएँ	डॉ० देवराज
हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास	डॉ० सुरेश सिन्हा
हिन्दी में आंचलिक उपन्यास	राधेश्याम कौशिक
आधुनिक साहित्य	पं० नन्ददुलारे बाजपेयी
हिन्दी नाटकों और उपन्यासों पर पाश्चात्य प्रभाव	विश्वनाथ मिश्र
कृति और कृतिकार	डॉ० सरनामसिंह शर्मा
आधुनिक हिन्दी कहानी	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल
बापू के कदमों में	डॉ० राजेन्द्र प्रसाद
हंसा जाइ अकेला	मार्कण्डेय
हिन्दी कहानी की रचना प्रक्रिया	डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव
हिन्दी साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन	डॉ० देवराज उपाध्याय
कथा के तत्व	डॉ० देवराज उपाध्याय

(घ) अन्य

चन्द्र गुप्त	जयशंकर प्रसाद (नाटक)
वीर सतसई	सूर्य्यमल मिश्रण (काव्य)
रामचरित मानस	गोस्वामी तुलसीकास (काव्य)
भारत की अर्थ व्यवस्था	एस० सी० तेला व अन्य (अर्थशास्त्र)
आलोचना	उपन्यास अंक (पत्रिका)

(ङ) आलोचनात्मक ग्रन्थ (अंग्रेजी) आदि

Encyclopedia–Americana	Volume 20
The Quest of Literature	G. J. Shipley

The English Novel : A Penorama.	Lionel Stevenson.
American Writing in Twentieth Century.	Willard Throp.
An age of Fiction.	Germaince Bree Margret Guition.
Some Principles of Fiction.	Robert Liddle.
The Tripple Thinkers	Edmund Wilson.
English History in English Fiction.	Sir Jhon Marriott.
Comprehensive English-Hindi Dictionary.	Dr. Raghuveer.
The Columbia Encyclopedia.	2nd Edition 1950.
Style in the French Novel.	S. Ullmann.
Modern Fiction.	Muller.
Twentieth Century Novel.	J. W. Beach.
Technic of The Modern Novel	Shishir Chattopadhyaya
The Modern Writer and His World.	G. S. Fraser.
Society and Self in the Novel	(Edited) Mark Schorer
Tendencies of the Modern Novel.	Hugh Walpole & others.
Art of the Novel.	Henry James.

(च) इतिहास

इतिहास दर्शन	डॉ० बुद्ध प्रकाश
विश्व इतिहास कोश (द्वितीय खण्ड)	चन्द्रराज भण्डारी
भारतीय इतिहास का परिचय	राजबलि पाण्डेय
कांग्रेस का संक्षिप्त इतिहास	डॉ० पट्टाभि सीतारमैय्या
भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन और संवैधानिक विकास	डा० विमलेश एवं आनन्दचन्द्र, भण्डारी
भारत का संविधानिक विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास	रवीन्द्रनाथ मिश्र
भारत का राजनैतिक इतिहास	राजकुमार

भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास — मन्मथनाथ गुप्त
भारतीय इतिहास — डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन
मध्यकालीन भारत — स्टेनले लेनपूल (मूल लेखक)
नेहरू ही क्यों — डॉ० शरदचन्द्र जैन
भारत के क्रान्तिकारी — मन्मथनाथ गुप्त
मेरी कहानी — जवाहरलाल नेहरू
साहित्य शिक्षा और संस्कृति — डा० राजेन्द्रप्रसाद

(छ) इतिहास (अंग्रेजी)

Teaching of History — Henry Johnson
Historians of India Pakistan and Cylone — C. H. Phillips
The Idea of History — R. G. Collingwood
A study of History (Abridgement) — A. J. Toynbee, D. C. Somervell
India wins freedon — M. A. Azad
India Today — R. P. Dutta
The last days of British Raj — Leonard Mosley
Dictionary of Indian History — Sacchidanand Bhattacharya (1967)
What is History — E. H. Carr
Philosophy of History — W. H. Walsh